वैदिक इन्द्रोपाख्यान का उद्भव एवं विकास
एक समीक्षात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

इन्दुप्रकाश मिश्र

एम० ए० (संस्कृत)

निर्देशक

डॉ०राजेन्द्र मिश्र

पूर्व प्रवाचक, संस्कृत - विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सम्प्रति

आचार्य एवं अध्यक्ष (संस्कृत विभाग)
हिमाचल प्रदेश वि० वि० शिमला - ५

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
अगस्त, १९९२

"आत्मनिवेदन"
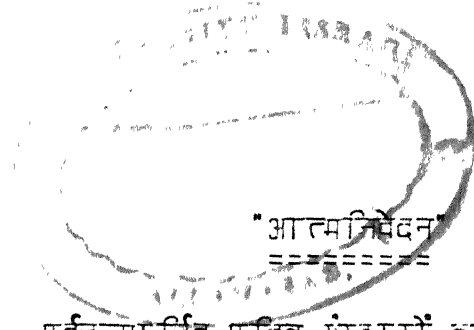
पूर्वजन्मार्जित पवित्र संस्कारों का ही परिणाम था कि एक ऐसे कुल में जन्म मिला जो कई पीढ़ियों से सुरभारती का उपासक तथा सदाचरण का निकष था। परदादा पं० रामानन्द मिश्र तथा दादा पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र भगवती योगमाया के निष्ठावान् उपासक तथा संस्कृतानुरागी थे। कुलभूषण दादा प्रो० डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र (सेवानिवृत्त संस्कृतविभागाध्यक्ष एवं कुलपति इलाहाबाद वि०वि०) पितृचरण डॉ० देवेन्द्र मिश्र तथा पितृव्यचरण अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र एवं आचार्य सुरेन्द्र मिश्र - सबके सब देववाणी के निष्ठावान् सेवक तथा लोकप्रिय मनीषी हैं। ऐसे विद्यानुरागी वंश में उत्पन्न होकर यदि मैंने संस्कृत में एम०-ए० किया तो यह मेरी नियति के अनुकूल ही था। परन्तु यह मेरा ऐहलौकिक सौभाग्य भी था।

उच्चशिक्षार्जन पूज्य पितृव्य डॉ० राजेन्द्रमिश्र के वात्सल्यपूर्ण संरक्षण में सम्पन्न हुआ। अभिराज डॉ० राजेन्द्रमिश्र - संस्कृत हिन्दी तथा भोजपुरी काव्यजगत् में एक ऐसा स्निग्ध नाम, कवित्व एवं वैदुषी का एक ऐसा मंजुल समन्वय, उ० प्र० संस्कृत अकादमी, म० प्र० शासन तथा साहित्यअकादमी पुरस्कारों की सत्पात्रता का एक ऐसा निर्विवाद मानक -. जिसके विषय में कुछ भी परिचयसूत्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा नहीं। उन्हीं श्रद्धेय पितृव्य एवं गुरूवर्य के निर्देशन में, उन्हीं द्वारा निर्दिष्ट विषय पर शोधकार्य करने का अवसर भी मिला।

परन्तु शोधकार्य की भूमिका बनते ही बनते डॉ० मिश्र भारत सरकार के आमंत्रण पर दो वर्ष के लिये उदयन यूनिवर्सिटी डेनपसार, बालीद्वीप (इण्डोनेशिया) चले गए "विजिटिंग प्रोफेसर" के पद पर नियुक्त होकर। मेरा अभियान जहाँ का तहाँ पड़ा रह गया। मेरी आस्था और निष्ठा पूज्य पितृव्य के ही निर्देशन में शोधकार्य करने की थी फलतः मैं भी उनके लौटने की प्रतीक्षा में स्वाध्याय करता रहा। देश-विदेश में विख्यात एक महाकवि के प्रभामण्डल में वर्षों से रहते-रहते कविता का रोग तब तक मुझे भी लग गया था। फलतः पितृव्यचरण के विदेशप्रवास की अवधि (मई 87 से अप्रैल 89 तक) में थोड़ा-बहुत स्वाध्याय तथा घरेलू दायित्वों का निर्वाह करते रहने के साथ ही साथ मैं अपनी साहित्यिक-साधना में भी लगा रहा।

पितृव्यचरण के भारत लौट आने तक मैं शोधविषय की सामग्री प्रायः एकत्र कर चुका था । अब विधिवत् प्रवेश लेकर अपने कार्य में दत्तचित्त हो गया । परन्तु अभी भी मेरा मार्ग पूर्ण प्रशस्त नहीं था । अपने निर्देशक की संगति में वर्ष भर भी नहीं बीते थे कि वह फिर मुझसे दूर हो गये – परन्तु अबकी बार विदेश में नहीं , स्वदेश में ही । 22 जनवरी 1992 ई० को उन्होंने हि० प्र० वि० वि० शिमला में संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं आचार्यपद का दायित्व ग्रहण किया और मैं पुनः उनके द्वारा निर्दिष्ट परिक्रमा-पथ पर यात्रा करने लगा ।

परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनी कि मार्च 1991 ई० में जीवन के एक नये आश्रम (गार्हस्थ्य) में प्रवेश हुआ । अब मैं अनुसन्धाता छात्र कम , गृहस्थ अधिक था । परन्तु इन्हीं दशा-परिवर्तनो के साथ-साथ मेरा शोधकार्य भी पूर्णता की ओर अग्रसर होता रहा । शोधप्रबन्ध का यथामति आलेख सम्पन्न कर मैं पितृव्यचरण के पास शिमला पहुंचा तथा कुछ महीने वहां रहकर उसे अन्तिम रूप दे सका ।

एक लम्बी तपस्या तथा प्रत्यवायबहुल यात्रा के बाद आज अपनी मंजिल तक आ पहुंचा हूँ । यात्रान्त , साधुवाद , आशीर्वाद मिलना तो अभी भी बाकी है । फिर भी , इस विन्दु तक पहुंचकर स्वयं को परम सौभाग्यशाली अनुभव कर रहा हूँ ।

मेरी कुलपूज्या हैं मेरी देवीस्वरूपा दादी – अभिराजी देवी । मेरे पिताश्री , दोनो पितृव्य (डॉ० राजेन्द्र मिश्र एवं आचार्य सुरेन्द्र मिश्र) तथा समूचा परिवार उन्हीं ममतामयी की त्याग-तपस्या से योग-क्षेम का अनुभव कर रहा है । पितृव्यचरण अभिराज-राजेन्द्र" के अभिराज कहे जाने का कारण भी वही हैं । उन्हीं की गोदी में पलकर बड़ा हुआ हूँ । अतः सर्वप्रथम उन्हीं को अपने हृदय की अतल गहराइयों से निकले विनम्र प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ ।

शोधप्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत कर पाने की सामर्थ्य जिनकी सारस्वत-छाया में मिली उन श्रद्धेय गुरुवर्य तथा पितृव्य डॉ० राजेन्द्रमिश्र के प्रति , औपचारिक प्रतीत

प्राप्त कीं । उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय का भी मैंने भरपूर उपयोग किया । डॉ० मिश्र के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । भूगोल विभागाध्यक्ष डॉ० हरिकेश मिश्र जी के प्रति भी विनत हूँ उनकी शुभकामनाओं के लिये ।

जिन विद्वज्जनों के ग्रंथों का पारायण कर यह शोधप्रबन्ध लिख सका हूँ उनके प्रति सर्वात्मना कृतज्ञ हूँ । यदि मेरे इस पिपीलक-प्रयास से संस्कृत-वाङ्मय की तिल भर भी श्रीवृद्धि हुई तो मैं अपना जन्म सार्थक समझूंगा ।

जन्माष्टमी
21 अगस्त 1992 ई०

विद्वत्कृपाकांक्षी

इन्दुप्रकाश मिश्र
इन्दु प्रकाश मिश्र

-0-0-0-

विषयानुक्रमणिका

इन्द्रधनुष् , ऐन्द्रास्त्रम् , इन्द्रायणम् , इन्द्रासनम्,
इन्द्रप्रस्थः , इन्द्रशत्रुः, ऐन्द्री, इन्द्राक्षीस्तोत्रम् ,
इन्द्रर्षिः, इन्द्रजा , इन्द्रवंशा , इन्द्रपौर्णमासी ,
इन्द्रनीलमणिः , इन्द्रगोपः , इन्द्रजित्, इन्द्रवर्मा,
इन्द्रवाहः ।

3. इन्द्रपद की गरिमा - 183

इन्द्रकाल्पनिक नहीं ।

प्रमुख पौराणिक इन्द्रोपाख्यान - 193

मरुत्, रंभा , उर्वशी, मेनका , घृताची , प्रम्लोचा,
संवर्त, कुबेर , परावसु , बृहस्पति, पुलोमा, अनंग, अर्जुन,
उदारधी, गोविन्द , तक्षक, तिलोत्तमा, हेमा , तारक,
हरिश्चन्द्र , सव्य , सुरावती , सुशान्ति, मनोजव, पुरन्दर,
शिवि , शुकदेव , विद्युत्प्रभ , मार्कण्डेय , महानाभ, मान्धाता,
देवसेना, भुवनेश्वरी , भगदत्त, प्रमति, पृथ्वी, उपरिचर,
अवधूतपति, च्यवन, रजि, वज्रांग, वज्रनाभ, वत्सनाभ, वपुष्टमा,
वपु, वामन , शरभंग, मैनाक, रम्भ-करम्भ, त्रिपुरारि शिव,
पञ्चपाण्डव , हिरण्यनाभ, भौमासुर, नमुचि, जलन्धर ,
गुणकेशी, गाधि, दशरथ, ऋषभदेव , राम , दुर्वासा, आत्रेय ,
कृपाचार्य , और्व , गायत्री, मतंग, उत्तंक, हनुमान् , मेघनाद,
माण्डव्य , सगर , गरुड ।

1. इन्द्र एवं नहुष

2. इन्द्र एवं अहल्या

3. इन्द्र एवं श्रीकृष्ण

श्रीमद्भागवत में इन्द्रप्रसंग (गोवर्धनपूजा)

विष्णुपुराण में इन्द्रप्रसंग (पारिजातहरण)

हरिवंशपुराण में इन्द्रोपाख्यान

-o-o-o-

प्रथम अध्याय : विषयप्रवेश

विषय-प्रवेश

वेद सम्पूर्ण विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है । एक दृष्टि से हम इसे भारतवर्ष की सीमा में रहने वाले आर्यजनों का धर्मग्रन्थ कह सकते हैं, ठीक उसीप्रकार जैसे - पवित्र बाइबिल खिस्तमतावलम्बियों का, कुरान मुस्लिमों का तथा अवेस्ता पारसीकों का धर्मग्रन्थ है । इतना साम्य होनें पर भी वेद की विलक्षणतायें उसे अन्य समस्त धर्मग्रन्थों से पृथक् कर देती है क्योंकि अन्यान्य धर्मग्रन्थों की तरह वेद केवल आचार-संहिताओं तथा देशनाओं का संकलन मात्र नहीं है प्रत्युत हम उसे रहस्यात्मक दैवी अनुभूतियों, पुराकथाओं तथा नानाप्रकार की दार्शनिक चिन्तनधाराओं का विशाल भण्डार मान सकते हैं ।

वेदमंत्रों की प्राचीनता, रहस्यमयता तथा नानार्थता को विदेशी विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है[1] । इसका प्रमाण है विभिन्न दिशाओं में जानेवाले वेदमंत्रों पर लिखे गये भिन्नकालिक, भिन्नकर्तृक तथा भिन्नाभिप्राय भाष्य । जहां भारत में आचार्य उव्वट, महीधर, सायणाचार्य, स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव ने वेदमंत्रों के स्वाभिमत भाष्य लिखे, वहीं गेल्डनर, ग्रिफिथ तथा मैकडानल जैसे पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी वेदमंत्रों की व्याख्यायें कीं । निश्चय ही उपर्युक्त समस्त विद्वानों के वेदार्थ एक-दूसरे से मेल नहीं खाते, विभिन्न अभिप्रायों को प्रकट करते हैं । फिर भी यह कहना कठिन है कि अमुक भाष्यकार का अभिप्राय ही युक्तियुक्त है, दूसरे का नहीं उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने तो वेदमंत्रों की एक अभूतपूर्व "इतिहास-विरहित" व्याख्या प्रस्तुत की । परन्तु स्वामी दयानन्द के भाष्य की सार्थकता का भी अपलाप नहीं किया जा सकता ।

इसप्रकार वेदमंत्रों की भाषा को भारतीय परम्परा में कामदुहा माना जाता है । जैसे - कामधेनु मनोनुकूल वाञ्छित पदार्थ देने में समर्थ है उसीप्रकार वेद के रहस्यात्मक मंत्र भी, किसी भी विद्वान् व्याख्याकार को मनोवाञ्छित अभिप्राय दे सकने में समर्थ हैं

---

1. If we wish to learn the beginnings of our own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European culture, We must go to India, where the oldest literature of an Indo-European people is preserved
   - M Winternitz

सम्पूर्ण भारतीय-वाङ्मय इसीलिए वेदमूलक माना जाता है । स्मृतियाँ वेदार्थ का ही अनुगमन करती हैं । महाकवि कालिदास रघुवंश महाकाव्य में कहते हैं - रानी सुदक्षिणा नन्दिनी के मार्ग का अनुसरण उसीप्रकार करती थीं जैसे - स्मृतियाँ श्रुति के अभिप्राय का अनुसरण करती हैं ।[1] महाकवि माघ ने भी शिशुपालवध में कृष्ण की रैवतकयात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि - बादल उसीप्रकार सागर से जल ग्रहण कर रहे थे जैसे - स्मृतियाँ वेदों से अभिप्राय ग्रहण करती हैं ।[2] परवर्ती संस्कृत-वाङ्मय में इस आशय के हजारों उद्धरण उपलब्ध हैं जिनमें कि वेदों को ही सम्पूर्ण ज्ञानवृक्ष का मूल स्वीकार किया गया है । "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" तथा "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" आदि सुभाषित भी उपर्युक्त आशय की पुष्टि करते हैं ।

वेद शब्द का अभिप्राय

वेद शब्द का निर्वचन स्वयमेव उसके विस्तृत अभिप्राय का बोधक है । विद्वानों ने नानाप्रकार से वेदशब्द की व्याख्या की है । कुछ विशिष्ट व्याख्यायें प्रस्तुत की जा रही हैं जिनसे वेद एवं वेदार्थ के विस्तार का बोध होता है -

§1§ एक प्राचीन उद्धरण के अनुसार क्रियमाणवाची मंत्र ही को वेद कहते हैं - मंत्रस्तुवेदः क्रियमाणवाची ।

§2§ आचार्य यास्क के मतानुसार - मंत्र और ब्राह्मण को ही समन्वित रूप से वेद कहते हैं - मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।

§3§ आचार्य डल्हण[3] के मतानुसार विद् धातु में घ प्रत्यय लगाने से पुंल्लिङ्ग वेद शब्द बनता है । वेद शब्द का अर्थ है - ज्ञान।अतएव जिन ग्रन्थों द्वारा मनुष्यों को सत्यविद्या का ज्ञान होता है उन्हें वेद कहते हैं ।

---

1. मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी
   श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।। रघुवंश, 2.

2. उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः ।
   आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम् ॥ शिशु० 3 75

3. विद् ज्ञाने, विद् सत्तायां, विदॢ लाभे, विद् विचारणे - एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घ- प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते ।

§4§ कौषीतकि-गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र , पूर्वमीमांसा तथा अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थों में भी मंत्र और ब्राह्मण को ही वेद माना गया है । आचार्य मेधातिथि , षड्गुरुशिष्य तथा महर्षि पतञ्जलि ने भी मंत्र और ब्राह्मण को ही वेद स्वीकार किया है ।

§5§ तैत्तिरीय-संहिता 1/4/20 में वेदशब्द की व्याख्या इसप्रकार प्रस्तुत की गई है – वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त । तद् वेदस्य वेदत्वम् । अर्थात् असुरों के अन्वेषणीय वित्त को देवताओं ने वेद के ही माध्यम से जाना । यही वेद का "वेदत्व" है ।

§6§ तैत्तिरीय-ब्राह्मण 3/3/8/10 में कहा गया है कि – वेदों के द्वारा ही देवताओं ने पृथ्वी का ज्ञान प्राप्त किया , इसीलिए उसे वेद कहते हैं – वेदिर्देवेभ्यो निलायत । तां वेदेन अन्वविन्दन् । वेदेन वेदिं विविदुः पृथ्वीम्

§7§ आचार्य सायण के ऋग्वेद-भाष्य में वेदों को ईश्वर का निःश्वास कहा गया है – यस्य निःश्वसितम् वेदाः । वस्तुतः सायण का यह मत बृहदारण्यकोपनि पर आधारित है ।[1]

§8§ महाभारतकार ने विष्णुसहस्रनामस्तोत्र के अन्तर्गत वेद को परमात्मा का ही पर्याय माना है –

"वेदोवेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित् कविः ।"

§9§ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदशब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है –

विदन्ति , जानन्ति , विद्यन्ते भवन्ति , विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते , विदन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः ।

अमरकोश[2] , हलायुधकोश तथा मेदिनीकोश आदि में भी वेदशब्द की विस्तृत व्याख्या की गई है । इन व्याख्याओं में ब्रह्मा के मुख से निर्गत धर्मज्ञापक शास्त्र को ही श्रुति कहा गया है । श्रवण-परम्परा से रक्षित होने के कारण भी वेद को श्रुति कहा गया है ।

---

1. एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । बृहदारण्यकोप0 2.4.20

2. श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः ।। अमरकोष ।
श्रूयते इति श्रुतिः । विदन्त्यनेन धर्मं वेदः । आम्नायते §म्ना अभ्यासे, घप्रत्यय, इति आम्नाय । त्रयोऽवयवा यस्याः सा त्रयी । त्रय्या धर्मस्त्रयीधर्मः ।

वेदत्रयी एवं वेदचतुष्टयी

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि वेद तीन हैं अथवा चार ? यदि भगवान् कृष्णद्वैपायन ने ही वेद की एक संहिता को ऋक्, यजुष् एवं साम में त्रिधा विभक्त किया तब फिर उन पौराणिक विवरणों की क्या सार्थकता होगी जिनमें यह कहा गया है कि भगवान् व्यास ने पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु एवं जैमिनि को क्रमशः चारों वेदों की शिक्षा दी ?

वस्तुतः प्राचीनतम उद्धरणों में वेद की "त्रयी" का ही उल्लेख मिलता है -

(1) ऋग्वेद 10-90-9 में स्वयं विराटपुरुष के वर्णन-सन्दर्भ में तीन ही वेदों का उल्लेख है - तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।

(2) मनुस्मृति में भी स्पष्टतः कहा गया है कि अग्नि, वायु एवं सूर्य ने तपोबल से क्रमशः ऋक्, यजुष् एवं साम (वेद) को प्राप्त किया -

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम् ।। मनु0 2-23

(3) मनु के ही मत की पृष्ठभूमि हम शतपथ-ब्राह्मण में भी पाते हैं -

तेभ्यः सप्तभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ।
अग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ।। शतपथ0 11-520-3

(4) मार्कण्डेयपुराणांशभूता दुर्गासप्तशती में भी भगवती को "त्रयीरूपा" ही कहा गया है -

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्ता च सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ।।दुर्गा0 अ04

(5) त्रयी के सन्दर्भ में उपलब्ध ये वैदिक एवं पौराणिक साक्ष्य अविच्छिन्न रूप से सातवीं शती ई0 तक प्राप्त होते हैं, जिसका प्रमाण है बाणभट्ट-प्रणीत कादम्बरी का मंगलाचरण ।

अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ।।१

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदमंत्रों की मूलप्रकृति ऋक् , यजुष् एवं साम ही थी । जैमिनीयसूत्र में इन तीनों को परिभाषित करते हुए कहा गया -

1. तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (जैमि0 2-1-35)
2. गीतिषु सामाख्या (जैमि0 2-1-36)
3. शेषे यजुश्शब्दः (जैमि0 2-1-37)

इसप्रकार वेदमंत्रों के त्रैविध्य के ही कारण उसे "त्रयी" कहा गया ।

वेदत्रयी के साथ अथर्ववेद की भी गणना करने पर उसे 'चतुष्टयी' की संज्ञा मिली । परन्तु अथर्ववेद वेदमंत्रों की किसी प्रकृति (जैसे ऋक् , यजुष् एवं साम) को संकेतित नहीं करता । बल्कि वह एक ऋषिविशेष "अथर्वा" के नाम पर आधारित है । कभी-कभी उसे समन्वित रूप से "अथर्वाङ्गिरस-संहिता" भी कहते हैं ।

त्रयी के मंत्र आमुष्मिक फल देने वाले हैं परन्तु अथर्ववेद ऐहिक-फल देता है । इस आशय की व्याख्यायें भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं । अथर्ववेद के मंत्र मारण, मोहन, उच्चाटन , विद्वेषण, विषापहार, राष्ट्र, धर्म , संस्कृति , विश्वशान्ति , सर्वोदय तथा पृथ्वीमंगल जैसे सांसारिक विषयों से सीधे जुड़े हैं । फलतः ऋक् , यजुष् एवं साम की प्रकृति से पृथक् होते हुए भी उनका महत्त्व किसी माने में कम नहीं है ।

निरुक्त 11-2-16 तथा गोपथ-ब्राह्मण 1=4 में अथर्व शब्द की रोचक व्याख्या मिलती है । थर्व् धातु हिंसा एवं कौटिल्यवाची है । अतः अथर्वन् का तात्पर्य है - अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति (ऋषिविशेष) इस भाव की पुष्टि अथर्ववेद के 6-2 तथा 20-2-26/28 संख्यक मंत्रों से भी हो जाती है । यही महर्षि अथर्वा चतुर्थ वेद के व्यवस्थापक हैं ।

इसप्रकार त्रयी एवं चतुष्टयी - दोनों के ही पक्ष में प्रभूत प्रमाण मिलते हैं । अवान्तरकाल में त्रयी शब्द "ऋक्-यजुष् तथा साम" के अर्थ में नहीं, प्रत्युत चारों वेदों के अर्थ में रूढ़ हुआ सा दृष्टिगोचर होता है ।

---

1 द्रष्टव्य अथर्ववेद 20 2·26 एवं 28

अथर्ववेद के प्रमाणानुसार इस वेद का ज्ञान सर्वप्रथम महर्षि अंगिरा को प्राप्त हुआ था । इस तथ्य का समर्थन मनु भी करतें हैं -

अथर्वाङ्गिरसो मुखम् । अथर्व0 10-7-20

अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।। मनु0 2-151

परन्तु यह एक विचित्र "वदतोव्याघात" प्रतीत होता है कि अहिंसा एवं अकुटिलता से मनश्शान्ति पाने वाला ऋषि ऐसे किसी वेद का प्रवचन करे जो हिंसा एवं कुटिलता से व्याप्त हो ।

वायुपुराण 65-27 , ब्रह्माण्डपुराण 2-1-36 बृह‍ ‍ारदीयपुराण 5-7 में स्पष्टतः कहा गया है कि अथर्ववेद घोर कृत्याविधि तथा आभिचारिक मंत्रों वाला ग्रंथ है ।

आङ्गिरसकल्प में इसे मारणादि षट् कर्मों का विधानग्रंथ बताया गया है । अवेस्ता का अथ्रवन् अथर्वन् का ही प्रतिरूप हैं ।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में चारों ही वेदों का समन्वित उल्लेख हुआ है -

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। नाट्य०

स्वयं अथर्ववेद , चारों वेदों को एक ही साथ स्मरण करता है । वेदों की ईश्वरयिता के सन्दर्भ में कहा गया है -

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।।

§ अथर्व0 10-7-20 §

अथर्ववेद के ही एक अन्य मंत्र में उसे "भिषग्वेद" के रूप में , त्रयी के साथ उल्लिखित किया गया है -

ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि §अथर्व0 1-6-14§

ऋचस्सामयजुर्मही ﴾अथर्व० 10-6-14﴿ शीर्षक मंत्र में अथर्ववेद को "महीवेद" के रूप में स्मरण किया गया है । इसीप्रकार उसे ब्रह्मवेद ﴾ब्रह्म एवं व्रात्यचर्चा के कारण﴿ क्षत्रवेद ﴾राज्यनिर्माणादि चर्चा के कारण﴿ छन्दोवेद ﴾छन्दांसि[1]-अथर्व० 11-6-24﴿ तथा भृग्वङ्गिरोवेद[2] भी कहते हैं । परन्तु इन समस्त प्रसंगों में वह अन्य तीनों वेदों के साथ एक ही आनुपूर्वी में उल्लिखित है । फलतः वेद का "चतुष्टयीत्व" कोरी कल्पना नहीं, एक स्थापित सत्य है ।

त्रयी एवं चतुष्टयी के सन्दर्भ में प्रख्यात वेदज्ञ श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की यह टिप्पणी निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है - 'जो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वेद तीन ही थे , अथर्ववेद बाद में जोड़ दिया गया , यह उनकी भूल है । विचारों की पवित्रता ऋग्वेद है । कर्मों की पवित्रता यजुर्वेद है । उपासना से शुद्धता सामवेद है तथा समता या स्थितप्रज्ञ होना ही चौथी स्थिति , अथर्ववेद है । इस अवस्था में आकर मनुष्य अर्जुन की तरह निश्चल हो जाता है ।'

आगे पुनः सातवलेकर जी लिखते हैं कि योगसाधन के द्वारा प्राप्त होने वाला चित्तवृत्ति का निरोध ही "अथर्व" है । अथर्व का अर्थ है - गति-रहित ।[3] आम्नाय , आगम , छन्द, ब्रह्म तथा प्रवचन आदि श्रुति के ही पर्याय माने जाते हैं ।[4] महर्षि पैल , वैशम्पायन , सुमन्तु तथा जैमिनि आदि आचार्यों द्वारा उपदिष्ट होने के ही कारण वेदों को 'प्रवचन' कहा गया है । त्रिष्टुप् तथा गायत्री आदि छन्दों में निबद्ध होने के कारण वेदों को "छन्द" नाम दिया गया है । आचार्य यास्क-विरचित निघण्टु , जिसमें गो शब्द से लेकर देवपत्नी पर्यन्त 1773 शब्दों को संगृहीत किया गया है , उस वैदिक शब्दकोश को "आम्नाय" कहा गया है । समस्त ज्ञान का मूलस्त्रोत तथा सांगोपांग परिचायक होने के कारण ही वेद को "आगम-निगम" नाम दिया गया है ।

---

1. छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।। ऋग्वेद 10-90-9
2. ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोवित् । गोपथब्राह्मण 1-3-1
3. सविस्तर द्रष्टव्य - ऋग्वेदभाष्य-भूमिका ।स्वाध्यायमण्डल, पारडी-संस्करण संवत् 2024 वि० ।
4. ब्रह्ममुखनिर्गतं धर्मज्ञापकं शास्त्रं श्रुतिः । आम्नायः , आगमः , छन्दः, ब्रह्म, निगमः, प्रवचनं, स्वाध्यायः । हलायुधकोष ﴾व्याख्याभाग﴿ पृ०-637 हिन्दीसमिति ग्रंथमाला, लखनऊ ।

प्रायः समस्त सांसारिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से हो जाता है । परन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुँच से भी परे जो पराभौतिक ज्ञान वेद के माध्यम से ही हो पाता है , यही उसका वेदत्त्व है । उक्त आशय की पुष्टि निम्नलिखित से होती है -

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।।

वेद का स्वरूप एवं उनकी शाखा-संख्या

स्वरूप की दृष्टि से वेद चार भागों में विभक्त हैं - मंत्र , ब्राह्मण , आरण्यक एवं उपनिषद् । मंत्र वेद का वह अंश है जो कि छन्दोमय है । इसमें प्रायः देवस्तुतियां प्रस्तुत की गई हैं । अपनी प्रकृति के अनुसार यही मंत्र ऋद् , यजुष् , सामन् तथा आथर्वण के रूप में विख्यात हैं ।[1]

मंत्र क्या है ? वस्तुतः वेद के चार भागों में मंत्र ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । सामान्य जनता मंत्र एवं वेद को एकार्थक तथा पर्यायिभूत मानती है । इस शब्द की व्याख्या पर थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा ।

ऋग्वेद में मंत्रों को अनेक बार निविद् भी कहा गया है । विश्वेदेव - सूक्त में स्पष्टतः कहा गया है - तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयम् । अर्थात् प्राचीन आर्ष-मंत्रों से हम उन विश्वेदेवों (भग, मित्र , अर्यमादि) का आवाहन कर रहे हैं ।

ऋग्वेद (67-4-64) में ब्रह्मणस्पति मंत्र को "उक्थ" नाम से अभिहित किया गया है । आचार्य हेमचन्द्र इसे देवताओं को प्राप्त करने का साधन मानते हैं (देवादीनां साधनम्) ।

रहस्यालोचनं मंत्रो रहश्छन्नमुपह्वरम् । इति हेमचन्द्रः ।

---

1. स्त्रियाम् ऋक्सामयजुषी इतिवेदास्त्रयस्त्रयी । अमरकोष.।

हलायुध एवं मेदिनीकोष में क्रमशः त्राणदायक एवं देवकृपासाधक उपाय को मंत्र कहा गया है ।[1.]

कर्म का स्मरण कराने वाले साधन ही मंत्र हैं ।[2.] जैसे - "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत" कहते ही आरार्तिक-कर्म की स्मृति आ जाती है ।

मंत्र शब्द ज्ञानार्थक दिवादिगणी मन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय लगाकर[3] , तनादिगणी विचारार्थक मन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय लगाकर[4] अथवा सत्कारार्थक मन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय लगाकर[5] निष्पन्न होता है ।

निरूक्तकार आचार्य यास्क (निरूक्त अ0 6 पाद 3) अध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विचारों के मनन का स्त्रोत अथवा माध्यम होने के ही कारण मंत्र को "मंत्र" मानते हैं -

मन्त्रा मननात् ।

भारतीय-परम्परा इन वेदमंत्रों को ईश्वरकर्तृक ही मानती है । गृत्समद, गौतम एवं वशिष्ठादि ऋषि भी इन मंत्रों के द्रष्टामात्र हैं कर्ता नहीं ।[6.] मंत्रों की ईश्वरकर्तृकता स्वतः प्रामाण्य से सिद्ध है । ऋग्वेद में स्पष्टतः कहा गया है -

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।। ऋक्0 10-90-9

---

1. मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मंत्रः प्रकीर्तितः । यथा ज्वरादि नाशकः मंत्रः । हलायुध0 व्याख्याभाग पृ0-514
   मंत्रो वेदविशेषस्स्याद् देवादीनाञ्च साधने । मेदिनी0 पृ0-128
2. कर्मस्मारका मंत्राः ।
3. मन्यते ज्ञायते ईश्वरादेशः अनेनेति मंत्रः ।
4. मन्यते विचार्यते ईश्वरादेशः अनेन इति मंत्रः ।
5. मन्यते सत्क्रियते देवताविशेषः अनेन इति मंत्रः
6. ऋषयो मंत्रद्रष्टारः न तु कर्तारः । महर्षि यास्क ।

अथर्ववेद में भी परमेश्वर की ओर संकेत करके कहा गया है -

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।। अथर्व0 10-7-20)

श्वेताश्वतर उप0 में सृष्टि के प्रारंभ में परमेश्वर द्वारा ब्रह्मा को उत्पन्न करने तथा उसके (हितके) लिये वेदों (=मंत्रों) को भेजने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है -

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।। श्वेता0 6-18

जैसाकि पहले कहा गया है, निरूक्तकार यास्क ऋषियों को मंत्रद्रष्टा ही मानते हैं, उनका कर्ता नहीं। बड़ी स्पष्टता से उन्होंने लिखा है - यदेनान् तपस्यमानान् ....
त ऋषयोऽभवन् । तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते । ऋषिर्दर्शनात् । मन्त्रान् ...
इत्यौपमन्यवः ।

अनेक परवर्ती व्याख्याकारों ने भी निरूक्तकार के ही मत का समर्थन किया है।[1]

मंत्र की प्रकृति ही उसकी पृथक् एवं विशेषता का कारण है। ये मंत्र मूलतः ऋक्, यजुष् एवं सामन् - तीन रूपों में विभक्त हैं। जिन मंत्रों द्वारा इन्द्रादि देवों का स्तवन (आवाहन) किया जाता है, उन्हें ऋक् कहते हैं।[2] पाप-शमन करने वाले अथवा देवताओं को (अपनी संगीतलहरी से) सन्तुष्ट करने वाले मंत्रों को सामन् कहते हैं।[3] इसी प्रकार यज्ञोपयोगी मंत्रों को यजुष् कहते हैं।[4]

---

1. ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा । गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्रं द्रष्टारन्तः ऋषयः ।
   श्वेतवनवासिरचित-वृत्ति, उणादिसूत्र 4-129

2. ऋच्यते स्तूयतेऽनया ऋक् ।

3. स्यति पापं साम । मनिन् प्रत्ययः । शमयति सामयति वा देवानिति साम ।

4. इज्यतेऽनेनेति यजुष् (अर्तिपृवपि इत्युस्) यज् धातु + उसि प्रत्ययः ।

इन्हीं मंत्रों का संकलन होने के कारण ऋग्वेद (ऋचां वेद: ऋग्वेद:) यजुर्वेद (यजुषां वेदो यजुर्वेद:) तथा सामवेद (साम्नां वेद: सामवेद:) को "त्रयी" कहा गया है । महर्षि अथर्वा तथा अंगिरा द्वारा संकलित अवशिष्ट मंत्रों को ही अथर्ववेद, आथर्वण-संहिता अथवा अथर्वाङ्गिरस-संहिता कहा गया है । इस संहिता को मिलाकर ही (वेद) "चतुष्टयी" संज्ञा प्रचलित हुई है ।

त्रिकालदर्शी तथा आर्षप्रज्ञा के धनी भारतीय चिन्तकों ने "जीवेम शरद: शतम्" की कामना करते हुए मनुष्य की आदर्श पूर्णायु सौ वर्षों की मानी थी । इन्हीं सौ वर्षों में वह प्रवृत्ति मार्ग पर चलकर, लौकिक अभ्युदयों की सिद्धि कर, शनै: शनै: निवृत्तिमार्ग का आश्रय लेकर पारलौकिक श्रेय (मोक्ष) की ओर उन्मुख होता था । उसका सम्पूर्ण जीवन किसी-न-किसी कामना की सिद्धि पर केन्द्रित होता था जिसे "पुरूषार्थ" कहा जाता था । ये पुरूषार्थ थे - अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ।

पुरूषार्थों की सिद्धि के लिये सौ वर्षों का जीवन भी चार प्रमुख कालखण्डों में विभक्त था जिसे "आश्रम" नाम दिया गया था । ये आश्रम चार थे - ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास । प्रथम दो आश्रम प्रवृत्तिमार्ग से तो अन्तिम दो निवृत्तिमार्ग से जुड़े थे ।

वेद, इन्हीं पुरूषार्थों की सिद्धि में सहायक थे । फलत: वेदों को भी महाप्राज्ञ ऋषियों ने पुरूषार्थ एवं आश्रम के ही अनुपात में चतुर्धा विभक्त कर दिया था । संहिता (मंत्र) ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् (वेदान्त, रहस्य अथवा उत्तरमीमांसा) ।

इसप्रकार प्राचीन भारतीय जीवनपद्धति में उपाय एवं उपेय का, साध्य और साधन का अद्भुत वैज्ञानिक समन्वय था जिसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं -

1. शतवर्षीय जीवन के चार कालखण्ड (=आश्रम) ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास ।
2. प्रत्येक कालखण्ड के क्रमिक साध्य (=पुरुषार्थ) अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष ।
3. प्रत्येक पुरूषार्थ की सिद्धि में सहायक वेदांश मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ।

मंत्र के सन्दर्भ में पूर्व अनुच्छेदों में अपेक्षित प्रकाश डाला जा चुका है । अब ब्राह्मण , आरण्यक तथा उपनिषद् का भी संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है ।

ब्रह्मन् शब्द से शैषिक अण् प्रत्यय लगा कर ब्राह्मण शब्द बनता है । परमेश्वर को अधिकृत करके ऋषियों द्वारा किये गये (यज्ञादि सम्बन्धी) व्याख्यानों को ही ब्राह्मण कहा गया है -

ब्रह्माधिकृत्य कृतम् ऋषीणां व्याख्यानं ब्राह्मणम् ।

तैत्तिरीय-संहिता के भाष्यकार भट्ट भास्कर कहते हैं कि विविध कर्मों तथा तद्विषयक मंत्रों का व्याख्यान ही ब्राह्मण है -

ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मंत्राणाञ्च व्याख्यानग्रंथः ।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के मतानुसार निर्वचन , विनियोग , प्रयोजन , प्रतिष्ठान तथा विधानयुक्त मंत्रों को ही ब्राह्मण कहते हैं -

नैरुक्त्यं यस्य मंत्रस्य विनियोगः प्रयोजनम् ।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ।।

ऐतरेय-संहिता 6-25-8-2 , तैत्ति० संहिता 3-7-1-1 , शतपथ ब्राह्मण 4-6-9-20 , निरुक्त 4-27 , अष्टाध्यायी 3-4-36 तथा हलायुध-मेदिनी[1] प्रभृति कोशग्रंथों में भी ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में बहुमूल्य सूचनाएं उपलब्ध होती हैं , परन्तु विस्तारभय से यह प्रसंग अब यहीं समाप्त किया जा रहा है ।

वेद का तृतीय भाग है आरण्यक[2] । आरण्यकों को ब्राह्मण ग्रंथों का परिशिष्ट तथा यज्ञ के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादक माना जाता है । इसीलिये गोपथ ब्राह्मण 2-10 में इन्हें "रहस्य" भी कहा गया है । आचार्य सायण की सम्मति में , अरण्यों में पाठ्य होने के कारण इनकी "आरण्यक" संज्ञा सर्वथा सार्थक है । यही तथ्य तैत्ति० आरण्यकभाष्य श्लोक 6 में भी प्रतिपादित किया गया है -

---

1. ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम् ।
2. अरण्ये भवम् आरण्यकम् (अरण्य + वुञ्) अरण्ये अनूच्यमानत्वात् आरण्यम् ।
   अरण्येऽध्ययनादेव आरण्यकमुदाहृतम् । बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ।

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते ।
अरण्ये तदधीयेतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।

महाभारत में भी आरण्यकों को उसी प्रकार वेदों का निचोड़ माना गया है जैसे ओषधियों का निचोड़ अमृत होता है।

आरण्यकञ्च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।। म0भा0 1-165

मंत्र के अनन्तर वेद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उसका चौथा भाग - वेदान्त अथवा उपनिषद् । उपनिषद् शब्द उप + नि + सद् धातु से निष्पन्न है । सदलृ धातु विशरण, गति तथा अवसादन अर्थ में प्रयुक्त होती है । यह त्रिविध अर्थ उपनिषदों के प्रयोजन को सार्थक बनाता है क्योंकि औपनिषदिक अध्यात्मज्ञान माया-मोह का विनाश, ब्रह्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति तथा सांसारिक आसक्ति को क्षीण करता है । कठोपनिषद्-भाष्य में भगवान् शंकराचार्य इसी मन्तव्य को प्रकाशित करते हैं[1] । उपनिषद् को वेदान्त अथवा रहस्य भी कहा जाता है क्योंकि यह वेदार्थ का निर्गलन है तथा उसका अन्तिम अंश भी । यह पराभौतिक गूढातिगूढ ब्रह्मज्ञान सुयोग्य पात्र को रहस् अथवा एकान्त में ही दिया जाता था । फलतः इसे "रहसि भवं रहस्यम्" भी कहा गया ।

समीक्षक-प्रवर पं0 बलदेव उपाध्याय के शब्दों में - "उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मान सरोवर है जिससे ज्ञान की अनेक सरितायें निकल कर पुण्यभूमि में मानव मात्र के ऐहिक तथा आमुष्मिक मंगल के लिये प्रवाहित होती हैं ।"

उपर्युक्त विवेचन से वेद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । अब वेद-शाखाओं की संख्या पर विचार कर लेना आवश्यक है । इस सन्दर्भ में पुराणों के विवरण बड़े महत्त्व के हैं जिनमें यह बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेद-ज्ञानराशि एक थी । परन्तु मनुष्यों की धारणाशक्ति का उपरोत्तर अपक्षय देखकर तथा वेदमंत्रों की जटिलता दुर्ग्राह्यता एवं रहस्यात्मकता का विचार कर, द्वापरयुग के अन्तिम चरण में परमकारुणिक भगवान् महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने उन्हें त्रिधा विभक्त किया - ऋक्, यजुष् तथा सामन् के

---

1 सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम् उपनिषदिति । कठो0 शांकरभाष्य ।

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते ।
अरण्ये तदधीयेतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।

महाभारत में भी आरण्यकों को उसी प्रकार वेदों का निचोड़ माना गया है जैसे ओषधियों का निचोड़ अमृत होता है।

आरण्यकञ्च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।। म०भा० 1-165

मंत्र के अनन्तर वेद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उसका चौथा भाग - वेदान्त अथवा उपनिषद् । उपनिषद् शब्द उप + नि + सद् धातु से निष्पन्न है । सदलृ धातु विशरण, गति तथा अवसादन अर्थ में प्रयुक्त होती है । यह त्रिविध अर्थ उपनिषदों के प्रयोजन को सार्थक बनाता है क्योंकि औपनिषदिक अध्यात्मज्ञान माया-मोह का विनाश, ब्रह्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति तथा सांसारिक आसक्ति को क्षीण करता है । कठोपनिषद्-भाष्य में भगवान् शंकराचार्य इसी मन्तव्य को प्रकाशित करते हैं[1] । उपनिषद् को वेदान्त अथवा रहस्य भी कहा जाता है क्योंकि यह वेदार्थ का निर्गलन है तथा उसका अन्तिम अंश भी । यह पराभौतिक गूढातिगूढ ब्रह्मज्ञान सुयोग्य पात्र को रहस् अथवा एकान्त में ही दिया जाता था । फलतः इसे "रहसि भवं रहस्यम्" भी कहा गया ।

समीक्षक-प्रवर पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में - "उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की अनेक सरितायें निकल कर पुण्यभूमि में मानव मात्र के ऐहिक तथा आमुष्मिक मंगल के लिये प्रवाहित होती हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से वेद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । अब वेद-शाखाओं की संख्या पर विचार कर लेना आवश्यक है । इस सन्दर्भ में पुराणों के विवरण बड़े महत्त्व के हैं जिनमें यह बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेद-ज्ञानराशि एक थी । परन्तु मनुष्यों की धारणाशक्ति का उत्तरोत्तर अपक्षय देखकर तथा वेदमंत्रों की जटिलता दुर्ग्राह्यता एवं रहस्यात्मकता का विचार कर, द्वापरयुग के अन्तिम चरण में परमकारुणिक भगवान् महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने उन्हें त्रिधा विभक्त किया - ऋक्, यजुष् तथा सामन् के

---

1. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम् उपनिषदिति । कठो० शाङ्करभाष्य ।

रूप में । वेदों का विभाजन अथवा विस्तार {=व्यास} करने के ही कारण उन्हें "वेदव्यास" कहा गया । यद्यपि प्रो० कीथ[1] एवं आर्थर मैकडानेल[2] जैसे पाश्चात्त्य सुधीजन वेदव्यास को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते । परन्तु भारतीय परम्परा को उनकी ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में तिल भर भी भ्रम नहीं है ।

महाभारत तथा अन्यान्य पौराणिक स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि महर्षि वेदव्यास {कृष्ण द्वैपायन} ने अपने चार शिष्यों को चतुर्धा विभक्त {आथर्वण संहिता को लेकर} वेदों का ज्ञान कराया । उन्होंने पैल को ऋग्वेद , वैशम्पायन को यजुर्वेद , सुमन्तु को सामवेद तथा जैमिनि को अथर्ववेद की शिक्षा दी । इन्हीं चार आदि प्रवचनकारों से वेदों की शाखाओं , उपशाखाओं का विस्तार हुआ ।[3]

चिरकाल तक वेद-ज्ञान , गुरू -शिष्य परम्परा के सहारे पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित होता रहा । वेदमंत्रों का स्वरूप सुरक्षित रखने के लिये उनके घनपाठ , क्रमपाठ एवं जटापाठादि की अद्भुत व्यवस्था की गई । गुरू-शिष्यों के मतभेद , उच्चारण की भिन्नता[4] एवं मंत्रविनियोग की भिन्नता[5] के कारण एक ही वेद की अनेक शाखाएं बनती चली गईं ।

वेदशाखाओं की संख्या का सर्वोत्त प्रमाण हमें महाभाष्यकार पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है । महर्षि पतंजलि {पुष्यमित्र शुंग के पुरोहित , ई० पू० द्वितीयशती} के समय में गाँव-गाँव में कठ एवं कालापक शाखाओं {यजुर्वेद} का प्रवचन होता था ।[6] वेदविद्या का प्रचार एवं प्रसार पराकाष्ठा पर था ।

---

1. He was only the reteller of tales (वैदिक वाङ्मय का इतिहास ' प भगवद्दत्त)
2. He bears a legendary personality. (वही " " ")
3. श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध ।
4. सरट् ह , सरट्ड्ह , सरट्ढ् ह (एक ही शब्द के त्रिविध उच्चारण)
5. भ्रातृव्यस्य वधाय । राजन्यस्य वधाय (एक ही मंत्र के दो विनियोग)
6. ग्रामे- ग्रामे काठकं कालापकं प्रोच्यते ।

महाभाष्यकार ऋग्वेद की पच्चीस, यजुर्वेद की सौ, सामवेद की सहस्र तथा अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख करते हैं ।[1] इसप्रकार चारों वेदों की 1134 शाखाओं का प्रमाण मिलता है । चूंकि प्रत्येक शाखा का अपना पृथक् ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रंथ होता था, अतएव यह कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की भी संख्या 1134 ही रही होगी ।

परन्तु उस वैज्ञानिक सत्य पर आज विश्वास कर पाना कठिन है । हजारों वर्षों की दासता में भारत की सारी ज्ञान-सम्पदा विनष्ट हो गई । हर विधर्मी आक्रान्ता की दृष्टि यहाँ के मन्दिरों एवं ग्रंथागारों पर ही केन्द्रित थी । देवालय स्वयं भी किसी ग्रंथागार से कम नहीं थे । मन्दिरों के ध्वंस के साथ ही साथ ग्रंथागार भी जलाए जाते रहे । माण्डू के दुर्ग में तुगलक बादशाहों का स्नानजल गर-माने के लिये हजारों संस्कृत-ग्रंथों को जलाया जाता रहा । धुएँ से काली भवन की दीवारें आज भी उसका प्रमाण प्रस्तुत करती हैं । मध्यकाल में बख्तियार खिलजी द्वारा नालन्दा का विशाल पुस्तकालय मात्र धर्मविद्वेषवश भस्मसात् कर दिया गया ।

इसप्रकार अपार भारतीय वाङ्मय विनष्ट हो गया । प्राणों का संकट मोल लेकर आस्थावान् पण्डितों एवं विद्वानों ने जो कुछ नष्ट होने से बचा लिया, वही आज हमारे समक्ष है । इन विवेकहीन कुकृत्यों के ही कारण आज यदि कोई वेदशाखा मिलती भी है तो उसका ब्राह्मण ग्रंथ नहीं मिलता । जिस शाखा का ब्राह्मण ग्रंथ मिलता है तो उसकी शाखा अथवा आरण्यक-उपनिषद् नहीं मिलते ।

सम्प्रति ऋग्वेद की एकमात्र शाकल शाखा उपलब्ध है । प्रो० मैक्समूलर ने पौरस्त्य पवित्रग्रंथ (Sacred Books of the East) ग्रंथमाला में इसी शाखा को सानुवाद सन् 1859 ई० में प्रकाशित किया । ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रंथ (ऐतरेय एवं कौषीतकि अथवा शांखायन) दो आरण्यक (ऐतरेय तथा शांखायन) एवं दो उपनिषदें (ऐतरेय तथा कौषीतकि) सम्प्रति उपलब्ध हैं ।

---

1. पञ्चविंशतिधा बह्वृचम् । एकशतमध्वर्यव । सहस्रवर्त्मा सामवेद । नवधाऽथर्वणः ।

यजुर्वेद की उपलब्ध पाँच शाखाओं में तीन तो कृष्ण यजुर्वेद की हैं - तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा कठ-कपिष्ठल । अन्य दो शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं । काण्व तथा माध्यन्दिन अथवा वाजसनेय । तैत्तिरीय तथा शतपथ क्रमशः कृष्ण एवं शुक्ल यजुर्वेद के प्रमुख ब्राह्मण हैं । इसीप्रकार दोनों के आरण्यक हैं - तैत्तिरीय एवं बृहदारण्यक । यजुर्वेद की उपनिषदों में प्रमुख हैं - तैत्तिरीय, महानारायण, मैत्रायणी, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर, ईशावास्योप० तथा बृहदारण्यकोपनिषद् ।

सामवेद की दो शाखाएँ - कौथुम तथा राणायनीय सम्प्रति मिलती हैं । सामवेद के अनेक ब्राह्मणग्रंथ उपलब्ध हैं जैसे - पंचविंश अथवा ताण्ड्य, षड्विंश अथवा अद्भुत ब्राह्मण, सामविधान, मंत्रोपनिषद् ब्राह्मण, आर्षेय, देवताध्याय, वंशब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण (सभी कौथुम शाखा से सम्बद्ध) जैमिनीय, तलवकार तथा छान्दोग्य ब्राह्मण (राणायनीय शाखा से सम्बद्ध) सामवेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं । छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् क्रमशः कौथुम एवं राणामनीय शाखा से सम्बद्ध उपनिषदें हैं ।

अथर्ववेद की शौनक एवं पैप्पलाद शाखाएँ उपलब्ध हैं । एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण ग्रंथ है - गोपथ ब्राह्मण । अथर्व० के आरण्यक अप्राप्य हैं । परन्तु मुण्डक एवं माण्डूक्य (शौनक शाखा से सम्बद्ध) उपनिषदें सौभाग्य से प्राप्त हैं । इसप्रकार ।।34 में से मात्र 10 वेदशाखाएँ ही आज हमारे बीच में हैं ।

शिक्षा, कल्प, निरूक्त, व्याकरण, ज्योतिष तथा छन्द को वेदाङ्ग कहा गया है ।[1] वेदाङ्ग का अध्ययन वेदार्थ के अवगम में सहायता करता है । महाभाष्यकार पतंजलि बड़ी स्पष्टता से कहते हैं कि ब्राह्मण को तो बिना किसी विशेष प्रयोजन के ही छः अंगों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिये । वेदांगों कीही तरह आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थवेद को चार उपवेद माना गया है । इसप्रकार चार वेद, चार उपवेद एवं छ वेदाङ्ग को मिलाकर विशाल वैदिक-वाङ्मय की सृष्टि होती है ।

---

1. शिक्षेत्यादि श्रुतेरङ्गम् । अङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनाङ्गम् उपकारकम् । शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्यौतिषं छन्दो निरूक्तञ्च । अमर० पृ० 62-63 (भार्गवभूषणप्रेस वाराणसी 1972 ई० ।

ऋग्वेद के प्रतिपाद्य पर विशेष प्रकाश डालने से पूर्व यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भारतीय परम्परा वेद को अपौरूषेय तथा नित्य एवं शाश्वत मानती है । सृष्टि के प्रारंभ में वेद की पवित्र ज्ञानराशि स्वयं आविर्भूत होती है । परन्तु वेदाध्यायी पाश्चात्त्य विद्वान् भाषावैज्ञानिक दृष्टि से वेद को भी पुरूषकृत ग्रंथ ही मानते हैं तथा उसके लेखन की अवधि निश्चित करने का प्रयास करते हैं । इस प्रयास का श्रीगणेश 1859 ई0 में सर्वप्रथम प्रो0 मैक्समूलर ने किया जिसका अनुवर्तन कालान्तर में अन्य अनेक वेदज्ञ पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने किया । यह सन्दर्भ अनेकशः व्याख्यात है अतः प्रस्तुत प्रसंग में उनकी समीक्षा का कोई औचित्य नहीं है । केवल सूचनात्मक पूर्णता की दृष्टि से उन मतों का उल्लेख किया जा रहा है ।

ऋग्वेद (प्राचीनतम) का रचनाकाल प्रो0 मैक्समूलर 1200 वर्ष ई0 पू0 , प्रो0 मैकडानेल 1300 वर्ष ई0 पू0 , एम्० विण्टरनित्स 2000 वर्ष ई पू0 , ओल्डॅनबर्ग 2500 वर्ष ई पू0 , प्रो0 रामगोपाल भण्डारकर 2500 वर्ष ई0 पू0 , हरमन जैकोबी (कल्पसूत्रोल्लिखित विवाहप्रकरण में ध्रुवनक्षत्र की स्थिति के आधार पर) 4500 वर्ष ई पू0 बालगंगाधर तिलक (शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित वसन्तसम्पात के आधार पर) 6500 वर्ष ई0 पू0, नारायणराव भवनराव पावगी (ऋग्वेदोल्लिखित भौगोलिक स्थिति के आधार पर) 9000 वर्ष ई0 पू0 , सम्पूर्णानन्द 15000 वर्ष ई0 पू0 , प्रो0 अमलनेकर (एच0 जी0 वेल्स कृत OUTLINES OF WORLD HISTORY में वर्णित पचास हजार वर्ष पू0 के संसार के मानचित्र के आधार पर) 66000-75000 वर्ष ई0 पू0 तथा महर्षि दयानन्द 19608529760 वर्ष ई0 पू0 (वर्तमान सृष्टि की उत्पत्ति का समय) स्वीकार करते हैं । इन समस्त विद्वन्मतों का विस्तृत ज्ञान उनके मूलग्रंथों से प्राप्त किया जा सकता है । वेदों की गरिमा को प्रायः सबने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है ।[1]

---

1. "हमको स्वीकार करना चाहिए कि वे मस्तिष्क जिन्होंने ऐसे विचारों को, जो इन वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं , विचारा और उन्हें उपपन्न भाषा में प्रकट किया किसी भी अवस्था में हमारे उतम से उतम शिक्षकों , कवियों , हमारे मिल्टनों और टेनिसनों से न्यून नहीं हैं ।"

   -वालिस (सोशल इन्वायरनमेण्ट ऐण्ड मॉरल प्रोग्रेस)

   "वेद अनादि हैं और ईश्वरकृत हैं तथा किसी विशेष समय में किन्हीं ऋषियों ने उनका ज्ञान प्राप्त करके उन्हें प्रकाशित किया था ।"- फॉदर जिमरमैन (पीटर्सन-संग्रह-परिशिष्ट)

प्रस्तुत शोधकार्य मूलतः ऋग्वेद पर आधारित है । अतएव ऋग्वेद के प्रतिपाद्य पर थोड़ा विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा । चारों वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । यह वेद प्रमुख रूप से देवस्तुतियों का संग्रह है तथा दो प्रकार से विभाजित किया गया है – मण्डलक्रम तथा अष्टकक्रम ।

मण्डलक्रम के अनुसार ऋग्वेद में दस मण्डल , पचासी अनुवाक , 1028 सूक्त तथा 10589 मंत्र हैं । शौनक-प्रणीत अनुवाकानुक्रमणी के प्रामाण्यानुसार इस वेद में 10528 मंत्र तथा 153826 शब्द हैं । प्रत्येक मण्डल अनुवाकों में , अनुवाक सूक्तों में तथा सूक्त मंत्रों में विभक्त है । प्रत्येक सूक्त का कोई-न-कोई मंत्रद्रष्टा ऋषि है , कोई विशिष्ट स्तवनीय देवता है तथा कोई-न-कोई विशेष विनियोग है ।

अष्टकक्रम के अनुसार ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं । प्रत्येक अष्टक आठ अध्यायों में विभक्त है । प्रत्येक अध्याय वर्गों में तथा वर्ग मंत्रों में विभक्त हैं । इसप्रकार ऋग्वेद में आठ अष्टक , चौंसठ अध्याय तथा 2006 वर्ग हैं ।

ऋग्वेद का मण्डलानुसारी वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक , तर्कसंगत एवं साभिप्राय माना जाता है । उसका कारण यह है कि प्रत्येक मण्डल में किसी एक ही वंश के ऋषि मंत्रद्रष्टा हैं । इसीलिये इन मण्डलों को वंशमण्डल भी कहा गया है । उदाहरणार्थ द्वितीय , तृतीय , चतुर्थ , पञ्चम , षष्ठ , सप्तम तथा अष्टम मण्डल के मंत्रद्रष्टा ऋषि क्रमशः गृत्समद , विश्वामित्र , वामदेव , अत्रि , भारद्वाज , वशिष्ठ एवं कण्व तथा उनके वंशज हैं । प्रथम , नवम तथा दशम मण्डलों में यह व्यवस्था टूट गई है । इनमें अनेक वंशों के ऋषिगण मंत्रद्रष्टा हैं । परन्तु नवम मण्डल में एक अन्य विशेषता परिलक्षित होती है । वह यह कि इस मण्डल के समस्त मंत्र सोमविषयक ही हैं । फलतः इसे पवमान-मण्डल कहा जाता है ।

वैदिक देवता – एक संक्षिप्त परिचय

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है प्रत्येक वेदमंत्र अपने देवता ऋषि , छन्द तथा विनियोग के वैशिष्ट्य से आबद्ध है । इन चार तत्त्वों में भी सर्वाधिक महत्त्व है देवता का , क्योंकि ऋचाओं द्वारा इन्हीं देवताओं का संस्तवन किया गया है । देवता क्या है ?

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड §COSMOS§ में नानाविध सृष्टियाँ हैं । पृथ्वी पर विद्यमान सृष्टि को अण्डज , पिण्डज , स्वेदज तथा उद्भिज्ज के रूप में विभक्त किया गया है । एक अन्य दृष्टि से पृथ्वी की सृष्टि स्थावर §अचर , वृक्ष , नदी , पर्वत आदि§ तथा जंगम §चर-मनुष्य , पशु , पक्षी , कीटादि§ वर्गों में विभक्त है । परन्तु पृथ्वीलोक से इतर लोकों में भी अनेक सृष्टियाँ हैं जिन्हें अतिमानवीय §*Supernatural, Superhuman*§ शक्तियाँ प्राप्त हैं । ये सृष्टियाँ भी यद्यपि सात प्रकार की हैं[1], परन्तु जैसे पार्थिव सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्तम एवं सर्वोपरि है , उसीप्रकार अपार्थिव सृष्टियों में भी देवता सर्वोत्तम एवं सर्वोपरि हैं ।

देव शब्द की सर्वोत्तम व्याख्या निरूक्तकार आचार्य यास्क करते हैं । उनके मतानुसार दान §मानवों को आकांक्षित पदार्थ देने की सामर्थ्य§ दीपन , द्योतन अथवा द्युलोकस्थानीय होने के कारण सृष्टिविशेष को देव कहा जाता है ।[2]

देव को ही देवता भी कहते हैं ।[3] अमरकोषकार ने देवता के 26 पर्याय गिनाए हैं जिनसे देवता के स्वरूप पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है । वे नाम इसप्रकार हैं -

अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः ।
सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः ।।

आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः ।
आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः ।।

बर्हिर्मुखा क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः ।
वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् ।।

आदित्यविश्ववसवस्तुषिताभास्वरानिलाः ।
महाराजिकसाध्याश्च रूद्राश्च गणदेवताः ।।

— अमर० प्रथम-काण्ड, स्वर्ग-वर्ग ।

---

1. विद्याधरोप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।। अमर० प्रथमकाण्ड §स्वर्गवर्ग§

2. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा , द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यास्क०

3. देव एव देवता स्वार्थे तल्प्रत्ययः । देवं द्युतिं क्रीडां वा तनोति सा ।

— हलायुधकोष पृ०-360

इन पर्यायों से ज्ञात होता है कि देवता जरा एवं मृत्यु रहित , तीन ही दशाओं §शैशव , कौमार्य , यौवन§ वाले , द्युलोक में रहने वाले , अदिति के पुत्र , सुषुप्तिरहित अथवा नित्य-जागृत , अमृतपायी , यज्ञ में हविष्यान्न का भक्षण करने वाले तथा शोभन मनोवृत्ति वाले होते हैं । इनमें भी द्वादश आदित्य , दश विश्वेदेव, आठ वसु , छत्तीस तुषित , चौसठ आभास्वर , उञ्चास मरूत् , दो सौ बीस महाराजिक , द्वादश साध्य तथा एकादश रूद्र - ये सभी गणदेवता कहे जाते हैं ।

ऋग्वेद में स्तवन किये गये देवों की संख्या 33 है ।[1] महर्षि यास्क ने इन्हें तीन वर्गों में व्यवस्थित किया है - द्युस्थानीय , अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथ्वीस्थानीय ऋग्वेद , यजुर्वेद तथा अथर्व0 तीनों देवताओं की संख्या तैंतीस ही मानते हैं । ऋग्वेद के 1.139.11 संख्यक मंत्र में 33 देवों का अस्तित्व निरूपित है - 11 पृथ्वी में , 11 अन्तरिक्ष में तथा 11 भूलोक में ।

ऋग्वेद 8-28-1 में पुनः स्पष्टतः कहा गया है - "त्रयस्त्रिंशद् देवाः ।" परन्तु इस सन्दर्भ में यह नहीं बताया गया है कि वे 33 देवता हैं कौन ? इस रहस्य की व्याख्या शतपथ 11-6-3-5 में मिलती है जिसके अनुसार 8 वसु , 11 रूद्र , 12 आदित्य इन्द्र तथा प्रजापति को मिला कर देवसंख्या पूर्ण होती है ।

परन्तु देवसंख्या का 33 से अधिक होना भी प्रमाणित होता है । ऐतरेय ब्राह्मण 33 सोमप तथा 33 असोमप देवों की चर्चा करता है ।

ऋग्वेद के ही एक अन्य सन्दर्भ में 3339 देवों की चर्चा की गई है जिसका अनुमोदन शतपथ0 11-6-3-4 तथा शांखायन श्रौतसूत्र 8-21-14 में मिलता है ।

---

1. रूद्रा एकादश प्रोक्ता अष्टौ तु वसवः स्मृताः ।
   आदित्या द्वादशा प्रोक्ता वषट्कारः प्रजापतिः ।

   - निर्णयसिन्धु प्र0 परि0 पृ0-13
   कृष्णदास अकादमी, वाराणसी ।

निरूक्तकार आचार्य यास्क तो मात्र तीन देवताओं का अस्तित्व मानते हैं - पृथ्वी पर अग्नि , अन्तरिक्ष में वायु तथा इन्द्र (इन्द्रमरूत्) तथा द्युलोक में सूर्य । अपने-अपने लोकों में समस्त उपद्रवों को , ये देवता दूर करते हैं । संभवतः महर्षि यास्क के मन्तव्य की पृष्ठभूमि में ऋग्वेद का यह मंत्र है - सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः (ऋग्वेद 10-15-1) ।

अग्नि , वाय्विन्द्र तथा सूर्य ही तीनों लोकों में अपने एकादश रूपों में अवस्थित रहने के कारण 3×11=33 हो जाते हैं ।[1.]

1. दिव्य अथवा द्युलोकीय (सौर) देवों में द्यौस् , वरूण , मित्र , सूर्य , सवितृ , पूषन् अर्यमा, विष्णु , विवस्वत् , आदित्यगण , उषस् तथा नासत्यौ (आश्विनौ की गणना है । ऋग्वेद के आठ सूक्तों में पूषा की तथा प्रायः बारह सूक्तों में वरूण की स्तुति है । इन दोनो का युग्म ही "मित्रावरूण" के रूप में प्रख्यात है ।

2. अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्द्र , त्रित-आप्त्य , अपांनपात् , मातरिश्वन् , अहिर्बुध्न्य , अजैकपात् , रूद्र , मरूद्गण (वायु तथा वात) पर्जन्य एवं आप के नाम आते हैं ।

ऋग्वेद का सर्वाधिक महान् बलपराक्रमशाली तथा लोकप्रिय देवता इन्द्र है जिसका संस्तवन ऋग्वेद के एक चौथाई सूक्तों में किया गया है । निरूक्तकार यास्क कहते हैं कि बल एवं पराक्रम के जितने भी कार्य हैं , सब इन्द्र के ही हैं ।[2.] वस्तुतः वह भारत का राष्ट्रीय देवता है । इस सन्दर्भ का विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन शोधप्रबन्ध के अन्यान्य अध्यायों में किया जायेगा ।

---

1. ये देवासो दिवि एकादशस्थ पृथिव्यधि एकादश च ।
   अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।।

   - ऋग्वेद 1-199-11

2. या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत् । निरूक्त०

3. पृथ्वीस्थानीय (पार्थिव) देवों के भी दो वर्ग हैं - मूर्त तथा अमूर्त । मूर्त देवों में पृथ्वी , नदियाँ , अग्नि , बृहस्पति , सोम , प्रजापति , त्वष्टा अथवा विश्वकर्मन् आदि आते हैं । अमूर्त देवों (Abstract Deities) में मन्यु एवं श्रद्धा आदि आते हैं ।

अग्नि का ऋग्वेद में इन्द्र के अनन्तर दूसरा स्थान है प्रभावशालिता की दृष्टि से । प्रायः 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है । कहीं-कहीं वह युग्म (इन्द्राग्नी) के रूप में भी आया है । इसके अतिरिक्त प्रायः 120 सूक्तों में सोम का तथा 11 सूक्तों में बृहस्पति का संस्तवन प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त अनुच्छेदों से ऋग्वेद के देवताओं का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है । विस्तारभय से यह प्रसंग अब यहीं समाप्त किया जाता है ।[1] परन्तु ऋग्वेदीय देवताओं के सन्दर्भ में दो तथ्य बड़े महत्त्व के हैं जिसका विवरण हमें ऋग्वेद, ऐतरेय-आरण्यक तथा निरूक्त में प्राप्त होता है । वे तथ्य इस प्रकार हैं -

(क) नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारको
विश्वे सतो महान्त इति ।। ऋग्वेद 8-30-1

अर्थात् कोई भी देवता शिशु अथवा कुमार नहीं होता । सब देवता (प्रभाव , बल एवं पराक्रम में) महान् होते हैं ।

(ख) महद् देवानामसुरत्वमेकम् ।। (ऋग्वेद 3-55-4)

अर्थात् सभी देवताओं का असुरत्व (असून् प्राणान् राति ददाति तस्य भावस्तत्त्वम्) अर्थात् सामर्थ्य एक ही होती है । कोई देवता , अन्य देवता से कम सामर्थ्य अथवा शक्ति वाला नहीं होता है ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - वैदिक माइथालोजी (डॉ० रामकुमार राय द्वारा अनूदित) चौखम्बा-संस्करण, वाराणसी, 1961 ई०

संभवतः इसका एकमात्र कारण यही है कि जगत् के मूल में एक ही शक्ति विद्यमान है और उसी एक देवशक्ति का संस्तवन अनेक रूपों में किया जाता है ।[1] ऐतरेय आरण्यक भी एक ही देवसत्ता की उपासना, ऋग्वेद के उक्थों द्वारा किये जाने का समर्थन करता है ।

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति तथा इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते" जैसे श्रुतिवाक्य भी उपर्युक्त देवविषयक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं । देवविषयक इसी महिमा के कारण बृहद्देवताकार ने स्पष्टतः कहा है कि बिना देवविषयक तात्त्विक ज्ञान के किसी भी लौकिक अथवा वैदिक कर्म का फल प्राप्त नहीं हो सकता -

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ।।

— बृहद्देवता 1-4

वैदिकदेवता : भारतेतर राष्ट्रों में

वैदिक संस्कृति (आर्य-संस्कृति) का प्रचार-प्रसार मुख्यतः तीन क्षेत्रों में हुआ है -

1. ईरान तथा एशिया माइनर ।
2. सप्तसैन्धव-प्रदेश (भारत)
3. बृहत्तर-भारत (सुवर्णद्वीप, चम्पा, कम्बुज आदि)

इस सन्दर्भ में पुष्कल ग्रंथ लिखे जा चुके हैं कि ईरान तथा आर्यन् (=आर्य) संस्कृति एवं धर्म का मूलस्त्रोत कभी एक रहा होगा । एक ओर जहाँ प्रसिद्ध भारतीय वेदमनीषी बालगंगाधर तिलक अपने प्रख्यात ग्रंथ "आर्कटिक होम इन दि वेदाज़" तथा "ओरियन्" में उत्तरी ध्रुव प्रदेश को ही आर्यों की मूलभूमि मानते हैं वहीं डॉ० कीथ, श्रोएडर, ग्रिसवोल्ड तथा हिलब्राण्ड्ट आदि पाश्चात्य वेदज्ञ मध्येशिया (Asia Minor) को ही आर्यों की मूलभूमि मानते हैं तथा कालान्तर में उन्हें एशिया माइनर तथा ईरान

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य-निरुक्त 7-4-8-9
स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति स्वामिदयानन्दविरचिता ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

होते हुए भारत में स्थापित होने की बात कहते हैं । तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो भारत को ही मूल आर्यदेश मानते हैं और यहीं से उनके ईरान तथा मध्येशिया तक फैलने का तथ्य प्रतिपादित करते हैं ।

यद्यपि यह सन्दर्भ प्रस्तुत शोधविषय से आपाततः असम्बद्ध सा प्रतीत होता है , परन्तु इसका संक्षिप्त विवेचन इसलिये अपेक्षित प्रतीत होता है ताकि वैदिक देवता इन्द्र के विश्वजनीन प्रभाव को रेखाङ्कित किया जा सके ।

स्व0 बालगंगाधर तिलक ने इन्द्र-वृत्र सन्दर्भ के आधार पर अपना यह मत स्थापित किया है कि उत्तरी ध्रुवप्रदेश ही आर्यों का मूल निवास-स्थान था । ध्रुव-प्रदेश में छ मास का दिन तथा उतने ही मास की रात्रि होती है । सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद भी एक-एक महीने तक सूर्य का प्रकाश अंशतः बना रहता है ।[1] फलतः गहन अन्धकार मात्र चार महीने ही रहता है । इसप्रकार चार + चार = आठ महीने का प्रकाश एवं चार महीने का अन्धकार ध्रुव-प्रदेश में रहता है ।

इसी तथ्य की अभिव्यक्ति हम ऋग्वेद में पाते हैं जहाँ यह कहा गया है कि विष्णु का तृतीय पद सर्वथा अदृश्य होता है , केवल दो ही पद दृष्टिगोचर होते हैं -

> द्वे इदमस्य क्रमणे स्वर्दृशो अभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
> तृतीयमस्य नकिरादधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ।।
>
> - ऋग्वेद 1-155-5

इस प्रसंग की सविस्तर व्याख्या डॉ0 गयाचरण त्रिपाठी ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है , अतएव यह सन्दर्भ यहीं समाप्त किया जा रहा है ।[2]

---

1. तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।
   यतः परि जार इवाचरंती उषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ।।

   - ऋग्वेद 7-76-3

2. सविस्तर द्रष्टव्यः वैदिक देवता - उद्भव और विकास, पृ0-155-156
   भारतीय विद्या-प्रकाशन दिल्ली , 1981 ई0

ईरान तथा एशिया माइनर में वैदिक देवता

प्रॉग वि0 विद्यालय (चेकोस्लावाकिया) के प्रोफेसर ह्राज़्नी ने तुर्की के बोगाज़कोई नामक प्राचीन ध्वंसावशेषों की खुदाई कराई । यह नगर ईसा से लगभग 1600 वर्ष पूर्व हित्ती-साम्राज्य की राजधानी था । इस खुदाई में प्रो0 ह्राज़्नी को एक मृत्फलक प्राप्त हुआ जिस पर कीलाक्षरों में वैदिक देवताओं मि-इत्-र (मित्र) उ - रु - व - न (वरूण) इन्-द-र (इन्द्र) तथा ना-स-अत्-ति-या (नासत्यौ) के नाम खुदे हुए थे ।

प्रो0 ह्राज़्नी की रिपोर्ट 1905 ई0 में प्रकाशित हुई तो सम्पूर्ण संसार का ध्यान उस विस्मयावह रहस्य की ओर आकृष्ट हुआ । इस रिपोर्ट में विविध स्त्रोतों से अध्ययन करके इस रहस्य का उद्घाटन किया गया था कि हित्ती तथा मितानी साम्राज्य एशिया माइनर में ई0 पू0 16वीं शती तक विद्यमान थे । ये साम्राज्य सदियों से परस्पर संघर्षरत थे । अन्ततः हित्ती-नरेश ने अपनी कन्या का विवाह मितानी राजा सुब्बिलुलिउमा से सम्पन्न कर सन्धि कर ली ।

उत्खनन से प्राप्त मृत्फलक वही सन्धिपत्र था जिस पर अनेक बेबीलोनियन तथा हित्ती देवताओं के साथ मितानी देवताओं मित्र-वरूणादि का भी उल्लेख सन्धिसाक्षी के रूप में किया गया था ।

बोगाज़कोई से सम्बद्ध समूचे विवरण को उपन्यस्त करते हुए डॉ0 जी0 सी0 त्रिपाठी ने इन्द्रादि देवों के विषय में, विदेशी विद्वानों के हवाले से जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इसप्रकार हैं -

(1) प्रो0 जैक्सन का कहना है कि इस मृत्फलक पर टंकित देवताओं का ईरान के प्राचीन पारसी-धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है और ये देवता विशुद्ध रूप से वैदिक देवता ही हैं । सबसे बड़ी बात तो यह है कि अवेस्ता में इन्द्र नाम का कोई देवता उपलब्ध नहीं। यदि कहीं हैं भी तो वह राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त है ।

(2) प्रो0 स्टेनकोनो ने बोगाज़कोई के इस मृत्फलकीय विवरण पर, ऋग्वेद के सूर्यासूक्त (10-85) में वर्णित सोम तथा सूर्या (उषा) के विवाह का प्रभाव निरूपित

किया है । इस विवाह में अश्विनौ का उल्लेख पुरोहित के रूप में हुआ है । संभव है कि अश्विनौ के वैवाहिक साक्षित्व को ही दृष्टि में रखकर , हित्ती एवं मितानी परिवारों के बीच सम्पन्न हुए इस विवाह-सम्बन्ध में अश्विनौ तथा अन्य वैदिक देवों का उल्लेख हुआ हो ।

§3§ सन्धिपत्र में मितानी नरेश को "हैरी" जाति का बताया गया है । विन्क्लर का मत है कि "हैरी" आर्य शब्द का ही अपभ्रंश है । निश्चय ही मितानी जाति के लोग भारतीय आर्यों के ही कुल से सम्बद्ध थे , जो किन्हीं कारणों से घूमते-फिरते एशिया माइनर में स्थिर हो गये थे ।

भारतीय आर्यों के पश्चिम दिशा में प्रव्रजन के सन्दर्भ में प्रो० विण्टरनित्ज़ तथा हिलब्राण्ड्ट ने प्रभूत अन्वेषण किये हैं । सुमेरू सभ्यता के मृत्फलकों पर कतिपय इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का नामोल्लेख होना तथा 1600 वर्ष ई० पू० में ईराक के बेबिलोनिया नामक नगर को जीत कर अपनी राजधानी बनाने वाले मध्येशिया के कस्सुओं §KASSITES§ का सूर्य एवं मरूत् आदि वैदिक देवों का उपासक होना यही सिद्ध करता है कि भारतीय आर्यधर्म उस समय समूचे ऐशिया माइनर तथा पश्चिम एशिया में फैल चुका था ।

§4§ बोगाज़कोई के मृत्फलक की सबसे बड़ी विशेषता है - मित्र के साथ वरूण तथा इन्द्र के साथ नासत्यौ का उल्लेख होना । इन युग्मों की एक साथ स्तुति हम ऋग्वेद में ही पाते हैं । इस अविनाभाव को भी दृष्टि में रखकर हरमन जैकोबी , हिलब्राण्ड्ट तथा विण्टरनित्ज़ का यही दृढमत है कि एशिया माइनर में लोकप्रिय तथा समर्चित ये देवता भारतीय ही हैं ।[1]

एशिया माइनर को ही भाँति प्राचीन ईरान में भी वैदिक देवों की प्रतिष्ठा थी । जैसाकि ऊपर आर्यों के भारत से ईरान अथवा ईरान से भारत आने के सन्दर्भ में विद्वानों

---

1. उपर्युक्त विवरणों की विस्तृत समीक्षा के लिये द्रष्टव्य - वैदिक देवता : उद्भव और विकास , पृ०-50-53 §डॉ० गयाचरण त्रिपाठी§

की दो समानान्तर विचारधाराओं का उल्लेख किया गया है , उससे इतना तो सिद्ध ही है कि ईरान तथा भारत के प्राचीन धर्मों में प्रभूत साम्य था । अधिक संभावना इसी बात की है कि भारतीय आर्यों की ही कोई शाखा , परिस्थिति-विशेष में भारत से निकलकर पश्चिमी दिशा में चली गई और वहाँ उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की । इस सन्दर्भ में प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है जिसका उल्लेख डॉ0 त्रिपाठी ने अपने ग्रंथ में किया है ।[1] यह विवरण प्राचीन पारसी धर्म का स्वरूप समझने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी तथा रोचक भी है ।

भारतीय आर्यों की ही तरह ईरानवासी भी प्रकृति के अणु-अणु में देवत्व की दृष्टि रखते थे । पारसियों का धर्मग्रंथ अवेस्ता तथा ऋग्वेद की भाषा में संस्कृत एवं प्राकृत जैसा बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव दिखाई पड़ता है । अवेस्ता में हफ्तहिन्दु (सप्तसिन्धु) तथा वेद का भी उल्लेख प्राप्त होता है । पारसीधर्म के संस्थापक जरथुष्ट्र (ई0 पू0 1000 वर्ष) को भी इस रहस्य का ज्ञान था कि वेद उसके पूर्वजों की कृति है -

अजॅम चीत् अह्या मज़दा थ्वाम् मइ्ऽही पओर्वीम् वएदम् ।
- अवेस्ता , यस्न 29-10

अहं चित् अस्याः महद्त्वाममंसि पौर्व्यं वेदम् (संस्कृत)

अर्थात् हे असुर महान् (अहुरमज्दा) मैं तुम्हारा तथा आदिज्ञान के स्त्रोत वेद का ध्यान करता हूँ ।[2]

ईसा से प्रायः 2000 वर्ष पूर्व ईरान में मीडियनों का निवास था जिन्हें असीरिया के शिलालेखों में मदा , अमदा अथवा मीड कहा गया है । ए0 एच0 सैसे के मतानुसार मदा अथवा मीडियन वोगाज़कोई (15वीं शती ई0 पू0) की ही आर्यशाखा थी जो कालान्तर में ईरान में आकर बस गई थी । मागी इसी जाति के पुरोहित थे । ये पुरोहित शुद्ध सात्त्विक देवोपासना की तुलना में इन्द्रजाल तथा अभिचारकर्म के अधिक पक्षधर थे ।

---

1. द्रष्टव्य : वैदिक देवता : उद्भव और विकास , पृ0-59 से 80 तक।
2. वैदिक ओरिजिन ऑफ जोरेस्ट्रियनिज़्म । लेखक आर0 आर0 कश्यप । लाहौर (उद्धृत डॉ0 त्रिपाठी की पुस्तक , पृ0-59)

भारतीय आर्यशाखा के ईरान में प्रविष्ट होने पर दोनों वर्गों के बीच संघर्ष, प्रतिस्पर्धा और अन्ततः सामञ्जस्य भी हुआ । ई० पू० 1000 ई० के आसपास ईरान के औदीच्य प्रदेश बैक्ट्रिया में उत्पन्न जरथुष्ट्र महान् ने एक प्रभावशाली धार्मिक क्रान्ति करके मागियों के अन्धविश्वासों, अभिचार-कर्मों तथा विकृतियों का अन्त किया तथा एक नवीन उदार धर्म को संस्थापित किया जो एकेश्वरवाद की नींव पर आश्रित था । जरथुष्ट्र ने अहुर मज़्दा (असुर मेधस्) को ही सृष्टि का नियामक तथा अर्त (वैदिक ऋतम्) को सृष्टि का मूल तत्त्व माना ।

जरथुष्ट्र का यही नवीन धर्म मज्दा-यस्न (मेधस्-यज्ञ) के नाम से विख्यात हुआ । अहुर-मज़्दा के साथ हुए जरथुष्ट्र के सामाधिक अतीन्द्रिय-संवादों तथा विविध देवस्तुतियों का ही संकलन पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता में विद्यमान है ।

जरथुष्ट्र का धर्म द्वैतवादी है जिसमें सात्त्विक एवं तामस प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि अहुर-मज़्दा तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी दएव[1] (=देव) अंग्रामइन्यु के सतत संघर्ष का चित्रण है । अहुर-मज़्दा तथा अंग्रामइन्यु दोनो ही अपने सहायकों के साथ अपना कार्य करते हैं ।[2] सत् और असत् का यह संघर्ष सृष्टि में निरन्तर चलता रहता है । संभवतः ख्रिस्तधर्म (बाइबिल) में निरूपित गॉड तथा सैटन (शैतान) का संघर्ष अवेस्ता से ही प्रभावित है ।

यूनानी इतिहासकार प्लिनी के प्रमाणानुसार अवेस्ता पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुस्त्र की शिक्षाओं, उपदेशों तथा उसकी गहन आध्यात्मिक अनुभूतियों का संकलन है । उसने बीस बार में पूरे एक लाख पदों की रचना की थी । ये पद बारह हजार गोचर्मों पर अंकित थे, ऐसा अरब इतिहासकार टबरी का कथन है । चौथी शती ई० पू० (सन् 326 ई० पू०) में अलक्षेन्द्र ने ईरान पर आक्रमण करके, अवेस्ता की मूल प्रतियों को जलवा दिया और 642 ई० में अरब आक्रान्ताओं ने ईरान को तहस-नहस कर, सौ वर्षों के भीतर ही उसका इस्लामीकरण कर डाला ।

---

1. पारसी धर्म में असुर (अहुर) तथा दएव (देव) का अर्थ भारतीय अवधारणा के ठीक विपरीत है ।

2. अर्त (ऋत) वोहुमन (सद्विचार) ख्वाश्र बइर्य (राज्य) आरमइति (मैत्री) हउर्वतात् (आनन्द) तथा अमर्तात् (अमरता) अहुर मज्दा के सहायक हैं । इसीप्रकार अश्मा, अकमनः, दुश्यास्तां, अपाओषा, नसु तथा यातु (भूतप्रेत) अंगा० के सहायक *

कट्टर पारसी धर्मावलम्बी यथाकथञ्चित् भाग कर भारत आ गए और सौराष्ट्र-प्रदेश में बस गए । मूल अवेस्ता के 21 खण्डों {नस्क} में से मात्र 19वाँ खण्ड {वेन्दिदाद} ही सुरक्षित बच सका, जिसे ये पारसी अपने साथ ले आये थे । वर्तमान अवेस्ता में कुल पाँच खण्ड हैं – यस्न {यज्ञ} विस्परेद {विश्वेदेव} वेन्दिदाद {दैत्यनाशक नियम} यश्त {स्तुति} तथा खुर्दा अवेस्ता {क्षुद्र-अवेस्ता} ।

अवेस्ता में जिन देवताओं की स्तुति की गई है उनके नाम हैं – अहुर-मज़्दा {असुर मेधा} मिथ्र {मित्र} हओम {सोम} आतर {अग्नि} यिम {यम} वीवङ्हवन्त {विवस्वान्} ऐर्यमन् {अर्यमा} अपाम् नपत {अपांनपात} वैरेथ्रेग्न {वृत्रघ्न अथवा इन्द्र} ह्वर् {स्वर् अथवा सूर्य} वयु {वायु} उशह् {उषस्} आरमइति {अरमति[1] अथवा पृथ्वी} थ्रित आथ्व्य {त्रित आप्त्य} ।

इन प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त कुछ अप्रमुख देव भी अवेस्ता में आये हैं जैसे बग {भग} इन्द्र, नाओङ्हैथ्या {नासत्यौ} पारेन्दी {पुरन्धी} कव उशन {काव्य उशना} आदि ।

प्राचीन पारसी-धर्म के उपर्युक्त विवेचन से वेद एवं अवेस्ता का तिल-तिल साम्य होना सर्वथा प्रमाणित हो जाता है । वृत्रघ्न के रूप में ऋग्वेद के सर्वाधिक महान् देवता इन्द्र का भी यशोगान हम प्राचीन पारसीधर्म में पाते हैं ।

एशिया माइनर तथा ईरान में वैदिक देवोपासना के अनन्तर सप्तसिन्धु-प्रदेश अथवा भारत का क्रम आता है । यह सन्दर्भ इतना सुपरिचित है कि इसके विषय में कुछ कहना पिष्टपेषण मात्र होगा । सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय भारत में ही वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार की गाथा है । अतएव, अब बृहत्तर-भारत के राष्ट्रों में वैदिक देवोपासना की चर्चा की जा रही है ।

---

1. प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वम् । ऋग्वेद 7-36-8
   अरमतिम् उपरतिरहितां महीं महतीभूमिम् {सायणभाष्य}

बृहत्तर भारत में वैदिक देवोपासना

बृहत्तर भारत का तात्पर्य है भारतीय धर्म , संस्कृति एवं शासन के अन्तर्गत आने वाले भारतेतर राष्ट्र । ये राष्ट्र प्रशान्त महासागर में बिखरे वे द्वीप हैं जो प्रायः ईसा की प्रथम शती से 15वीं शती तक भारतीय राजवंशों की छत्रच्छाया में फलते-फूलते रहे । पूर्वी एशिया महाद्वीप के भी अनेक भूखण्ड भारतीय-साम्राज्य के अंग रहे ।

बृहत्तर भारत के राष्ट्रों की जानकारी के तीन प्रमुख स्त्रोत हैं - भारतीय , यूनानी तथा अरबी ।

महावंश, दिव्यावदान , लंकावतार तथा रामायण आदि भारतीय ग्रंथों में प्रशान्तमहासागरीय द्वीपों का विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता है । रामायण के किष्किन्धा-काण्ड में , सीतान्वेषण के प्रसंग में , सुग्रीव विनत नामक वानर-सेनापति को पूर्वी समुद्र में अवस्थित सुवर्णद्वीप, यवद्वीप , शिशिर-पर्वत , निषध-पर्वत , सुदर्शन-सरोवर , उदयवर्ष तथा उदयाचल का विस्तृत परिचय देता है । यह वर्णन अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से वर्तमान इण्डोनेशिया के विभिन्न द्वीपों, पर्वतों एवं सरोवरों की पहचान कराता है ।

बौद्धग्रन्थों में इन द्वीपों की दुर्गम यात्राओं का वर्णन करते हुए , वहां की गहरी नदियों , दुरधिगम्य पर्वतशिखरों तथा अन्यान्य भौगोलिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है । ये भयावह यात्राएं वेणुपथ , मेषपथ तथा अजापथ के माध्यम से सम्पन्न होती थीं ।

बौद्धग्रन्थों में इन द्वीपों की दुर्गम यात्राओं का वर्णन करते हुए , वहां की गहरी नदियों , दुरधिगम्य पर्वतशिखरों तथा अन्यान्य भौगोलिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है । ये भयावह यात्राएं वेणुपथ , मेषपथ तथा अजापथ के माध्यम से सम्पन्न होती थीं ।

यूनानी इतिहासकार प्लिनी , टालमी तथा पेरिप्लस ने भी इन प्रशान्तमहासागरीय रहस्यात्मक द्वीपों का भरपूर वर्णन किया है । इसी प्रकार याकूत , शहरयार तथा अलबरूनी ने भी "जाबुज" (श्रीविजय) के सन्दर्भ में प्रभूत जानकारियाँ दी हैं । परन्तु इन तीनों ही स्त्रोतों में सर्वाधिक महत्त्व भारतीय स्त्रोतों का है । यूनानी तथा अरबी स्त्रोत इन भारतीय स्त्रोतों पर ही आधारित हैं ।[1.]

---

1. विस्तृत जानकारी के लिये देखें - सुवर्णद्वीप (प्रथम-भाग) आर0 सी0 मजूमदार ।

भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही पिता के अनन्तर साम्राज्य का अधिकारी होता था । ऐसी स्थिति में, अन्य राजपुत्रों को आजीवन ज्येष्ठ भ्राता के अधीन रहना होता था । ऐसे ही कुछ महत्त्वाकांक्षी एवं साहसी राजकुमार, अपने साम्राज्य की सीमा से बाहर निकले । उन्होंने कुछ गिने-चुने सामन्तों, पुरोहितों तथा स्वजनों के साथ छोटी-छोटी नावों पर यात्राएँ कीं और जीवन-मरण के बीच संघर्ष करते सागर के बीच स्थित द्वीपों पर पहुँचे । वहाँ उन्होंने अपने शौर्य, पराक्रम अथवा पुरोहितों के सदुपदेश से लोगों को प्रभावित किया तथा कालान्तर में साम्राज्य स्थापित किये । यह विवरण जितना लोमहर्षक है, ऐतिहासिक दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण भी । अधिकांश यात्री कलिंग एवं चोल देश के थे, जैसा कि शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

बृहत्तर-भारत के अंगभूत राष्ट्रों में प्रमुख थे — चम्पा (वर्तमान वियतनाम) कम्बुज (कम्बोडिया) सुरवोदय, द्वारावती तथा अयोध्या (तीनों साम्राज्य वर्तमान थाईलैण्ड में अवस्थित थे) कटाहद्वीप[1] (मलेशिया) सुवर्णभूमि (वर्मा) श्रीविजय-साम्राज्य (सुमात्रा) तथा सुवर्ण द्वीप (जावा तथा बाली) ।

पश्चिमी जावा से प्राप्त पूर्णवर्मा का पल्लवलिपि में अंकित एक शिलालेख यह प्रमाणित करता है कि यवद्वीप (जावा) में भारतीय उपनिवेश ईसा की प्रथम शती में स्थापित हुआ । इसी प्रकार चौथी शती ई0 का श्रीमार का शिलालेख (माइसोन मन्दिर से प्राप्त) चम्पा में भारतीय राजवंश की स्थापना को प्रमाणित करता है । कम्बुज में कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण पुरोहित ने प्रथम शती ई0 में साम्राज्यस्थापना की । इसप्रकार उपर्युक्त समस्त द्वीपों में ईसवी शती के प्रथम चार शतकों में ही हिन्दूसाम्राज्य स्थापित हो चुका था । चम्पा और कम्बुज का राजधर्म प्रारम्भ से अन्त तक क्रमशः शैव तथा वैष्णव रहा । महान् जावा-साम्राज्य के चारों राजवंश "मतराम, कडिरी, सिंहसारि तथा मजपहित) उदारवादी रहे । मतरामवंशी नरेश यदि कट्टर शैव थे तो सिंहसारि-नरेश कृतनगर (13वीं शती ई0) शिव-बुद्ध धर्म का अनुयायी था । कडिरी तथा मजपहित वंश के नरेश प्रायः निष्ठावान् वैष्णव थे ।

---

1. मलेशिया का एक प्रान्त अभी भी केड्डाह (KEDDAH) नाम से प्रसिद्ध है । पुराणों में उसी को कटाह-द्वीप कहा गया है । यहाँ शैलेन्द्रों का शासन था ।

प्रायः डेढ़ हजार वर्षों तक भारतीय संस्कृति, धर्म एवं शासन के अन्तर्गत रहने के बाद ये समस्त राष्ट्र 15वीं शती ई0 में एक-एक करके इस्लाम की चपेट में आते गये । जावा का विशाल मजपहित साम्राज्य भी अन्ततः 1478 ई0 में इस्लामी आक्रान्ता फतहिल्लाह द्वारा विनष्ट कर दिया गया । उस समूचे क्षेत्र में एकमात्र बालीद्वीप ﴾इण्डोनेशिया का प्रान्तविशेष﴿ ही बचा है जिसमें आज भी 35 लाख निष्ठावान् हिन्दू रहते हैं जो शैव , वैष्णव तथा बौद्ध वर्गों में बँटे हैं ।

बाली-द्वीप की धर्ममीमांसा से ज्ञात होता है कि वैदिक देवताओं की , भारत जैसी ही , वहाँ भी प्रतिष्ठा है । बाली के हिन्दू आज भटार अतिन्तिय ﴾अचिन्त्य﴿ के उपासक हैं जोकि निराकार शिव का नाम है । यही अचिन्त्य परमेश्वर निष्कल ﴾निर्गुण﴿ से सकल ﴾सगुण﴿ होने पर स्वयं को त्रिधा विभक्त करता है - परमशिव ﴾शंकर﴿ ब्रह्माशिव ﴾ब्रह्मा﴿ तथा सदाशिव ﴾विष्णु﴿ त्रिधा विभाजन के अनन्तर परमेश्वर पुनः स्वयं को अनेक भटारों ﴾देवताओं तथा देवियों﴿ में विभक्त करता है ।

प्रमुख भटार हैं - इन्द्र , वरूण , कबेर ﴾कुबेर﴿ गना ﴾गणेश﴿ रादित्य ﴾आदित्य﴿ काल , कुमार आदि । इसी प्रकार प्रमुख भटारियाँ ﴾देवियाँ﴿ हैं - महिषासुरमर्दिनी , उमा , लक्ष्मी , सरस्वती । देवी दनु झीलों , नहरों , खेतों तथा सिंचाई की अधिष्ठात्री है । इसीप्रकार देवी मेलान्तिङ् व्यापार एवं बाजार की अधिष्ठात्री है ।[1]

बालीद्वीप के मूलनिवासी , जिन्हें "बाली-अगा" कहा जाता है , न तो शैव हैं , न वैष्णव , न ही बौद्ध । वे इन्द्र की पूजा करते हैं । इस विषय में विस्तृत एवं रोचक सामग्री अगले अध्याय में प्रस्तुत की जायेगी ।

---

1. बाली के हिन्दूधर्म का सांगोपांग विवेचन मेरे श्रद्धेय निर्देशक डॉ0 राजेन्द्र मिश्र जी ने "बाली द्वीपे भारतीया संस्कृति" शीर्षक लेख में की है जो धारावाही रूप से संस्कृतश्रीः ﴾श्रीरंगम्, तमिलनाडु﴿ में प्रकाशित होता रहा है । द्रष्टव्य - संस्कृतश्रीः ﴾1988-89 के अंक﴿ ।

मध्यजावा के प्राम्बनान् नामक स्थान में 10वीं शती के विशाल त्रिदेव-मन्दिर आज भी सारे संसार को आकृष्ट करते हैं । इसी प्रकार अंकोरवाट (कम्बोडिया) माइसोन (वियतनाम) तथा पन्तरन् (जावा) के पर्वताकार मन्दिर वैदिक देवताओं की वृहत्तरभारतीय-प्रतिष्ठा के साक्षी हैं । वैदिक-युग में जहाँ इन्द्र सर्वोपरि था, पौराणिक युग में वह देवसेना का सेनापति मात्र रह गया । इन्द्र के स्थान पर शिव अथवा विष्णु की प्रतिष्ठा सर्वोपरि हो गई । परन्तु इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि ई0 पू0 2000 वर्ष से लेकर (एशिया माइनर में वैदिक देवों की प्रतिष्ठा का समय) 15वीं शती ई0 तक वैदिक देवता विश्व के प्रायः अर्धांश में उपासना एवं समर्चना प्राप्त करते रहे । आज उनकी प्रतिष्ठा सिमट कर भारत नेपाल, बाली तथा मारिशस आदि द्वीपों में सीमित हो गई है ।

वैदिक देवता-मीमांसा

वैदिक देवताओं के तीनों वर्गों (द्युस्थान, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी) का परिचय पहले दिया जा चुका है । ऐशिया माइनर, ईरान तथा बृहत्तर भारत के भूखण्डों में भी उनकी प्रतिष्ठा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है । अब एक नया सन्दर्भ प्रस्तुत है ।

यह सर्वस्वीकृत सत्य है कि परवर्ती युग में विकसित सारे दार्शनिक-सम्प्रदाय वेद को ही पृष्ठभूमि मानते हैं । सांख्य का द्वैत-दर्शन, वेदान्त का अद्वैत-दर्शन, पूर्व-मीमांसा का कर्म और यज्ञवाद, न्याय-वैशेषिक का परमाणुवाद तथा योग का चित्तवृत्ति-निरोध (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) सबके सब वेद की ही कोख से पैदा हुए हैं । प्रत्येक दर्शन अपने विचारों और सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये वेदमंत्रों को ही उद्धृत करता है ।

पाश्चात्त्य वेदज्ञों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बहुदेववाद, वरिष्ठदेववाद तथा एकदेववाद (Polytheism, Henotheism and Monotheism) का विकास एक ही आनुपूर्वी में हुआ है और ये तीनों विचारधारायें वेदों में पल्लवित-पुष्पित हुई हैं ।

बहुदेववाद का अर्थ है देवसमूह ﴾ PANTHEON ﴿ में आस्था रखना तथा उनकी समान निष्ठा से पूजा-उपासना करना । इस सिद्धान्त के दर्शन हमें ऋग्वेद के विश्वेदेव सूक्त में होते हैं जहाँ इन्द्र , पूषा , तार्क्ष्य , बृहस्पति एवं अन्यान्य देवों से एक ही साथ स्वस्ति की कामना की गई है ।[1] इसी प्रकार शम् ﴾शान्ति﴿ की कामना में भी अनेक देवताओं की प्रार्थना एक ही साथ दृष्टिगोचर होती है ।[2] एक स्थान पर ऋषि कहता है - "हे विश्वेदेव । हमारे द्वारा वन्दनीय तुम लोग यज्ञ के योग्य हो तथा हिंसक शत्रुओं को खा जाने में समर्थ हो ।"

इति स्तुतासो असथा रिशादसो
ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ।। विश्वे० सूक्त, 8-30-2

परन्तु बहुदेववाद की यह अवधारणा धीरे-धीरे वरिष्ठदेववाद में परिणत हो जाती है । वरिष्ठदेववाद का अर्थ है अनेक देवताओं में से किसी एक को सर्वोपरि मानना । पाश्चात्त्य समीक्षकों ने देवविषयक इस प्रवृत्ति को HENOTHEISM अथवा KATHENOTHEISM नाम दिया है । इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस किसी देवता की बन्दना करता है उसी को सर्वोपरि , सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक समर्थ चित्रित करता है ।"

---

1. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
   स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो ऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।
2. शं धाता शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा आदि ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में इन्द्र को अनेकशः समस्त देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है ।[1] विश्वेदेव सूक्त में देवमाता अदिति को ही सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया गया है ।[2] सोम के विषय में भी कहा गया है कि वही इन्द्र, सूर्य, अग्नि एवं पृथ्वी आदि का निर्माता है ।[3] वरूण को भी कहीं-कहीं सर्वोपरि तथा सर्वसमर्थ प्रदर्शित किया गया है ।[4] यहाँ तक कि ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्पन्न अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् भी स्वयं को सर्वोपरि मानती है -

> अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरूत विश्वदेवैः ।
> अहं मित्रावरूणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।। 1
>
> अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
> अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।। 2
>
> - वाक्सूक्त (ऋग्वेद 10-125)

इस वरिष्ठदेववाद का भी समापन एवं विलय अन्ततः एकदेववाद (Monotheism) में होती है, जहाँ पहुँच कर समस्त देवव्यक्तित्व किसी एक महाशक्ति में विलीन हो जाते हैं । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में (अस्यवामीय-सूक्त) स्पष्टतः कहा गया है -

> इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान् ।
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
>
> - ऋग्वेद 1-164-4

अर्थात् विप्र लोग (विद्वज्जन) उसी एक (परमेश्वर) को कभी इन्द्र, कभी मित्र, कभी वरूण तथा कभी अग्नि कहते हैं । वही दिव्य (परमेश्वर) सुपर्ण गरूत्मान् भी है । उसी को अग्नि, यम तथा मातरिश्वा नाम देते हैं ।

---

1. इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
   इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।। 10-89-20
2. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
   विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। 1.89 13
3. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
   तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।। 8-48-13
4. धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
   प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।। 7 86

दशम मण्डल के ही सूक्त में पुनः कहा गया है कि कविगण अपनी रुचिकर वचनावलियों से एक ही सदात्मक (परमात्मा) को बहुत रूपों में कल्पित कर लेते हैं ।

एकदेववाद की यह अवधारणा ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद[1] अथर्ववेद[2] सामवेद तथा ब्राह्मणादि ग्रंथों में भी पुष्कल रूप से प्रतिपादित हुई है । कालान्तर में यही अवधारणा शङ्कराचार्य के ब्रह्माद्वैत का मूलाधार बनकर प्रतिष्ठित हुई ।

उपर्युक्त वैदिक देवमीमांसा को प्रस्तुत करने का प्रयोजन है इन्द्र की विविध परिस्थितियों का प्रदर्शन । इन्द्र यदि विश्वेदेव सूक्त में समस्त देवताओं के साथ समान प्रतिष्ठा का भाजन है तो अनेक अन्य स्थानों पर उसे "सर्वदेवोत्तर" बताया गया है -

विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।

और अन्ततः इन्द्र परमेश्वर का पर्याय बनकर सबको स्वयं में समेट लेता है ।

ऋग्वेद का प्रमुख देवता : इन्द्र

पिछली व्याख्याओं से यह तथ्य सुस्पष्ट हो गया है कि इन्द्र ऋग्वेद का श्रेष्ठतम देवता है - बल , पौरुष , पराक्रम , माया एवं पुरुरूपता आदि की दृष्टि से । ऋग्वेद के प्रायः (1028 में से) एक चौथाई सूक्तों में इन्द्र के ही गुणोत्कर्ष का गायन किया गया है । वैदिक मंत्रालय अजमेर से प्रकाशित ऋग्वेद की भूमिका में बताया गया है कि ऋग्वेद के 272 सूक्तों के 2884 मंत्रों में केवल इन्द्र की स्तुति की गई है ।[3]

---

1. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
   यत्र देवा अमृतमानशाना तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ - यजु० 32-10.
2. भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्य ।
   भूयानरात्या शच्या; प्रतिस्त्वमिन्द्रासि
   विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ - अथर्व० 13.4.5.(46-47)
3. प्रथम मण्डल के 51 सूक्तों के 483 , द्वि० म० के 18 सूक्तों के 155, तृ० म० के 24 सूक्तों के 237 , च० म० के 15 सूक्तों के 196 , प० म० के 12 सूक्तों के 107 , ष० म० के 31 सूक्तों के 392 , स० म० के 19 सूक्तों के 164 , अ० म० के 53 सूक्तों के 868 तथा दशम मण्डल के 49 सूक्तों के 382 मंत्रों में इन्द्र की स्तुतियाँ हैं ।

ऋग्वेद के प्रथम से आठवें मण्डल तक तथा दशम मण्डल में इन्द्रसूक्त प्रभूत मात्रा में आये हैं । मात्र नवाँ मण्डल , जिसमें मात्र सोमविषयक मंत्र आये हैं , इन्द्रस्तुतियों से रहित है ।

डॉ0 जयदत्त उप्रेती जी ने अपने उत्कृष्ट शोधप्रबन्ध[1] §वेद में इन्द्र§ में अन्यान्य वेदों में भी इन्द्रसम्बन्धी स्तुतियों का जो विवरण दिया है वह इसप्रकार है -

वेद	कुल मंत्र संख्या	इन्द्रस्तुतिपरक मंत्र
1. शुक्लयजुर्वेद §माध्यन्दिन-शाखा§	1975 § 40 अध्याय§	193
2. सामवेद § जैमिनीय-संहिता§	1875	531
3. अथर्ववेद § शौनक-संहिता§	5986	810
योग :-	9837	1534

इसप्रकार यजुर्वेद , सामवेद एवं अथर्ववेद के समस्त मंत्रों का प्रायः 15 प्रतिशत भाग अकेले इन्द्र देवता की स्तुति से सम्बद्ध है ।

इसके अतिरिक्त इन्द्रसम्बन्धी मंत्र उन सूक्तों में भी आये हैं जहाँ वह "युगलदेवता" §DUEL - DEITY § के रूप में किसी अन्य देवता के साथ आया है । इस दृष्टि से §1§ इन्द्रवायू के 21 मंत्र , §2§ इन्द्रावरूणी के 75 मंत्र , §3§ इन्द्राग्नी के 109 मंत्र , §4§ इन्द्राविष्णू के 11 मंत्र , §5§ इन्द्रउषस् के 3 मंत्र , §6§ इन्द्रयज्ञसोम के 9 मंत्र , §7§ इन्द्रविश्वेदेवा के 15 मंत्र , §8§ इन्द्रमरूत् के 11 मंत्र , §9§ इन्द्रापर्वतौ के 1 मंत्र , §10§ इन्द्रपर्जन्यात्मा त्वष्टाऽग्नि के 6 मंत्र , §11§ इन्द्रादिती के 13 मंत्र , §12§ इन्द्र-ब्रह्मणस्पति सोम के 1 मंत्र , §13§ इन्द्रासोमौ के 20 मंत्र, §14§ इन्द्रा-बृहस्पति के

---

1. वेद में इन्द्र : डॉ0 जयदत्त उप्रेती ।
भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली-वाराणसी । प्र0 संस्करण 1985 ई0 ।

11 मंत्र , §15§ इन्द्राब्रह्मणस्पती के 2 मंत्र , §16§ इन्द्रऋणञ्चय के 15 मंत्र , §17§ इन्द्र-कुत्स-उशना वा के 2 मंत्र , §18§ इन्द्रो गावश्च के 2 मंत्र तथा §19§ इन्द्र-वशिष्ठ के 14 मंत्र ऋग्वेद में आये हैं ।[1]

उपर्युक्त विवरण के अनुसार 54 सूक्तों के 340 मंत्रों में इन्द्र की स्तुति युगलदेव के रूप में मिलती है ।

अब यदि ऋग्वेद के इन्द्रमंत्रों , अन्य वेदों के इन्द्रमंत्रों तथा युगलदेवात्मक इन्द्र-मंत्रों को परस्पर जोड़ दिया जाये तो चारों वेदों में इन्द्रमंत्रों की संख्या 4758 आती है -

1.	ऋग्वेद के इन्द्रमंत्र	=	2884
2.	ऋग्वेद के युगलदेवात्मक इन्द्रमन्त्र	=	340
3.	यजुर्वेद के इन्द्रमंत्र	=	193
4.	सामवेद के इन्द्रमंत्र	=	531
5.	अथर्ववेद के इन्द्रमंत्र	=	810
	इन्द्रमंत्रों की कुल संख्या	=	4758

इसप्रकार वैदिक देवताओं में इन्द्र सर्वोपरि सिद्ध होता है । वह शतक्रतु §सौ यज्ञ करने वाला§ है अतएव देवराज है । वह पाताल,मर्त्यलोक तथा स्वर्गलोक का समन्वित रूप से शासक है । चूँकि मर्त्य सृष्टि , देवताओं द्वारा ही नियंत्रित है अतएव देवराज होने के कारण इन्द्र त्रैलोक्य का अधिपति है । अग्नि , वरूण , सोम , सूर्य , कुबेर , बृहस्पति , उषा , सरस्वती , लक्ष्मी , रूद्र , विष्णु - समस्त देवी और देवता विविध ऐश्वर्यों के स्वामी हैं और मनुष्य इन्हीं ऐश्वर्यों तथा समृद्धियों को पाने के लिये देवताओं का अनुग्रह चाहता है । परन्तु ये समस्त देवता इन्द्र के वशवर्ती हैं , फलत वह महान् है , सर्वोपरि है । वह देव तथा मानवसृष्टि का समन्वित रूप से संरक्षक एवं अभिभावक है ।

---

1. इन मंत्रों से सम्बद्ध मण्डल एवं सूक्त-संख्या आदि की विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य वेद में इन्द्र पृ0-14, 15 एवं 16 । डॉ0 जयदत्त उप्रेती ।

स्वर्ग के अधिपति इन्द्र तथा पृथ्वी के अधिपति {भूपविशेष} के पारस्परिक सामञ्जस्य से ही प्रजा का कल्याण संभव है । महाकवि कालिदास अपने अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक नाटक में इन्द्र तथा दुष्यन्त {पृथ्वी का सम्राट्} के परस्पर-संभावन से ही सृष्टि के कल्याण एवं मंगल की कामना करते हैं । महाराज दुष्यन्त को आशीर्वाद देते हुए महर्षि मारीच {कश्यप} कहते हैं -

> तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः समन्तात्
> त्वमपि विततयज्ञैर्वज्रिणं प्रीणयस्व ।
> युगशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
> र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीमौ ।। शाकु0 7-34

अर्थात् विडौजा {इन्द्र} तुम्हारे साम्राज्य में {पृथ्वी पर} चतुर्दिक् भरपूर वर्षा करें और {हे राजन्} तुम भी सांगोपांग यज्ञों द्वारा वज्रधारी इन्द्र को प्रसन्न रखो । इसप्रकार , एक-दूसरे का उपकार करते हुए तुम दोनों ही , सैकड़ों युगों तक स्वर्ग एवं पृथ्वीलोक के प्रति अनुग्रह-भाव से , प्रशंसा के पात्र बनो ।

प्रस्तुत शोधकार्य : अपेक्षा एवं औचित्य

देवराज इन्द्र पर शोधकार्य करने की प्रेरणा मुझे पूज्य गुरूवर्य {तथा श्रद्धेय पितृव्यचरण} अभिराज डॉ0 राजेन्द्र मिश्र से मिली , जो सौभाग्यवश मेरे शोधनिर्देशक भी हैं । 1988-89 में जब वह भारत-सरकार द्वारा इण्डोनेशिया के बालीद्वीप में उदयन यूनिवर्सिटी में विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त थे - जावा तथा बाली विषयक उनके आलेख निरन्तर धर्मयुग तथा कादम्बिनी जैसी राष्ट्रविश्रुत पत्रिकाओं में छप रहे थे । मैं इन आलेखों को तो रूचिपूर्वक पढ़ता ही था , उसके साथ ही साथ प्रायः प्रतिसप्ताह बाली से आये आदरणीय के पत्रों से भी लाभान्वित होता था । प्रायः इन पत्रों में सामान्य घरेलू चर्चा के अतिरिक्त , अधिकांश भाग डॉ0 मिश्र के यात्रावृत्तों से सम्बद्ध होत था । ऐसे ही एक पत्र में उन्होंने मुझे बालीद्वीप के इन्द्रतीर्थ {तीर्त-एम्पुल} का विस्तृत विवरण तथा वहां के अनेक चित्र भी भेजे ।[1] उसी पत्र में पूज्यपाद ने यह भी लिखा कि

---

1. द्रष्टव्य : बाली द्वीप में इन्द्र {आलेख-डॉ0 राजेन्द्र मिश्र} कादम्बिनी, अप्रैल 89

"मेरी इच्छा है कि तुम देवराज इन्द्र के ही विश्वजनीन व्यक्तित्व पर शोधकार्य करो ।"

प्रस्तुत शोधकार्य उसी आदेश का कार्यान्वयन मात्र है । मेरे शोधकार्य का शीर्षक है - "वैदिक इन्द्रोपाख्यान का उद्भव एवं विकास : एक समीक्षात्मक अध्ययन ।"

यद्यपि वैदिक देवताओं पर आधारित अनेक शोधकार्य सम्पूर्ण देश में सम्पन्न हो चुके हैं । इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी यथाकथंचिद् इन्द्रसूक्तों से सम्बद्ध शोधकार्य हुए हैं । परन्तु सब का क्षेत्र मेरे शोधकार्य से पृथक् है ।

डॉ० जयदत्त उप्रेती ने "वेद में इन्द्र" शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखा है । उनका विवेचन वैदिक-वाङ्मय के प्रतिपाद्य § TEXT § मात्र में सीमित है । अपने उच्चस्तरीय शोधप्रबन्ध में डॉ० उप्रेती ने संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा साथ-ही-साथ निरूक्त, बृहद्देवता तथा अनुक्रमणियों में उपलब्ध इन्द्रसम्बन्धी उद्धरणों को अध्ययन का विषय बनाया है ।

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी का शोधप्रबन्ध "वैदिक देवता उद्भव और विकास" यद्यपि समस्त वैदिक देवताओं के स्वरूप-विवेचन से सम्बद्ध है, परन्तु प्रसंगतः इन्द्रविषयक बहुमूल्य शोधसामग्री भी प्रस्तुत करता है ।

प्रस्तुत शोधविषय इन्द्र के वैदिक स्वरूप तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसके पौराणिक तथा दृश्य-श्रव्यकाव्यात्मक स्वरूप तक व्याप्त है । वस्तुतः इन्द्रोपाख्यान का वैदिक अंकुर पुराण-वाङ्मय तक आते-आते शत-सहस्र-शाखी वटवृक्ष बन गया है । इतना ही नहीं, अभिजात संस्कृत-वाङ्मय § Classical Sanskrit Literature § की भी विविध शाखाओं §महाकाव्य, खण्डकाव्य, दशरूपक, चम्पू आदि§ में इन्द्र का चरित किसी-न-किसी रूप में वर्णित है ।

इसप्रकार प्रस्तुत शोधकार्य का मात्र एक अध्याय ही §वैदिक इन्द्रोपाख्यान§ उपर्युक्त विद्वज्जनों के शोधकार्यों से साम्य रखता है । परन्तु इस शोधप्रबन्ध के अन्य अध्याय

(पौराणिक-इन्द्रोपाख्यान , लौकिक संस्कृतवाङ्मय में इन्द्रसन्दर्भ , इन्द्रचरित्र की तुलनात्मक समीक्षा तथा विषयोपसंहार) जिस किसी भी रूप में प्रस्तुत होंगे , मेरे अपने प्रयत्न तथा अध्ययन की उपज होंगे ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में , इन्द्रविषयक सारी देश-विदेश की सामग्री को गुम्फित करने का उद्देश्य है । अतएव विद्वज्जन इस शोधकार्य की अपेक्षा तथा औचित्य का समर्थन करेंगे - यह मेरी विनम्र अभ्यर्थना है । गुरूजनों , विद्वज्जनों तथा सततस्वाध्यायी विद्वत्प्रवर अपने शोधनिर्देशक के आशीर्वाद से ही यह महान् कार्य, सामान्य रूप में ही सही , सम्पन्न हो सकेगा ।

⊙

"द्वितीय अध्याय"

वैदिक इन्द्रस्वरूप एवं इन्द्रोपाख्यान

वैदिक इन्द्र-स्वरूप एवं इन्द्रोपाख्यान

चारों वेदसंहिताओं में ऋग्वेद ही प्रधान है । अन्य वेदों के अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से ही आहृत किये गये हैं । जैसा कि पहले निरूपित किया गया है, ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है जिनमें कि द्वितीय से सप्तम तक "वंशमण्डल" (Family Book) के नाम से प्रसिद्ध हैं । वंशमण्डलों को सर्वाधिक प्राचीन एवं ऋग्वेद का हृदय माना जाता है । इनकी एकमात्र विशेषता यह है कि इनके विषय तो भिन्न हैं, परन्तु प्रत्येक मण्डल के मंत्रद्रष्टा ऋषिगण एक ही वंश से सम्बद्ध हैं । इस दृष्टि से गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज तथा वसिष्ठ एवं इनके वंशज ऋषिगण क्रमशः द्वितीय से सप्तम-मण्डल तक सम्बद्ध हैं ।

अष्टम मण्डल के ऋषि कण्व तथा अंगिरा के वंशज हैं । नवम मण्डल, एक अन्य दृष्टि से प्रख्यात है, वह यह कि इस मण्डल के समस्त मंत्र सोम देवता से सम्बद्ध हैं, जिसे पवमान भी कहा गया है । इसी कारण इस मण्डल को "पवमान-मण्डल" की संज्ञा दी गई है ।

प्रथम मण्डल के ऋषि शतार्चिन् कहे गये हैं । षड्गुरुशिष्य की सम्मति में इस मण्डल के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्र द्वारा दृष्ट ऋचाएँ संख्या में सौ से भी अधिक हैं । अतएव छत्रिन्यायेन इस मण्डल के समस्त ऋषियों को शतार्चिन् ही कहा जाता है ।[1]

दशम मण्डल के सूक्तों को भी आचार्य षड्गुरुशिष्य ने दो भागों में विभक्त कर रखा है - महासूक्त तथा क्षुद्रसूक्त। आचार्य के मतानुसार नासदीय सूक्त (10-129) के पूर्ववर्ती समस्त सूक्त "महासूक्त" तथा परवर्ती क्षुद्रसूक्त हैं ।

इन्हीं दश मण्डलों में द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथ्वीस्थानीय विविध देवों की स्तुतियाँ संग्रहीत हैं । द्युस्थानीय देवों में द्यौस्, वरूण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, विष्णु तथा नासत्यौ अथवा अश्विनौ की गणना है । अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अजैकपात्, रूद्र, वायु-वात, पर्जन्य तथा आपस् आते हैं ।

1. आद्यस्य ऋषेः ऋक्शतयोगेन छत्रिन्यायेन शतार्चिनस्सर्वे । द्व्यधिकेऽपि शतोक्तिबाहुल्यात ।

इसीप्रकार पार्थिव देवों में अग्नि, पृथ्वी , सोम , बृहस्पति , धातृ , त्वष्टृ, अ-दिति , दिति , नदियाँ , मन्यु एवं श्रद्धा तथा देवियाँ §रात्रि , वाक् , धिषणा इडा , सिनीवाली , कुहू , पृश्नि , सरण्यू तथा इन्द्राणी आदि§ आती हैं ।

अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्द्र सर्वप्रमुख है । इसकी महनीयता का एकमात्र प्रमाण यही है कि ऋग्वेद की समस्त मंत्रसंख्या का चतुर्थांश केवल इन्द्र के गुणानुवाद में पर्यवसित हुआ है । इन्द्र की स्तुति हम अकेले , युग्मरूप में §इन्द्राग्नी , इन्द्राबृहस्पती, इन्द्रावरुणौ आदि§ तथा समवाय रूप में पाते हैं।अगले अनुच्छेदों में इसी दृष्टि से इन्द्र-विषयक कुछ सामग्री प्रस्तुत की जा रही है ।

इन्द्र : सामान्य , विशिष्ट एवं विशिष्टतम देवता

ऋग्वेद के अधिसंख्य सूक्तों में सामान्यतः इन्द्र का संस्तवन किया गया है । विश्वेदेव-सूक्त में अन्यान्य देवताओं के साथ इन्द्र से भी स्वस्ति §कल्याण§ की कामना की गई है ।[1] अग्नि की वन्दना करने के प्रसंग में भी इन्द्र का स्मरण किया गया है । इन्द्राग्नी-सूक्त §ऋग्वेद 1-21§ में कहा गया है कि इन्द्र और अग्नि दोनों ही महान् हैं , सदस्पती हैं और समाज के रक्षक हैं । वे दोनों राक्षसों को उन्मूलित कर देने में समर्थ हैं -

> ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम् ।
> अप्रजाः सन्त्वत्रिणः ।।
> तेन सत्येन जागृतमधि प्रचेतुने पदे ।
> इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ।।

इन्द्र को वरुण के साथ एक तेजस्वी राजा §आ वां राजानावध्वरे§ स्वतंत्र बृहत् राष्ट्र का स्वामी §ध्रुवो राष्ट्रं बृहदिन्वति§ तथा धन-ऐश्वर्य का दाता मानते हुए

---

1. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
   स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ऋग्वेद 1-89-6

ऋषि कहता है कि हे इन्द्र एवं वरूण आप दोनो हमें उत्तमकोटि का ऐश्वर्य प्रदान करें -

> अस्मे इन्द्रावरूणा विश्ववारं
> रयिं धत्त वसुमन्तं पुरूक्षुम् ।
> प्र य आदित्यो अनृता मिनात्यमिता
> शूरो दयते वसूनि ।। ऋग्वेद 7-84-4

परन्तु इन सामान्य स्तुतियों में इन्द्र का व्यक्तित्त्व पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता । वस्तुतः इन्द्र की महिमा एवं गरिमा का बोध हमें उन सूक्तों से होता है जहाँ उसे अकेले (अद्वितीय) आवाहित किया गया है । ऐसे सूक्त "इन्द्रसूक्त" कहे जाते हैं । इन सूक्तों में महाबली इन्द्र के शौर्य-पराक्रम तथा उसकी शत्रुविजयिनी गाथाओं का मुक्त-कण्ठ से गान किया गया है । इन सूक्तों में प्रस्तुत इन्द्रस्तवन रोमाञ्च एवं पुलकन पैदा कर देता है ।

उत्पन्न होते ही इन्द्र समस्त देवों में प्रमुख बन गया । वह परम मनस्वी , दिव्यगुणों से युक्त , देवताओं का अलंकरण-स्वरूप तथा अपने शारीरिक बल से द्युलोक एवं पृथ्वी को कम्पित कर देने वाला था । उसने व्यथमाना (चंचल) पृथ्वी को सुस्थिर बनाया तथा प्रकुपित अर्थात् स्वेच्छया विचरण करने वाले पंखधारी पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर नियमित कर दिया । विस्तृत अन्तरिक्ष की जिसने रचना की तथा द्युलोक को भी आधार प्रदान किया ।

महर्षि गृत्समद असुरों को इन्द्र का परिचय देते हुए कहते हैं कि वृत्र अथवा आवरणस्वरूप पर्वतों का विनाश करके उसी इन्द्र ने सप्त-सिन्धुओं को प्रवाहित किया । बल दैत्य द्वारा कन्दरा में अवरूद्ध गायों को भी उसी ने मुक्त किया । मेघों में विद्युत-अग्नि उसी ने पैदा की तथा महासमरों में घोर शत्रुओं का विनाश किया ।

जैसे श्वघ्नी व्याध अपने शिकारी कुत्तों से हरिणों का संहार कर डालता है उसी प्रकार इन्द्र भी अपने शत्रुओं के धन-ऐश्वर्य को छीन लेता है ।

इन्द्र का व्यक्तित्व अत्यन्त मायामय है । युद्ध में उसकी माया और छलना के कौशल से मायावी दानव भी स्तब्ध रह जाते हैं । वह सबके देखते ही देखते दृष्टिपथ से ओझल हो जाता है और लोग (शत्रुगण) पूछने लगते हैं — इन्द्र है कहाँ ? जब इन्द्र नहीं दीख पाता तो वे दृढ़ विश्वास कर लेते हैं कि इन्द्र अब नहीं रहा (वह मारा गया) परन्तु तभी इन्द्र अकस्मात् पूरे वेग के साथ उठ खड़ा होता है शत्रुओं के संहार के लिये ![1]

इन्द्र समृद्धिशाली, निर्धनों तथा स्तवन करने वाले ब्राह्मणों का प्रेरक (सहायक) है । वह सोमाभिषवी यजमानों का रक्षक है । अश्व , गौ , रथ तथा ग्राम - सब इन्द्र के ही अनुशासन में रहते हैं । वह सूर्य एवं उषा का उत्पादक है तथा "अपानेता" (जलवृष्टि करने वाला है) ।

इन्द्र की सहायता कौन नहीं चाहता ? द्युलोक एवं पृथ्वी , समरांगण में आमने-सामने खड़ी दोनों वैरी सेनाएँ , रथों पर बैठे प्रतिद्वन्द्वी अपनी विजय , सहायता एवं रक्षा के लिये इन्द्र की ही गुहार लगाते हैं । इन्द्र की अनुकूलता के अभाव में कोई भी व्यक्ति विजय नहीं प्राप्त कर पाता है ।

देवराज इन्द्र महापापियों तथा स्वयं को चुनौती देने वाले अहंकारियों का विनाशक है । वह दस्युहन्ता है । स्वयं से भयभीत होकर पर्वतकन्दराओं में छिपे शम्बर को इस इन्द्र ने चालीसवें वर्ष में मार डाला तथा बल-पौरूष का प्रदर्शन करते हुए उसी इन्द्र ने शयन करते हुए दनु के पुत्र (अहिनामक) असुर को मार डाला । हाथ में अमोघ वज्र लेकर इन्द्र ने द्युलोक में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी मार डाला ।

---

1. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
   सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ।। 2-12-4

सात प्रकार के मेघों के नियन्ता[1] इन्द्र ने सप्त सिन्धुओं को प्रवाहित किया । वह सोमरस निकालने वाले यजमान का, पुरोडाश पकाने वाले यजमान का, अपनी रक्षा के लिये इन्द्रस्तुति पढ़ने वाले यजमान का तथा यज्ञकर्ता का रक्षक है । "ब्रह्म" नामक मंत्र इन्द्र को वर्धनशील बनाते हैं ।[2.]

महर्षि गृत्समद इन्द्र के व्यक्तित्व को निरूपित करते हुए बताते हैं कि वह "सुशिप्र" है । आचार्य सायण के मतानुसार सुशिप्र का अर्थ है शोभन चिबुक वाला अथवा शोभन शीर्ष वाला । वह "वज्रबाहु" है (यः रौहिणमस्फुरद् बज्रबाहुः) वह सोमपायी, वज्र के समान दृढ़ भुजाओं वाला तथा वज्रायुध धारण करने वाला है -

य: सोमपा निचितो वज्रबाहु -
र्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ।।

प्रस्तुत सूक्त में इन्द्र को अहि, बल, रौहिण तथा शम्बर नामक दानवों का विनाशक बताया गया है । अहि को प्रायः वृत्र के साथ समीकृत किया गया है और इस वृत्र के विषय में भी अनेक अवधारणायें निरूक्तकार आचार्य यास्क के समय से ही प्रचलित रही हैं । निरूक्त 2-16 में यह विवरण उपलब्ध होता है -

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरूक्ताः । त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मंत्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार । तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः ।

---

1. तैत्तिरीय-आरण्यक में सात मेघों के नाम इसप्रकार गिनाये गये हैं - वराहव, स्वतपस्, विद्युन्महस्, धूपि, श्वापि, गृहमेध तथा शिमिविद्विष् । सायणभाष्य में भी कहा गया है - ते च रश्मयो वाराहव-स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेति इति ये चेमेविमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त.....।

2. इन्द्र-सम्बन्धी इस विवरण का आधार है - ऋग्वेद 2-12-4 संख्यक सूक्त, जिसके द्रष्टा हैं महर्षि गृत्समद ।

आचार्य यास्क ने नैरूक्त एवं ऐतिहासिक मतों की समीक्षा करते हुए बताया है कि इतिहास-दृष्ट्या तो वृत्र त्वष्टा का पुत्र है । परन्तु निरूक्तदृष्ट्या वह मेघ है । ब्राह्मणग्रन्थ वृत्र को एक भयंकर अहि ﴾अजगर﴿ मानते हैं जिसने अपनी शरीर को फैलाकर जलधाराओं को रोक रखा था । इन्द्र ने उसे मार कर सप्त सिन्धुओं को प्रवाहित कर दिया । प्राकृतिक दृष्टि से अपाम् ﴾जल﴿ एवं ज्योतिष् ﴾विद्युत्﴿ के मिश्रीभाव से ही वर्षा होती है । जब अग्निरूपी विद्युत्-प्रहार होता है तब बादल छिन्न-भिन्न होकर बरसने लगते हैं । मेघ एवं विद्युत् के इसी संघर्ष को वृत्र-इन्द्र-संघर्ष के रूप में कल्पित कर लिया गया है ।

शम्बर का वृत्तान्त दिवोदास की कथा को ही संकेतित करता है । इन्द्र ने दिवोदास की शम्बर से रक्षा की थी । शम्बर अत्यन्त निष्करूण , मायावी तथा नृशंस दानव था । श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में उसका विस्तृत उल्लेख मिलता है । देवर्षि नारद के मुख से कृष्ण के पुत्र ﴾प्रद्युम्न﴿ को अपना "निहन्ता" जान कर , शम्बर ने छठीं के ही दिन वात्या का रूप धारण कर बच्चे को उठा लिया और उसे समुद्र में फेंक दिया । परन्तु वह शिशु एक मत्स्य के उदर में सुरक्षित रहा तथा कालान्तर में उसीने "शाम्बरी-माया" के रहस्यों को जानकर , शम्बर का वध कर डाला ।

शम्बर के अनेक दुर्गों का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है जिन्हें इन्द्र ने नष्ट कर डाला था ।

इन्द्र से सम्बद्ध कुछ अन्य विशिष्ट सूक्तों के आधार पर उसकी अन्यान्य चारित्रिक विशेषतायें परिलक्षित होती हैं । महर्षि नृमेध[1] ﴾ऋग्वेद अष्टम-मण्डल, सूक्त 98﴿ इन्द्र को महान् , मेधावी , विद्वान् , धर्मात्मा , स्तवनीय , सहृदयपालक एवं परमैश्वर्यवान् कहते हैं । वह ज्योतिमण्डल से विभ्राजमान , द्युलोक अथवा सूर्य का प्रकाशक, मेघ के समान चतुर्दिक् व्यापक , सर्वथा अगोपनीय , शत्रुनगरियों का विदारक , स्तुति-सेव्य एवं उपासनीय है । वस्तुतः इन्द्र ही मनुष्यों का सब कुछ है -

---

1. इस सन्दर्भ की विस्तृत समीक्षा के लिये द्रष्टव्य - वेद में इन्द्र पृ0-96 डॉ0 जयदत्त उप्रेती ।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।

त्वं शुष्मिन् पुरूहूत वाजयन्तमुपब्रुवे शतक्रतो
स नो रास्व सुवीर्यम् ।। 12 ऋग्वेद 8-98

महर्षि मधुच्छन्दा [वैश्वामित्र] सम्मिलितरूप से इन्द्र के गुणगान की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इन्द्र श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ [पुरूणां वार्याणामीशानम्] धनप्रदाता तथा सर्वजनप्रार्थनीय है । इन्द्र के सहायक बने रहने पर ही शत्रुगण अश्वों की गति को रोक नहीं पाते हैं ।

प्रस्तुत सूक्त में इन्द्र की कुछ वैयक्तिक विशेषताएँ बताई गई हैं । एक तो यह कि शोभन कर्म एवं शोभन बुद्धि वाला इन्द्र सोमरस पीने के लिये तत्काल ही वृद्ध [बड़ा] बन जाता है । वह अमित कर्म एवं अमित प्रज्ञा वाला है । दूसरी विशेषता यह है कि इन्द्र दधिमिश्रित सोमरस का पान करता है ।

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ।। 4

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ।।5

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ज्येष्ठाय सुक्रतो ।।6

– ऋग्वेद 1-5

प्रथम मण्डल के ही 32वें सूक्त में पुनः एक विशिष्ट देवता के रूप में इन्द्र का गुणानुवाद ऋषि हिरण्यस्तूप आंगिरस द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिसमें प्रकाशित इन्द्रविषयक नवीन तथ्य इसप्रकार हैं – पर्वतों के भीतर आश्रय लेने वाले अहि को [अर्थात् पर्वतों के ऊपर छाये हुए मेघों को] इन्द्र ने छिन्न-भिन्न कर दिया, त्वष्टा द्वारा गढ़े गये हलके वज्र से । तब प्रवाहित जलधाराएँ समुद्र की ओर ऐसे दौड़ चलीं जैसे गायें नवजात बछड़ों की ओर भागती है ।[1]

---

1. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ।।2

इन्द्र ने वर्षा करते हुए "त्रिकद्रुक" नामक यज्ञ में सोमरस का पान किया। उसने अहि (मेघ, वृत्र अथवा सर्पाकार दानव) के वधार्थ हाथ में सायकरूप वज्र को धारण किया तथा उसे मार डाला। इन्द्र ने मायावियों की भी माया को नष्ट कर डाला। फिर तो उसे कोई भी शत्रु शेष ही नहीं मिला।[1]

महासंहारक वज्र से इन्द्र वृत्र को वैसे ही काट फेंकता है जैसे फरसे से काटी गई वृक्ष की डालियाँ भूमि पर गिर पड़ती हैं। इन्द्र से वृत्र की समता करना वैसा ही है जैसा कि किसी क्लीब (नपुंसक) का बलवान् पुरूष से प्रतिस्पर्धा करना।

वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्
पुरूत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥

कलकल निनाद करती हुई नदी जैसे तीव्र वेग से बहती चली जाती है उसी प्रकार इन्द्र द्वारा जर्जर बनाई गई जलधारायें बरसती जाती हैं।[2] वृत्र की माता "सूदानुः" (सूः = जन्मदात्री, दानुः) वृत्र के वज्र-निहत होने पर उसी प्रकार सो गई जैसे गाय अपने बछड़े के साथ सो जाती है।[3] वृत्र जब इन्द्र के वज्र पर प्रतिघात करने लगा तब इन्द्र ने उसे उसीप्रकार दूर भगा दिया जैसे अश्व की पूँछ मक्खियों को दूर भगा देती है।[4]

---

1. वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य।
आ सायकं मघवा दत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजा महीनाम् ॥3 ऋग्वेद 1-32

2. नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रूहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव ॥8

3. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥9

4. अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन् देव एकः।
अजयो गाः अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥12

प्रस्तुत सूक्त में इन्द्र द्वारा सम्पन्न अभूतपूर्व वीरकर्मों की ही प्रशंसा की गई है (इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री) वस्तुतः यह सम्पूर्ण सूक्त समरविजयी इन्द्र का अभिनन्दन-पत्र प्रतीत होता है तथा दुर्गासप्तशती के चतुर्थ अध्याय की स्मृति दिलाता है जिसमें महिषासुरमर्दिनी दुर्गा की इन्द्रादि देवताओं द्वारा भाव-प्रवण स्तुति की गई है ।

इन्द्र के वे अभूतपूर्व "वीरकर्म" क्या हैं ? आचार्य सायण के मतानुसार अहि (=मेघ) का हनन, मेघों से वर्षा करना तथा प्रवहणशीला सरिताओं के कगारों को तोड़ना ही इन्द्र का वीरकर्म है ।

ऐतरेय-ब्राह्मण में इसे इन्द्र का परमप्रिय सूक्त बताया गया है । इसी सूक्त द्वारा रणविजेता इन्द्र का संस्तवन कर ऋषिप्रवर हिरण्यस्तूप आंगिरस इन्द्रलोक को प्राप्त हुए थे ।[1] डॉ० जयदत उप्रेती जी ने इस सन्दर्भ की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण समीक्षा अपने शोधप्रबन्ध में की है ।

भरद्वाज बार्हस्पत्य भी हिरण्यस्तूप-प्रयुक्त इन्द्रविशेषणों का प्रयोग करते हुए कुछ नवीन तथ्य प्रतिपादित करते हैं । उनकी दृष्टि में इन्द्र के समान न तो कोई अन्य देव है और न ही कोई मानव उनसे अधिक महान् अथवा श्रेष्ठ है । प्रकाश एवं उषा को जन्म देने वाला इन्द्र ही वस्तुतः समूचे संसार के मनुष्यों का अधिपति है -

> सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान् ।
> अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम् ।।
>
> त्वमपो विदुरो विषूचीरिन्द्र दृढमरूजः पर्वतस्य ।
> राजा भवो जगतश्चर्षणीनां साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम् ।। ऋग्वेद 6-30-4-5

इन्द्र वेगगामी अश्वों वाला , सोमपायी , श्रेष्ठ दानी , सत्यरूपी धन वाला तथा परमैश्वर्य-सम्पन्न है । वह असंख्य प्रज्ञा-सम्पन्न, सबके हृदय में बसने वाला

---

1. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचमिति सूक्तं शंसति । तद्वा एतत् प्रियमिन्द्रस्य सूक्तं निष्कैवल्यं हैरण्यस्तूपमेतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आंगिरस इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत् । स परमं लोकमजयत् । ऐत० ब्रा० 3-2-24

तथा अन्न , बल , पृथ्वी , उत्तमवाणी एवं गायों को दे सकने में समर्थ देवता है । इन्द्र की कृपा से ही मनुष्य निन्दकों , आलोचकों तथा कृपणों की पकड़ (प्रभाव) से बाहर रह पाता है । इन्द्र जितक्रोध एवं जितशोक है । वह परम व्यापक , महान् साम्राज्य वाला , अनेक विद्याओं में पारंगत तथा महामेधिर है ।[1.]

इन्द्र क्षणभंगुर संसार में नाना पदार्थों का सिरजनहार , ऐश्वर्य - सुखोत्पादक , प्रार्थनीय तथा पूज्य है । ऋषि दुरिम्बिठि काण्व कहते हैं कि -

स: स्तोम्य: स हव्य: सत्य: सत्वा तुविकूर्मि: ।
एकश्चिद् सन्नभिभूति: ।। ऋग्वेद 8-16-8

अर्थात् वह इन्द्र कोई काल्पनिक प्राणी नहीं है । वस्तुत: वह सत्य है , अनेक कर्मों का सम्पादक तथा अकेला ही , बिना किसी की सहायता लिये , सर्वाभिभावी है ।

देवगण , विद्वज्जन - सब इन्द्र का सख्य चाहते हैं । ऐसे महामहिमशाली इन्द्र की कृपा से ही मनुष्य द्वेष करने वाले लोगों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे नौका नदी अथवा सरोवर के उस पार पहुँचा देती है -

स न: पप्रि: पारयाति स्वस्तिनावा पुरूहूत: ।
इन्द्रो विश्वा अतिद्विष: ।। ऋग्वेद 8-16-11

बृहदुक्त वामदेव दैत्यसंहारक इन्द्र की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे मघवन् ! असुरों से भयभीत पृथ्वी एवं द्युलोक जो तुम्हारी शरण में आते हैं , तुम्हारी उसी सुकीर्ति का मैं गान कर रहा हूँ क्योंकि तुमने असुरों को मार कर उनका भय दूर कर दिया तथा प्रजाजनों को जीने का साहस प्रदान किया ।[2.]

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य ऋग्वेद 7-31 (ऋषि वसिष्ठ)

2. तां सु ते कीर्तिं मघवन् महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम् ।
प्रा वो देवां अतिरो दासमोज: प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ।।
- ऋग्वेद 10-54-1

वामदेव द्वारा प्रस्तुत इन्द्र का संस्तवन इन्द्र के विषय में अनेक रहस्यमय तथ्य प्रस्तुत करता है , जो अन्य मंत्रों में नहीं ही आये हैं । ऋषि कहता है कि हे इन्द्र ! जनसमुदाय के बीच अपने पराक्रमों की प्रशंसा करते हुए तथा वृद्धि (ऐश्वर्य) को प्राप्त करते हुए जो तुम विचरण करते हो , जिन्हें लोग तुम्हारा "युद्ध" कहा करते हैं , वह सब मायामात्र है । क्योंकि न ही वर्तमान में तुम अपना कोई शातयिता शत्रु पाते हो और न ही प्राचीनकाल में तुम्हारा कोई शत्रु रहा है ।

हे इन्द्र ! हमारे पूर्वज ऋषियों में भला कौन तुम्हारी महिमा का अन्त पा सके होंगे ? (अर्थात् कोई नहीं) क्योंकि अपने ही शरीर से तुमने अपने माता-पिता (अर्थात् द्युलोक एवं पृथ्वी) को उत्पन्न किया है । हे मघवन् । दूसरों द्वारा अदमनीय, असुर-संहारक तुम्हारे चार नाम हैं । तुम उन समस्त धनों को धारण करते हो जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हैं साथ ही साथ अप्रत्यक्ष भी हैं ।

> यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्र ब्रुवाणो जनेषु ।
> मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ।।2
>
> क उ नु ते महिम्नः समस्यास्मत् पूर्व ऋषयो अन्तमापुः ।
> यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ।।3
>
> – ऋग्वेद 10-54

पद्मभूषण डॉ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी, ऋग्वेद द्वितीय मण्डल में महर्षि गृत्समद द्वारा की गई इन्द्रस्तुतियों का निर्गलितार्थ प्रस्तुत करते हुए कुछ शीर्षस्थ मंत्रों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं जोकि इन्द्र की विशिष्टदेवोचित महिमा एवं गरिमा सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं । इन्द्र समस्त देवताओं का राजा है । उसका नामार्थ ही है परमैश्वर्यशाली । वह "इन्द्र" क्यों और कैसे बना ? इसका मूल आधार है इन्द्र का दुर्लभ चारित्रिक गुण , जिसे हम कुछ शीर्षकों में प्रस्तुत कर सकते हैं । वे इस प्रकार हैं –

1. <u>नृम्णस्य मह्ना स इन्द्रः (2-12-2)</u>

अपने बल एवं पराक्रम के प्रभाव से ही वह इन्द्र कहा जाता है । इन्द्र ने भयावह युद्धों में अहि, वृत्र , शम्बर , नमुचि , शुष्ण, कुयव , रौहिण, नमुचि , बल,

अर्बुद , वृगंद तथा पणि नामक असुरों का विनाश किया । इन्द्र के समस्त युद्ध "धर्मयुद्ध" कहे जा सकते हैं क्योंकि उसका कोई भी युद्ध व्यक्तिगत लाभ के लिये लड़ा गया नहीं प्रतीत होता । वह या तो लोक के योग-क्षेम के लिये युद्ध करता है या फिर अत्याचार के विरूद्ध । अनेक असुरों का विनाश इन्द्र ने मात्र इसलिये किया कि उन्होंने निर्दोष ऋषियों-मुनियों को पीड़ित कर रखा था , उनकी गायें छीन ली थीं {पणि} अथवा उन्हें पर्वत कन्दराओं में बन्द कर रखा था । अनेक युद्ध इन्द्र ने उन नरपतियों की रक्षा के लिये भी किया जो असुरों अथवा दुरभिमानी मदोद्धत राजाओं द्वारा पीड़ित थे और उन्होंने आत्मरक्षार्थ इन्द्र की गुहार लगाई थी । इसप्रकार इन्द्र अकारण युद्ध नहीं करता । वह सच्चे अर्थों में एक धर्मयोद्धा है ।

2. जनासः यस्माद् ऋते न विजयन्ते {2-12-9}

इन्द्र की विशेषता है संकटग्रस्त प्राणियों की रक्षा । "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" ही उसके रणाभियान का मूलमंत्र है । वह आर्तों का सहायक है । दुखियों का सच्चा साथी है । वे आर्त प्राणी चाहे देवता हों चाहे ऋषि , चाहे नृपति हों चाहे साधारण मानव । सच्चे मन से आवाहन करने पर इन्द्र सबकी सहायता करता है ।

3. यः अच्युतच्युत् स इन्द्रः {2-12-9}

इन्द्र का पराक्रम दुर्धर्ष है । उसके पराजित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । वह अच्युतों को भी च्युत कर देने वाला है । एक मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र अपने से तीन गुना अधिक बलशाली शत्रु को भी बड़ी सरलता से पराजित कर देता है । वह असुर-विनाश के ही लिये पैदा हुआ है । उसके सामने बलवान् से बलवान् भी शत्रु स्थिर नहीं रह पाता ।

4. द्यावापृथिवी अस्मै नमेते {2-12-13}

द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी इन्द्र की शक्ति के समक्ष झुक जाते हैं । एक सन्दर्भ में बताया गया है कि प्रारंभ में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अविभक्त ही था । परन्तु पैदा होते

ही महापराक्रमी इन्द्र ने स्वयं को बीच में स्थापित कर उसे द्विधा विभक्त कर दिया। ऊपर का भाग द्युलोक तथा इन्द्र के नीचे का भाग पृथ्वीलोक कहा गया।

5. ते रथः समुद्रैः पर्वतैः न (2-16-3)

इन्द्र की गति दुर्वार है। उसका रथ समुद्रों तथा पर्वतों के अवरोधों से भी नहीं रूक पाता है। उसके बल का कोई अन्त नहीं है (न ते शवसामन्तः) वह सचमुच दुर्धर्ष एवं अपराजेय है।[1]

उपर्युक्त शीर्षकों से देवराज इन्द्र की विशेषताओं का बोध होता है। इसके अतिरिक्त भी उसके अनन्त चारित्रिक गुण हैं जिनकी विस्तृत चर्चा यथावसर आगे की जायेगी।

अभी तक इन्द्र के सामान्य एवं विशिष्ट रूपों की प्रामाणिक समीक्षा की गई। अब उन सन्दर्भों को उपन्यस्त किया जा रहा है जिनमें इन्द्र को विशिष्टतम अथवा सर्वदेवमय स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इस रूप में इन्द्र एकेश्वरबाद का पर्याय बन जाता है।

इदि (ऐश्वर्ये) धातु से औणादिक मत्वर्थक इन् प्रत्यय करने से इन्द्र शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ के ही कारण आगे चलकर इन्द्र को परमेश्वर का पर्याय मान लिया गया।[2] यद्यपि एकेश्वरवाद (MONOTHEISM) की यह अवधारणा कभी पवमान सोम[3] पर तो कभी देवमाता अदिति[4] पर भी केन्द्रित हुई दीखती है और कभी-कभी "एको देवः"[5] के रूप में समस्त देवों को अपना संघटक बना

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य : ऋग्वेद द्वितीय-मण्डल (उपसंहार) डॉ० सातवलेकर। पृ०-133
2. यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः।
3. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताऽग्नेः जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥ ऋग्वेद 9-96-5
4. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् अदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
सर्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातम् अदितिर्जनित्वम्॥ विश्वेदेवसूक्त 1-89-10
5. इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्वेद 1-164-146
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशाना तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ यजुर्वेद 32-10

लेती है । तथापि तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इन्द्र ही परमेश्वर के रूप में रूपान्तरित हुआ है ।

विशिष्टतम अथवा परमेश्वर-कल्प इन्द्र के सन्दर्भ में संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, वेदाङ्गों तथा अनुक्रमणियों में पुष्कल सामग्री प्रस्तुत की गई है । सबका संकलन एवं व्याख्यान कर पाना सर्वथा असंभव है । तथापि कुछ प्रमुख सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

ऋग्वेद 10-89-10 में स्पष्टतः इन्द्र को द्युलोक, पृथ्वी, अपाम्, पर्वत आदि सबका स्वामी माना गया है -

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।।

इन्द्र ही समस्त संसार का माता एवं पिता है । उसी का संस्तवन करना उचित है -

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा त सुम्नमीमहे ।। ऋग्वेद 8-98-11

इन्द्र ही यज्ञियों (जिसके निमित्त यज्ञ करणीय हों) में यज्ञिय है, अच्युतों का भी च्यवन (च्युत करने वाला) है, सत्त्वों का केतु (अग्रणी) तथा चर्षणियों (तेजस्वियों) का वृषभ (श्रेष्ठ) है ।

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्त्वानामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ।। ऋग्वेद 8-96-4

परमेश्वरस्वरूप इन्द्र ही द्युलोक एवं पृथ्वी का निर्माता है । ऋग्वेद 8-36-4 में स्पष्टतः कहा गया है - जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । इसी तथ्य को तृतीय मण्डल के 32 सूक्त में भी व्यक्त किया गया है -

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे ।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः ।।

इन्द्र की महिमा और गरिमा का बोध इस बात से ही हो जाता है कि उत्कृष्ट, निकृष्ट , मध्यम, बैठे हुए , संचरणशील , घर में स्थित अथवा समरांगण में युद्धरत - सब के सब अपनी रक्षा तथा अभ्युदय के लिये उसका आवाहन करते रहते हैं -

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्त उत युद्ध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ।। ऋग्वेद 4-25-8

इन्द्र ने ही अपनी महिमा से द्युलोक एवं पृथ्वी को निर्मित किया , सूर्य को प्रकाशित किया , समस्त भुवनों को नियमित किया तथा ओषधियों को ((सोम आदि)) संजीवनशक्ति से सँवारा ।

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ।। ऋग्वेद 8-3-6

इन्द्र ही ब्रह्मा है , इन्द्र ही सबसे बड़ा ऋषि ((द्रष्टा)) है तथा गरिमामयी वाणी द्वारा उपस्तुत महान् देवता है । यदि सैकड़ों द्युलोक हो जायें तथा सैकड़ो धरित्रियाँ हो जायें । चाहे सैकड़ों सूर्य ही क्यों न उदित हो जायें - तथापि वे सब वज्रधारी इन्द्र की समता नहीं ही कर सकते ।

इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरूहूतः ।
महान् महीभिः शचीभिः ।। ऋग्वेद 8-16-7

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन् ! सहस्त्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ।। ऋग्वेद 8-100-5

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी इन्द्र का परमैश्वर्य निरूपित किया गया है । काण्वसंहिता ((1-7-6-3)) में इन्द्र को ही सर्वदेव-वरणीय माना गया है । वरूण, मित्र अग्नि, बृहस्पति - सब इन्द्र से अभिन्न हैं । इस प्रकार इन्द्र ही विराट् पुरूष अथवा परमेश्वर है -

स प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरूणो मित्रोऽग्निः ।
स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत ।।

कृष्णयजुर्वेद की तैत्ति0 संहिता में इन्द्र को ही चराचर सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, जन-कल्याणकारी तथा केवल §एकमात्र§ इष्ट देव माना गया है -

इन्द्रं वो विश्वतस्पतिं हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ।। तैत्ति0 1-6-12-1

सामवेद में इन्द्र को परमेश्वर स्वीकार करते हुए कहा गया है कि हे इन्द्र! तुमसे अधिक श्रेष्ठ §उत्तर§ और कोई नहीं , और न ही कोई तुमसे अधिक महान् है । सचमुच जैसे तुम हो , वैसा और कोई§दूसरा§ नहीं है ।

न कि इन्द्र ! त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।
न क्येव यथा त्वम् ।। सामवेद 2-9-10-203

त्वमंग प्रशंषिसो देव शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।। सामवेद 3-2-5-247

इन्द्र §परमेश्वरस्वरूप§ ही समुत्पन्न अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर एवं अगोचर §सूक्ष्म§ सृष्टि का कर्ता है । वही सबका स्वामी है । समस्त मानवों का सम्राट् वही है । जो इन्द्र की स्तुति करते हैं अथवा नहीं भी करते §नास्तिक हैं , सन्देहवादी हैं § वह उन दोनो का ही स्वामी है ।

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ।। 11-2-10-1356

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुः ऋषये ये च तुष्टुवुः ।
ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ।। 14-1-14-1502 सामवेद §वाराणसी सं0 1950§

अथर्ववेद राजाधिराज[1] के रूप में इन्द्र का संस्तवन करता हुआ , अन्ततः समूचे विश्व को उसी का लीलाविलास मान लेता है । एक अद्भुत परमेश्वरीय अभिव्यक्ति है इन्द्रविषयक !

---

1. इन्द्रो जयति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयार्तम् ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ।।
त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरतिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ।। अथर्व0 6-69-1-2

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्र जालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ।। अथर्व0 8-8-8

एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि हे इन्द्र ! आप अमरणधर्मा , मरणधर्मा प्राणियों से महान् , सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् (परमेश्वर) हैं । आप सूर्य एवं वायु आदि से भी प्रवर हैं ।

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ।
भूयानरात्या शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि ॥
विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ - अथर्व0 13-4-5-46-47

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में तो एक पूरा का पूरा सूक्त "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः अर्थात् इन्द्र सबसे महान् (श्रेष्ठ) है" वाक्य से समाप्त होता है । इस सन्दर्भ में इन्द्रविषयक जो निष्कर्ष डॉ0 जयदत्त उप्रेती ने प्रस्तुत किया है , वह सर्वथा युक्तियुक्त तथा उद्धृत करने योग्य है -"इसप्रकार ब्रह्माण्ड में ब्रह्म , देह में जीवात्मा , मन तथा वाणी , सौरमण्डल में सूर्य , विद्युत् और वायु तथा लोक में राजा या राष्ट्राधिपति - ये सब इन्द्र के ही भिन्न-भिन्न श्रेष्ठ रूप हैं जो ऋग्वेद की ही भांति अथर्ववेद में भी समानरूप से समुपवर्णित एवं संस्तुत हैं ।"

- डॉ0 जयदत्त उप्रेती (वेद में इन्द्र , पृ0 185)

ब्राह्मणों , आरण्यकों , उपनिषदों तथा निरूक्तादि वेदाङ्गों एवं अनुक्रमणियों में भी इन्द्रविषयक विविधस्तरीय प्रशस्तियों का भण्डार भरा पड़ा है । विद्वत्प्रवर डॉ0 उप्रेती ने दो स्वतंत्र अध्यायों में उन सन्दर्भों की बृहद् समीक्षा की है ।

बृहद्देवता में तो "गागर में सागर" की उक्ति चरितार्थ करते हुए , संक्षेप में कह दिया गया है कि शौर्य-पराक्रम की सारी कृतियाँ देवाधिदेव इन्द्र की ही है (किसी और की नहीं) ।

रसदानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम् ।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः ।।

विस्तारभय से यह प्रसंग अब यहीं स्थगित किया जाता है । परन्तु उपर्युक्त व्याख्यानों से वैदिक संहिताओं में तथा विशेषतः ऋग्वेद में इन्द्र के सामान्य (Poly-Theism) विशिष्ट (Kathenotheism) तथा विशिष्टतम अथवा अद्वैत (Mono-Theism) स्वरूपों का हमें ज्ञान हो जाता है ।

वेदमंत्रों में उल्लिखित प्रमुख इन्द्र-पर्याय

पर्यायों से किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु की विशेषताओं का बोध होता है । उदाहरणार्थ भ्रमर के ही लिये प्रयुक्त भ्रमर (भ्रमन् रौति गायति इति भ्रमरः) मधुकर (मधूनि करोतीति मधुकरः) मधुप (मधु पाति रक्षतीति पिबतीति वा मधुपः) रोदर (रकारः उदरे यस्य स रोदरः) षट्पद आदि (षट् पदानि यस्य सः षट्पदः) शब्द उसके प्रणयी, कर्मयोगी, विलासी तथा असमंजस व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं । संसार की समस्त भाषाओं में इस दृष्टि से संस्कृत सर्वाधिक समृद्ध है । यौगिक भाषा होने के कारण इसमें एक ही वस्तु के सैकड़ों पर्यायों (अभिधानों) की सम्भावना विद्यमान है ।

यद्यपि परवर्ती युग में लिखे गये कोषग्रन्थों में भी इन्द्र के अनेक पर्याय दिये गये हैं जिनमें कि वैदिक इन्द्राभिधानों को भी समेट लिया गया है। इन पर्यायों से, कभी-कभी इन्द्र से जुड़े समूचे रहस्यमय उपाख्यान (Episodes) का ही बोध हो जाता है । तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में हम सर्वप्रथम वेदमंत्रों में प्रयुक्त इन्द्र के पर्यायों को प्रस्तुत करेंगे ।

ऋग्वेद के प्रमुख इन्द्रसूक्तों में निम्नलिखित इन्द्रपर्यायों का प्रयोग परिलक्षित होता है -

आदित्यः[1], स्तनयित्नुः[2], अशनिः[3], पुरूतमः, चार्षणीनामीशानः[4], सुतपावन्[5], सुक्रतुः, गिर्वणः[6], प्रचेतस्[7], शतक्रतुः, अक्षितोतिः[8], ईशानः[9].

1. अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः । शतपथ० 8-5-3-2
2. स्तनयित्नुरिन्द्रः कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । शत० 11-6-3-9
3. यदशनिरिन्द्रः । कौषी० ब्रा० 6-9
4. श्रेष्ठजनों का स्वामी, 5. अभिषुत सोमरस को पीने वाला, 6. स्तुतियों का सेवन करने वाला, 7. प्रकृष्ट ज्ञानवाला, 8. निरन्तर रक्षा करने वाला ।
9. ये पर्याय ऋग्वेद 1-5 में उपलब्ध हैं ।

वज्री , मघवा , वृषायमाणः §वर्षा करता हुआ§ महावीरः , तुविबाधः §शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ§ ऋजीषः §शत्रुविनाशक§ देव एकः , शूरः , जघ्नुष् §शत्रुसंहारक§ अहेर्यता §अहि-विनाशक§ वज्रबाहुः , चर्षणीनां राजा[1] §मनुष्यों का अधिपति§ प्रथमः देवः मनस्वान् , अर्यः , रध्रस्य चोदिता , सुशिप्रः §सुन्दर ठोढ़ी वाला§ अपानेता , अच्युतच्युत् दस्योर्हन्ता , सप्तरश्मिः वृषभः §वर्षकारक§ तुविष्मान् §बुद्धिमान् § सोमपाः , निचितः §सर्वातिशायी§ दुध्रः[2] §कठिनाई से धारण करने योग्य§

अजुर्यः §जरारहित§ हर्यश्व §वेगगामी अश्वों वाला§ सुदानुः §श्रेष्ठ दानी§ सत्यराधस् §सत्यरूपी धन वाला§ वाजयुः §अन्न देने में समर्थ§ गव्युः §गाय देने में समर्थ§ हिरण्ययु· §सुवर्ण देने में समर्थ§ वृषन् §कामनाओं की वर्षा करने वाला§ वस्तुः §हृदय में बसने वाला§ वृत्रहन् , सप्रथ. §प्रथित§ पुरोमोधः , महिवृध् §सज्जनों को बढ़ाने वाला§ उरूव्यचस्[3] §विशाल व्याप्ति वाला§

§चर्षणीनां§ सम्राट् , नव्यः §नमनयोग्य§ नृषाहः §मनुष्यों को वश में करने वाला§ मंहिष्ठः , ज्येष्ठराजः , ब्रह्मा , ऋषि., पुरूहूतः , स्तोम्यः §स्तुतियोग्य§ हव्यः §यज्ञयोग्य§ सत्यः , सत्वा, तुविकूर्मिः , पप्रिः §पालक§ वस्वोः प्रणेता , ज्योतिः कर्ता[4] ।

बृहत् , विप्रः , धर्मकृत् , विपश्चिद् , पनस्युः §परमैश्वर्यशाली§ अभिभूः §वशीभूत करने वाला§ विश्वकर्मा , विश्वदेवः , दिवोरोचनः , सत्यजित् , अगोह्यः , विश्वतस्पृथुः §सर्वव्यापी§ दिवस्पतिः , पुरांदर्ता §शत्रुपुर-संहारक§ मनोर्वृधः §विद्वानों के उपकारक§ वावृधवन् §उत्तरोत्तर वर्धनशील§ विचर्षणिः , शुष्मिन्[5] §बलशाली§

महिषः §महनीय§ अंगः §सर्वज्ञ§ आज्ञाता §स्वामी अथवा सर्वज्ञ§ दाता ।[6]

---

1. ऋग्वेद , 1-32
2. वही , 2-12
3. वही , 7-31
4. वही , 8-16
5. वही , 8-98
6. वही , 10-54

भीमः , संक्रन्दनः , एकवीरः , इषुहस्तः , वशी , जिष्णुः, धृष्णुः , दुश्च्यवनः , संसृष्टजित् , उग्रधन्वा , बाहुशर्धी , अमित्रहा , रक्षोहा , स्थविरः , प्रवीरः , सहस्वान् , जैत्रः गोत्रभिद् , गोविद् , अभिवीरः , शतमन्युः , पृतनाषाट्, अयुध्यः ।[1]

चित्रभानुः (विशेष तेजस्वी) तुतुजानः[2] (त्वरा करने वाला) सुरूपकृत्नुः , विपश्चित् , यज्ञश्रीः , नृमादनः , मन्दयत्सखः[3] । वज्री, हिरण्ययः (स्वर्णभूषणयुक्त) सत्रादावन् (सतत दानशील) अप्रतिष्कुतः[4] (अपराजित)

मन्दिन् (आनंदित) तुविद्युम्नः (विशेष तेजस्वी) वसुपतिः[5] ।
वृष्णिः , आश्रुत्कर्णः (भक्तों की प्रार्थना सुनने वाला) हवनश्रुतः (पुकार सुनने वाला) कौशिकः, मन्दसानः वृद्धायुः[6] ।

समुद्रव्यचस् (सागर के समान विस्तृत) रथीतमः (श्रेष्ठ रथी) शवसस्पतिः (बलवान्) पुरां भिन्दुः , युवाकविः , अमितौजाः , पुरुष्टुतः , अद्रिवः (पर्वतवासी) सहस्रारातिः[7] ।

वृषणः (बलवान्) तुवीमघः (प्रभूत धन वाला) शचीवः[8] (सामर्थ्यशाली) अनामृणः (अपराजेय) सर्वसेनः[9] (समस्त सेना का नायक)

अश्वदुरः (अश्वों को देने वाला) गोदुरः , यवदुरः , वसुनः इनः , शिक्षानरः (दानियों का नेता) पुरूकृत् , द्युमत्तमः , प्रदिवः[10] (परम तेजस्वी) युध्मः (योद्धा) श्रवस्युः (यश का इच्छुक) सोमपावन् (सोमपायी) वन्दनश्रुत्[11] (स्तुतियों को सुनने वाला)

---

1. ऋग्वेद , 10-103
2. वही , 1-3
3. वही , 1-4
4. वही , 1-7
5. वही , 1-9
6. वही , 1-10
7. वही , 1-11
8. वही , 1-29
9. वही , 1-33
10. वही , 1-53
11. वही , 1-55

भुर्वणिः {भरणपोषण करने वाला} तुर्वणिः[1] {शत्रुसंहारक} शविष्ठः, मन्दानः[2] {आनन्दित}

अमितक्रतुः {अपार बलवाला} ऋजंकरः {संग्राम करने वाला} अकल्पः {अप्रतिम} पुरन्दरः {शत्रुनगरों को तोड़ने वाला} नृपतिः[3],

भूरिकर्मा {प्रभूत उत्तम कर्म वाला} सत्यशुष्मः[4] {सत्य बल वाला}

हरिवः[5] {अश्वों वाला}

गूर्तः {उद्यमी} सुग्म्यः {उत्तम गति वाला} रथेष्ठाः, योधीयान् , वृषण्वान्, स्वधावान् , सूरिः {ज्ञानी} इनः {स्वामी} पूर्पतिः {राष्ट्ररक्षक} शुष्मिन्[6] ।

राजेन्द्रः , सत्पतिः , तरूत्रः {तारने वाला} वसवानः {आश्रयदाता} सहोदाः {बलप्रदाता} अनवद्यः , धुनिः {कँपाने वाला} अवृकतमः {कपटविहीन} नरां नृपाता[7] {प्रजारक्षक}

अहिहन् , पुरूकृत् , सुप्राव्यः , उक्थ्यः {प्रशंसा-योग्य} सुप्रवाचनः[8] {प्रशंसनीय}

विश्वजित्, धनजित् , स्वजित् , सत्राजित् , नृजित् , उर्वराजित् {पृथ्वी जीतने वाला} अश्वजित् , गोजित् , अब्जित् {जल को जीतने वाला} अभिभूः , अभिभंगः, तुविग्रिः , वह्निः , दुष्टरीतुः {दुः तरीतुः, शत्रुओं के लिये अयोध्य} सत्रासाहः , जनभक्षः {मनुष्यों का हित करने वाला} जनंसहः , च्यवनः , वृतञ्चयः {घेरने वाले शत्रुओं का विनाशक} सहुरिः {तेजस्वी} अनानुदः {अप्रतिम दानी} गम्भीरः , ऋष्वः {महान्} असमष्टकाव्यः {असाधारण कुशल} रध्रचोदः {समृद्धि-प्रेरक} श्नथनः {शत्रुसंहारक} वीडितः {दृढाङ्ग} पृथुः , सुयज्ञः[9] ।

---

1. ऋग्वेद , 1-56
2. वही , 1-80
3. वही , 1-102
4. वही , 1-103
5. वही , 1-167
6. वही , 1-173
7. वही , 1-174
8. वही , 2-13
9. वही , 2-21

तुविशुष्मः , तृपत् (तृप्त करने वाला) त्विषीमान्[1] (तेजस्वी) महाव्रातः (महान् व्रत वाले) ऋधावान् (शत्रुहिंसक) धायुः (ऐश्वर्य को धारण करने वाला) दिवक्षाः (द्युलोक-व्यापी) सत्यशुष्मः , गोदाः[2] (ज्ञानदाता)

विप्रतमः पुरोभूः , गोपाः (विद्या का रक्षक) विविद्वान् (उत्तम विद्वान्) दमूनाः (शत्रुदमन करने वाला) विश्वायुः (अविनाशी) वयोधाः , रथिरः[3] (रथवाला)

उपर्युक्त समस्त विशेषण प्रथम से तृतीय मण्डल तक के इन्द्रसूक्तों के आधार पर एकत्र किये गये हैं । इन विशेषणों की अर्थदृष्ट्या सारगर्भिता देखकर सचमुच आश्चर्य होता है । इनके आधार पर देवराज इन्द्र के व्यक्तित्व तथा उसके विस्मयावह लोकोपकारी कृत्यों तथा शत्रुसंहारक रणाभियानों के सन्दर्भ में बड़ी सरलता से समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है । ऋग्वेद का मात्र एक मण्डल (सप्तम) पवमान-सूक्तों का है , अन्यथा प्रायः सभी मण्डलों में सर्वाधिक मंत्र इन्द्रविषयक ही है । यदि अन्य मण्डलों के भी इन्द्रविशेषणों का संकलन किया जाय तो यह संख्या विपुल होगी ।

विद्वत्प्रवर डॉ0 जयदेव उप्रेती जी ने बृहद्देवता के हवाले से इन्द्र के 26 नामों का उल्लेख किया है[4], जो इस प्रकार हैं -

वायुः , वरूणः, रूद्रः, इन्द्रः,पर्जन्यः , बृहस्पतिः,ब्रह्मणस्पतिः, क्षेत्रस्यपतिः, ऋतः, वास्तोष्पतिः , वाचस्पतिः, अदितेर्यमः, मित्रः, विश्वकर्मा, सरस्वान्, वेनः, मन्युः असुनीतिः, अपां नपात्, दधिक्राः, धाता, तार्क्ष्यः पुरूरवाः मृत्युः । -द्रष्टव्य शौनकप्रणीत बृहद्देवता अ0 2 श्लोक 32-60

इन्द्रपर्यायों का यह अन्तिम स्वरूप नहीं है क्योंकि ये संज्ञाएँ कुछ प्रमुख इन्द्रसूक्तों से ही संकलित की गई हैं । फिर भी इनकी संख्या (बृहद्देवतोक्त संज्ञाओं को छोड़कर) 244 आती हैं ।

---

1. ऋग्वेद , 2-22
2. वही ,, 3-30
3. वही , 3-31
4. डॉ0 उप्रेती द्वारा प्रस्तुत पर्यायों की संख्या 24 होती है । वस्तुतः उन्होंने "अदिति का यमः एक नाम माना है , जबकि "अदितिः यमः" पृथक् दो नाम होना चाहिये । इसीप्रकार आदित्य का उल्लेख भी छूट गया है । आदित्य, अदिति तथा यम की गणना से इन्द्र के 26 नाम संगत बन जाते हैं ।

इन पर्यायों में कुछ तो इन्द्र के योद्धा-स्वरूप को, कुछ परमेश्वर-स्वरूप को, कुछ लोकोपकारी-स्वरूप को, कुछ उसके शारीरिक सौष्ठव को तथा कुछ उसके गरिमामय वैयक्तिक गुणों को उद्भासित करते हैं।

इन्हीं वैदिक इन्द्राभिधानों के आधार पर परवर्ती कोषग्रन्थों[1] में इन्द्र के विविध नामों तथा उसके पारिवारिक परिवेश का सांगोपांग परिचय दिया गया। यदि समस्त कोषग्रंथों का संकलन किया जाय तो यह प्रसंग अत्यन्त लम्बा तथा उद्वेजक भी हो सकता है। अतएव विषय की अपेक्षा एवं औचित्य को दृष्टि में रखकर सर्वश्रेष्ठ कोषग्रंथ अमरकोष के ही आधार पर, इन्द्र के लौकिक अभिधानों की चर्चा की जा रही है। अमरकोष 35 इन्द्रपर्यायों का उल्लेख करता है -

> इन्द्रो मरूत्वान् मघवा बिडौजाः पाकशासनः।
> वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरूहूतः पुरन्दरः॥
> जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः शतमन्युर्दिवस्पतिः।
> सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा॥
> वास्तोष्पतिः सुरपतिर्बलारातिः शचीपतिः।
> जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण्नमुचिसूदनः॥
> संक्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः।
> आखण्डलः सहस्त्राक्ष ऋभुक्षास्तस्य तु प्रिया॥
> पुलोमजा शचीन्द्राणी नगरी त्वमरावती।
> हय उच्चैश्रवा सूतो मातलिर्नन्दनं वनम्॥
> स्यात्प्रासादो वैजयन्तो जयन्तः पाकशासनिः।
> ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः॥
> व्योमयानं विमानोऽस्त्री नारदाद्याः सुरर्षयः।
> स्यात्सुधर्मा देवसभा पीयूषममृतं सुधा॥
>
> -अमर० स्वर्गवर्ग।

---

1. अमरकोष, हलायुधकोष, वैजयन्तीकोष, विश्वकोष, मेदिनीकोष, त्रिकाण्डशेष, शाश्वतकोष आदि।

उपर्युक्त श्लोकों में प्रस्तुत इन्द्र के विस्तृत पारिवारिक परिवेश की व्याख्या अगले अध्याय में §पौराणिक इन्द्रोपाख्यान§ की जायेगी । परन्तु अमरकोषकार द्वारा प्रस्तुत पैंतीस इन्द्रपर्यायों के सन्दर्भमेंइतना बता देना अप्रासंगिक न होगा कि अधिकांश नाम वही हैं जो वेद-मंत्रों में आये हैं । कुछ ही पर्याय ऐसे हैं जो इन्द्र के पौराणिक व्यक्तित्व से सीधे जुड़े हैं जैसे सहस्त्राक्षः §अहल्यासन्दर्भ से सम्बद्ध§ शचीपतिः ,आखण्डलः, पाकशासनः आदि ।

वैदिक इन्द्र का स्वरूप एवं चारित्रिक-वैशिष्ट्य

वैदिक इन्द्र का स्वरूप , इन्द्रसम्बन्धी वेदसूक्तों से ही जाना जा सकता है । पूर्ववर्ती अनुच्छेदों में प्रस्तुत किये गये इन्द्र के वैदिक एवं लौकिक अभिधानों से ही उसका व्यक्तित्व सांगोपांग रूप से स्पष्ट हो जाता है । सामान्य , विशिष्ट एवं विशिष्टतम देवता के रूप में भी इन्द्र का परिचयसूत्र प्रस्तुत करते समय , वेदमंत्रों के आधार पर उसकी सारी चारित्रिक विशेषताओं को सप्रमाण विवेचित किया गया है । तथापि पिष्टपेषण का परिहार करते हुए , कुछ नवीन शीर्षकों के अन्तर्गत इन्द्र के स्वरूप की , नई दृष्टि से समीक्षा की जा रही है ।

1. वर्षा का देवता

समूचे वैदिक-वाङ्मय में इन्द्र को मुख्यतः वर्षा का देवता स्वीकार किया गया है । वृत्र एवं इन्द्र का संघर्ष भी , प्राकृतिक संदर्भ में , वर्षा से ही सम्बद्ध है । इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ आगे प्रस्तुत की जायेंगी । वृत्र का अर्थ है - आवरण §वृणोति आच्छादयतीति वृत्रः§ मेघ सूर्य को आच्छादित कर लेने के कारण वृत्र कहा जाता है ।[1] इन्द्र उसी मेघ को छिन्न-भिन्न करके वर्षा करता है , सप्त-सिन्धुओं को प्रवाहित कर देता है । वर्षा की इस प्रक्रिया में मेघों के परस्पर संघर्षण से विद्युत् और गर्जना भी पैदा होती है

---

1. अहन् हतवान् । वृत्रं मेघं वृत्रनामानमसुरं वा । वृत्रतरम् वर्ततेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्§स्कन्दस्वामी, ऋ0 1-32-5§
   वृत्रस्य वृत्रनाम्नोऽसुरस्य ।... अथवा वृत्रो मेघः । तस्य शरीरमध्ये आपो निधीयन्ते §स्कन्दस्वामी, ऋ0 1-32-10§

भाष्यकार स्कन्दस्वामी ऋग्वेद 1-6-1 की व्याख्या करते हुए इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं -

यद्वा आदित्यरश्मयो रोचन्त रोचना दिवि । ते आदित्यरश्मयः प्रावृडारम्भे रसादातारः । ते रसानपकर्षयन्तः उद्योजयंतीन्द्रं वृष्टिकर्मणि ।

ऋग्वेद 1-11-4 की व्याख्या में स्कन्दस्वामी पुनः लिखते हैं -

यावद्धि किञ्चित्कर्मास्ति साधारणं तद् वृष्ट्यायत्तम् । वृष्टिश्चेन्द्रायत्ता । अतो वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्मणो धारयिता इन्द्रः ।

आचार्य सायण भी वृत्र अथवा अहि की समकक्षता मेघ के ही साथ मानते हुए कहते हैं[1] -

यः अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपः अरिणात् । यद्वा सप्त गंगायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात् ।

इन्द्र द्वारा वर्षा करने के सन्दर्भ प्रायः प्रत्येक इन्द्रसूक्त में भरे पड़े हैं । परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण अंश ही यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ।। ऋ01-7-3

स नो वृषन्नमुं चरूं सत्रादावन्नपा वृधि ।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ।। ऋ0 1-7-6

अर्थात् इन्द्र ने ही दीर्घ प्रकाश के लिये सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया और उसी ने किरणों से (गोभिः) मेघ को (अद्रिं) बरसने के लिये प्रेरित किया ।

हे इन्द्र ! इस डराउने बादल को (अमुं चरूं) बरसा कर (वृषन्) हमारी दृष्टि से दूर करो (अपावृधि)

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव ।।
(ऋग्वेद 1-32-8)

---

1. "यो हत्वाऽहिमरिणात्सप्त सिन्धून्" (ऋग्वेद 2-12-3) का भाष्य ।

मारे गये वृत्र के शरीर को लाँघ कर, बाढ़ से तट को तोड़ कर बहने वाले नद के समान मनोहर जलधाराएँ बहने लगीं। उन जलधाराओं को वृत्र (मेघ) ने ही अपने प्रभाव से (महिना) रोक रखा था।

वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज (ऋ01-10 3-2) इन्द्र ने वज्र से वृत्र का वध करके जलराशियों को मुक्त कर दिया।

स्तम्भीद्ध द्यां स धरूणं प्रुषायदृभुर्वाजाय द्रविणं नरो गोः (ऋग्वेद 1-121-2) उस इन्द्र ने ही द्युलोक को थाम रखा है और उसी ने (वाजाय) अन्नसमृद्धि के लिये (द्रविणं धरूणं प्रुषायत्) प्रवहणशील जल को बरसाया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से इन्द्र का वर्षाकारक होना सर्वथा सिद्ध है। वेदमंत्रों में प्रयुक्त अनेक विशेषण इन्द्र के वर्षाकारी-व्यक्तित्व को ही सूचित करते हैं जैसे स्तनयित्नुः (गरजने वाला) अशनिः (वज्रपात) वृषायमाणः (वर्षा करता हुआ) अपांनेता (जलों का स्वामी) वृषभः (वर्षाकारक) अब्जित्[1] (वृत्र द्वारा निरूद्ध जलधाराओं का विजेता)

इतना ही नहीं, वेदमंत्रों में अनेक बार इन्द्र को विद्युत् पर्जन्य तथा पुरूरवा भी कहा गया है। इन शब्दों की, इन्द्र के सन्दर्भ में, सार्थकता सिद्ध करते हुए बृहद्देवताकार आचार्य शौनक लिखते हैं -

इन्द्र मरूतों के साथ, विशाल गर्जना करता हुआ जो इरा (मेघमाला) का विदारण करता है इसीलिये उसे विद्युत् कहते हैं।

इरां द्दणाति यत्काले मरूद्भिः सहितोऽम्बरे।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन्॥

- बृहद्देवता 2-36

इन्द्र स्वयं उत्पन्न होता है तथा वर्षा द्वारा लोकों को तृप्त करता है, दूसरों को भी उत्पन्न(पर-जन्य) करता है - इसीलिये वह पर्जन्य कहा जाता है -

---

1. इन पर्यायों का मूलसन्दर्भ इन्द्रपर्याय के सन्दर्भ में पीछे दिया जा चुका है।

तर्पयत्येष यल्लोकाञ्जन्यो जनहितश्च यः ।
परो जेता जनयिता यद्वाग्नेयस्ततो जगौ ।।

– बृहद्देवता 2-38

इन्द्र वर्षा करते समय पुरु अर्थात् महान् गर्जना ﴾रवस्﴿ करता है , इसीलिये उसे पुरूरवा कहा जाता है ।

रूदन्व्योम्न्युदयं याति कृन्तत्राद् विसृजन्नपः ।
पुरूरवसमाहैनं स्ववाक्येनोरूवासिनी ।।

– बृहद्देवता 2-59

डॉ० गयाचरणत्रिपाठी जी ने अपने शोधप्रबन्ध में "इन्द्र-वृत्र-वर्षा" की त्रिकोणीय समस्या का आधुनिक वेदमर्मज्ञ विचारकों की दृष्टि से रोचक समाधान प्रस्तुत करते हुए , वेदों में स्वामी दयानन्द को इतिहासविरोधी दृष्टि का समुचित विरोध किया है , जो सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है ।[1] वेदों में इन्द्र द्वारा शंबर से दिवोदास की रक्षा , ऋषियों को नदी पार कराना , कुत्स , अतिथिग्व तथा अंगिरा की भरपूर सहायता की पदे-पदे चर्चा आई है ।[2] असुरों का वध करने के अनन्तर देव-पत्नियों तथा ऋषियों द्वारा उसके हार्दिक अभिनन्दन का भी विवरण वेदमंत्रों में मिलता है । इन आख्यानों की ऐतिहासिकता का अपलाप भला कैसे किया जा सकता है ?

इन्द्र द्वारा वृत्रवध करके वर्षा करने के सन्दर्भ में भी डॉ० त्रिपाठी ने महर्षि अरविन्द , बी० जी० रेले , परमशिव अय्यर, बाल गंगाधर तिलक तथा डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के मतों का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया है जिसका अपेक्षित ग्राह्य अंश "इन्द्र-वृत्र-संघर्ष" शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायेगा ।

---

1. "अग्नि शब्द से सीधा-सादा आग का अर्थ न लेकर "अंचु गतिपूजनयोः" अथवा अग-अगि आदि गत्यर्थक धातुओं से इस शब्द को सिद्ध करके इससे परमेश्वररूपी खींचातानी का अर्थ क्यों लिया जाय ?"

–डॉ० गयाचरण त्रिपाठी ﴾वैदिक देवता० पृ०-147﴿

2. सविस्तर द्रष्टव्य, ऋग्वेद 1-51

2. <u>पणियों का विनाश एवं असुर-संहार</u>

यद्यपि पणियों के साथ इन्द्र का संघर्ष विशद रूप से "सरमापणि-संवादसूक्त" में प्रकट हुआ है । परन्तु पणियों के सन्दर्भ अन्यान्य मंत्रों में भी आये हैं । पणियों ने गोसम्पदा को पर्वत-कन्दराओं में छिपा रखा था । देवशुनी सरमा को इन्द्र ने पणियों के दुर्गों का पता लगाने के लिये नियुक्त किया । सरमा ने पणि नामक असुरों के गुप्त दुर्गों का पता तो लगा लिया परन्तु इस गुप्तचरी में वह पकड़ी गई । पणियों ने उसे बहुत मारा और वह मुँह से खून उगलती इन्द्र के पास लौट आई । परन्तु महाबली इन्द्र उसी रक्तधारा के सहारे पणियों के दुर्ग तकला पहुँचा और उनके गुप्त दुर्गों का विनाश कर , गायों को सकुशल वापस लौटा लाया । पणि एवं इन्द्र के संघर्ष का यह संक्षिप्त कथानक है ।

ऋग्वेद 1-6-5 में कहा गया है कि हे इन्द्र ! अत्यन्त सामर्थ्यवान् शत्रुओं का भी विनाश करने वाले तथा धन ढोने वाले इन वीर मरूतों की सहायता से शत्रुओं द्वारा गुफा {गुहाचित्} अथवा गुप्त जगह में रखी हुई गायों को तू पा सका {अनु अविन्दः}

वीडु चिदारूजलुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्त्रिया अनु ।।

ऋग्वेद 3-31 के ऋषि कुशिक ऐषीरथि तथा देवता इन्द्र है । इस सूक्त में भी पणियों से सम्बद्ध कथानक आया है । इस सूक्त में इन्द्र-पणिसंघर्ष का एक सांगोपांग रूप देखने को मिलता है ।

वस्तुतः गायें महर्षि अंगिरा की थीं जिन्हें पणियों ने अपहृत कर लिया था । महर्षि अंगिरा ने महाबली इन्द्र से सहायता की याचना की ।

धैर्यशाली सप्तर्षियों ने पर्वतों में रखी गई उन गायों को देख लिया तथा यह सूचना इन्द्र को दी ।[1] इन्द्र ने सरमा को मार्ग का पता लगाने के लिये भेजा । सरमा

---

1. वीलौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचा हिन्वन् मनसा सप्त विप्राः ।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ।।5

— ऋग्वेद 3 31 5.

ने पर्वत के टूटे भाग (कन्दरा में घुसने का मार्ग) को जान लिया तब इन्द्र ने सबसे पहले (कन्दरा में प्रवेश करने हेतु) एक सीधा और बड़ा रास्ता बनाया । उत्तम पैरों वाली सरमा इन्द्र को आगे ले गई । इन्द्र ने रँभाती हुई गायों का शब्द सुनकर जान लिया कि सचमुच गायें यहीं हैं ।[1]

सब कुछ जान लेने के बाद ही इन्द्र ने मरूतों की सहायता से पणियों पर चढ़ाई की और उन्हें छिन्न-भिन्न कर गायों को मुक्त कर दिया । उनके इस महान् उपकार के लिये अंगिरा ने उनकी पूजा की ।[2]

अपनी गायों को सामने देखकर महर्षि अंगिरा प्रसन्न हो उठे । गायों की हर्षयुक्त गर्जना से द्युलोक एवं पृथ्वीलोक पूरित हो उठे । इन्द्र के प्रति सबकी (समस्त ऋषियों की) निष्ठा दृढ़ हो उठी तथा गायों की रक्षा का भार अब ऋषियों ने वीरों पर रख दिया ।[3]

ये पणि कौन थे ? अनेक आधुनिक विद्वानों ने इन्हें पश्चिमी भारत (प्राचीन सप्तसैन्धव-प्रदेश) में निवास करने वाली जनजाति-विशेष के रूप में पहचानने का यत्न किया है । संभवतः ये लोग व्यापारीवर्ग के थे । पणियों का पणनकर्म ऋग्वेद के एक मंत्र से भी प्रमाणित होता है जिसमें मंत्रद्रष्टा ऋषि इन्द्र से कहता है कि मेरे साथ पणियों (बनियों) जैसा व्यवहार मत करना ।[4]

---

1. विदद् यदी सरमा रूग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः ।
   अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ।।ऋग्वेद 3.31.6.

2. अगच्छद् विप्रतमः सखीयन्नसूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः ।
   ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन् ।।

3. सम्पश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः ।
   वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान् ।।

   – ऋग्वेद 1-31-7, 10

4. चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ।।

   – ऋग्वेद 1-33-3

पण् धातु (भ्वादिगणी आत्मने0) व्यवहार अर्थ में (To bargain, to bet or stake at play - M.R. Kale) प्रयुक्त होते है जिसमें मत्वर्थक इनि प्रत्यय लगाकर पणिन् शब्द बनता है । पण:, कार्षापण:[1], पणितं, पण्यं, पणनं, विपणनं, विपणि:, आपण:, पणव:, पाणविक:, आपणिक:, वैपणिक: आदि समस्त व्यापार-सम्बद्ध शब्द इसी धातु से सम्बद्ध हैं । अमरकोषकार ने वेतन, द्यूत (जुआ) तथा पासे के अर्थ में भी "पण" का प्रयोग स्वीकार किया है ।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पणि लोग व्यापार करने के साथ ही साथ पण (बाजी लगाना) अर्थात् सट्टेबाजी तथा जुआ खेलने में भी निपुण थे । वे सोने (कार्षापण) तथा ताँबे के (पण) सिक्कों का उपयोग भी व्यापार में करते रहे होंगे । बाजार में आना-जाना, सौदा (पण्य) खरीदना और बेचना उनका खानदानी काम रहा होगा । ऐसे वातावरण में (सट्टेबाजी तथा जुआ) यदि पणियों में चोरी की भी आदत रही हो तो आश्चर्य ही क्या ?

सरमापणि-संवादसूक्त अत्यन्त प्राचीन होता हुआ भी आश्चर्यजनक रूप से आज के युग से मेल खाता है । सरमा देवताओं की कुतिया का नाम है जिसे इन्द्र गुप्तचरी के काम में नियुक्त करता है । इस सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कुत्तों की घ्राणशक्ति अत्यन्त तीव्र होती है । आज भी पुलिस के कुत्ते चोर के वस्त्रों की गन्ध के ही सहारे उनका पता लगा लेते हैं । सरमा ने भी इसीप्रकार पणियों का पता लगा लिया ।

पणियों ने पहले तो सरमा को अपनी ओर मिलाने का यत्न किया । परन्तु इन्द्र के प्रति सुदृढ़ निष्ठा वाली सरमा को जब वे फोड़ नहीं सके तब उन्होंने उसको बुरी तरह पीटा । पणियों के साथ सरमा का संवाद अत्यन्त रोचक साथ ही साथ कूटनीतिक महत्त्व का है ।

---

1. कार्षापण: कार्षिक: स्यात् कार्षिके ताम्रिके पण: । अमर0 वैश्यवर्ग । भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वेश: पण इत्यपि । अमर0 शूद्रवर्ग । द्यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण इत्यपि । पणोऽक्षेषु । . . . . — अमर0 शूद्रवर्ग ।

सरमा-पणि-संवाद :

पणि – सरमा ! किस इच्छा से हमारे पास आई हो ? रात तुमने कैसे बिताई ? किस तरह तुमने नदी का जल पार किया ? (कथं रसायाः पयांसि अतरः) ।।1

सरमा – पणियों ! इन्द्र की दूती मैं उन्हीं की इच्छा से आई हूँ । तुमने जो महान् गोधन चुरा रखा है , उसे पाने की मेरी इच्छा है । नदी का जल लाँघने में पहले तो मैं डरी , परन्तु इन्द्र के भय के ही कारण उस नदीजल ने मेरी रक्षा की । इसप्रकार मैं नदी पार कर आई (तथा रसायाः पयांसि अतरम्) ।।2

पणि – सरमा ! (इन्द्रः कीदृक्) तुम्हारा इन्द्र कैसा है ? (का दृशीका ?) उसकी दृष्टि अथवा सेना कैसी है ? (मित्रं आ गच्छात् । एनं दधाम) वह मित्र बनकर आये , हम उसे (स्वामी रूप में) धारण करें (अथ नः गवां गोपतिः भवाति) वह हमारी गायों का मालिक बन कर रहे ।।3

सरमा – (अहं तं दभ्यं न वेद) मैं इन्द्र को नश्वर नहीं मानती (सः दभत्) वह शत्रुविनाशक है ......पणियों ! निश्चय ही वह तुम्हें भी मार कर सुला देगा (इन्द्रेण हताः शयध्वे) ।।4

पणि – भाग्यवती सरमा ! जो तुम इन गायों की इच्छा करती हो (इमाः या गावः ऐच्छः एनाः ते कः अयुध्वी अवसृजात्) इन्हें भला बिना युद्ध के कौन ले जा सकता है ? और हमारे पास भी तीक्ष्ण आयुध हैं (उत अस्माकं तिग्मा आयुधाः सन्ति) ।।5

सरमा – पणियों ! तुम्हारे वचन सैनिकों जैसे नहीं हैं । तुम सब पापी हो , अतः तुम्हारी शरीर शरसन्धान के योग्य नहीं (तन्वः अनिषव्याः पापीः सन्तु)... बृहस्पति तुम्हारा भला न करे ।।6

पणि – सरमा ! हमारा कोष पर्वतों से सुरक्षित है (अयं निधिः अद्रिबुध्नः) ये कोष गायों , अश्वों तथा अन्य धनों से पूर्ण हैं । रक्षाकार्य में निपुण पणि लोग इस कोष की रक्षा में तत्पर हैं (सुगोपाः ये पणयः तं रक्षन्ति) तू व्यर्थ ही गायों के रँभाने से शब्दायमान इस स्थान में आई है (रेकु पदं अलकं आ जगन्थ) ।।7

सरमा - पणियों ! सोमपान से प्रमत्त , नवग्व अर्थात् नौ मार्गों से गति करने वाले अंगिरा तथा अयास्य ऋषि यहाँ आयेंगे और इन सब गायों को आगे करके ले जायेंगे । उस समय तुम लोगों को यह दर्पोक्ति त्यागनी पड़ेगी ।।8

पणि - सरमा ! यदि तू इसप्रकार देवों से भयभीत होकर यहाँ आई है {देव्येन सहसा प्रबाधिता आजगन्थ त्वा स्वसारं कृणवै} तो तुझे हम अपनी बहन ही मानते हैं {पुनर्मा गाः} अब तू इन्द्र के पास मत जा । सुभगे ! तुझे हम गोधन में उचित हिस्सा देंगे {सुभगे ते गवां भजाम} ।।9

सरमा - पणियों ! न मैं भाईचारा समझती हूँ , न ही बहिनापा ! इसे तो वीर इन्द्र एवं भयावह अंगिरा ही जानते होंगे {अहं भ्रातृत्वं न वेद नो स्वसृत्वं, इन्द्रः घोराः अंगिरसश्च विदुः} मैं तो इन्द्र के ही पास जाऊँगी । तब वे तुम पर आक्रमण करेंगे {इसलिये अच्छा होगा कि} यहाँ से बहुत दूर भाग जाओ {अतः वरीयः अप इतः} ।।20

-ऋग्वेद 10-108-1-10 तक ।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि पणियों ने सरमा के मुँह से महाबली इन्द्र का पराक्रम सुनकर {मंत्र 4} उसे कूटनीतिक उपाय {साम एवं दान = स्वसारं कृणवै, ते गवां भजाम} से अपनी ओर मिलाना चाहा । परन्तु सरमा ने पूरी सतर्कता से व्यङ्ग्यबाण मारते हुए कि "यह भाईचारा और बहिनापा तो इन्द्र और अंगिरा ही समझ सकते हैं , मैं नहीं" इन्द्र के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा प्रकट कर दी । चूँकि दूत अवध्य होता है अतः निर्भीक सरमा को "पणियों पर इन्द्र के आक्रमण की बात} कहने में भी कोई संकोच नहीं हुआ । सरमा ने स्पष्टतः पणियों को फटकार दिया कि तुम लोग पापी हो । तुम लोग इन्द्र से युद्ध क्या करोगे {क्योंकि इन्द्र धर्म एवं पुण्य के लिये युद्ध करता है} वह पणियों को कोसती भी है कि तुम लोगों पर {देवगुरू} बृहस्पति का कोप हो ।

सरमापणि-संवाद से , अप्रत्यक्षतः इन्द्र के अनेक गुणों तथा चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है , जिन्हें हम क्रमशः इसप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं -

1. इन्द्र एक श्रेष्ठ नरेश है जो सामदानादि चारों उपायों का मर्मज्ञ है । पणियों से प्रत्यक्ष युद्ध न करके पहले वह भेद {गुप्तचरी} का आश्रय लेता है, शत्रु की सामरिक-शक्ति का अन्दाजा लगाने के लिये ।

2. इन्द्र महाबली एवं पराक्रमी है । वह शत्रुओं द्वारा सर्वथा अपराजेय तथा अहिंसनीय है (अहं तं दभ्यं न वेद) उलटे वह स्वयं शत्रुसंहारक है (सः दभत्)

3. इन्द्र परोपकारी तथा आश्रितों का रक्षक है । वह महर्षि अंगिरस् तथा अगास्त्य की प्रार्थना पर ही , उनकी गायों का अपहरण करने वाले पणियों से वैर मोल लेता है । प्रजा की रक्षा करना एक आदर्श राजा का परम कर्तव्य है ।

4. इन्द्र धर्म एवं पुण्य का पक्षधर है । पणि सरमा के माध्यम से इन्द्र को मित्र बनाना चाहते हैं , उससे सन्धि करना चाहते हैं । परन्तु सरमा इस सन्धिप्रस्ताव को ठुकरा देती हैं , क्योंकि उसे अपने स्वामी की धर्मपक्षधरता का अच्छी तरह बोध है ।

पणियों की इस विनाशकथा से ही जुड़ी है इन्द्र द्वारा सम्पादित असुर-संहार की गाथा । इन्द्र द्वारा मारे गये असुरों में सर्वप्रधान तो है - वृत्र , जिसपर स्वतंत्र रूप से सामग्री प्रस्तुत की जायेगी । अन्य मारे गए असुरों में अहि, पिप्रु , शंबर , रौहिण, शुष्ण, व्यंस , कुयव , उरण, अर्बुद , अशन , नमुचि , चुमुरि , धुनि , असुष , क्रिवि , बल , रुधिका तथा शण्डिक आदि आते हैं । यद्यपि इन असुरों के अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद में आते हैं तथापि विस्तारभय से , यहाँ समस्त सन्दर्भों को संकलित न करके , किसी एक सन्दर्भ द्वारा उनका परिचय दिया जा रहा है ।

शंबर तथा अहि की सम्मिलित चर्चा ऋग्वेद 2-12 में मिलती है । शम्बरासुर ने राजा दिवोदास की सारी समृद्धि छीन ली थी । दिवोदास इन्द्र की शरण में गये और महाबली इन्द्र शम्बर के पीछे पड़ गया । भयभीत शम्बर पर्वत-श्रृंखलाओं में स्वयं को छिपाता रहा । वह 40 वर्ष तक स्वयं को इन्द्र की दृष्टि से बचाता रहा । परन्तु 40वें वर्ष में इन्द्र ने शम्बर को धर दबोचा और उस दनुपुत्र (दानु अथवा दानव) को शयनावस्था में ही मार डाला ।

> यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
> ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ।।

इन्द्र ने दिवोदास का उपकार करने के लिये शम्बरासुर के 99 नगरों को तोड़ डाला -

दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः[1] पुरो व्यैरयच्छम्बरस्य ।

-ऋग्वेद 2-19-6

शम्बर के पुरों को भग्न करने की चर्चा अन्यत्र भी आई है -

शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्रः
यदावधीर्वि पुरः शम्बरस्य ।। - ऋग्वेद 1-103-8

शुष्ण , पिप्रु तथा कुयव का संहार भी इन्द्र ने किया , यह उपर्युक्त मंत्र में कहा गया है ।

चुमुरि एवं धुनि नामक असुरों को इन्द्र ने निद्रा से युक्त कर {अर्थात् सम्मोहनास्त्र अथवा जृम्भकास्त्र से मार डाला और उनसे दभीति {सम्भवतः कोई ऋषि} की रक्षा की ।[2] इन शत्रुओं का वध करने से इन्द्र को {उनके पास संचित} प्रभूत स्वर्ण प्राप्त हुआ ।

अत्यधिक क्रोध से युक्त इन्द्र ने व्यंस नामक {अथवा कटे हुए कन्धों वाले} असुर को मारा । उसने शम्बर को भी मारा तथा अव्रत {दुराचारी} पिप्रु का संहार किया । तदनन्तर उसने सर्वभक्षक शुष्ण का विनाश किया ।[3]

दभीति का अपहरण करने वाले असुरों को चारों ओर से घेर कर , उनके सारे अस्त्र-शस्त्र को इन्द्र ने धधकती आग में भस्म कर दिया तथा दभीति को {पुनः} गौ , अश्व तथा रथों से युक्त कर दिया ।[4]

---

1. परन्तु एक अन्य मंत्र में इन्द्र द्वारा शम्बर के प्राचीन सौ पुरों को तोड़ने की बात कही गई है -

   अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः ।

   - ऋग्वेद 2-14-6

2. स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः ।
   रम्भी चिदत्रं विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।। 2-15-9
3. यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम् ।
   इन्द्रो यः शुष्णमशुषं न्यावृणङ् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।। 2-101-2
4. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 2-15-4

महाबली इन्द्र ने उरण को मारा । उसकी नौ आँखों तथा नब्बे भुजाओं को नष्ट कर दिया । उसने (स्वर्ग में चढ़ते) अर्बुद को नीचे ढकेल दिया ।[1]

इन्द्र ने असुर अश्न को मारा । स्वयं न मरने योग्य परन्तु औरों के शोषक शुष्ण को, स्कन्धविहीन अहि को, पिप्रु तथा नमुचि को तथा रूधिक्रा (राक्षसी ?) को भी मारा ।[2]

उसने वर्चिन् नामक असुर के सैंकड़ों - हजारों वीर भूमि पर गिरा दिये ।[3] उस महाबली इन्द्र ने सैंकड़ों, हजारों असुरों को मारकर जमीन पर बिछा दिया जोकि कुत्स, आयु तथा अतिथिग्व के वैरी थे ।[4]

सोमपान के अनन्तर तेजस्वी इन्द्र ने अपने पराक्रम से क्रिवि नामक असुर को युद्ध में मारा और अपने बल से सारी पृथ्वी एवं आकाश को भर दिया ।[5]

शत्रुनगरों के भंजक वृत्रहन्ता इन्द्र ने कृष्णासुर की सभी स्त्रियों को मार डाला । उसने मनुष्य के लिये जल एवं जमीन उत्पन्न किया ।[6] इन्द्र ने दस्युओं को मार कर उनके लौहनिर्मित नगरों को नष्ट कर दिया ।[7]

रौहिण के वध का प्रसंग भी अनेकशः आया है । उसके द्युलोक की ओर अभियान करने का संकेत (द्यामारोहन्तम्) भी एक प्रसंग में मिलता है ।[8] रौहिण के साथ ही साथ इन्द्र ने वृत्र, अहि तथा व्यंस को भी मारा ।[9]

---

1. अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून् ।
   यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत ।। 2-14-4
2. अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम् ।
   यः पिप्रुं नमुचिं यो रूधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत ।। 2-14-5
3. यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद् भरता सोममस्मै ।। 2-14-6
4. अध्वर्यवो यः शतमासहस्रं भूम्या उपस्थेऽवपज्जघन्वान् ।
   कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान् न्यावृणग् भरता सोममस्मै ।। 2-14-7
5. अधत्त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविं युधाभवदा रोदसी अपृणत् ।। 2-22-2
6. स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद् वि ।
   अजनयन् मनवे क्षामपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ।। 2-20-7
7. प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत् ।। 2-20-8
8. यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ।। 2-12-12
9. स धारयत् पृथ्वीं पप्रथच्च वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज ।
   अहन्नहिमभिनद् रौहिणं व्यहन् व्यंसं मघवा शचीभिः ।। 1-103-2

सूर्य के पास से उषाओं को चुराने वाले अशनासुर के प्राचीन नगरों को इन्द्र ने ध्वस्त कर दिया[1] तथा प्रजाजनों को पीड़ित करने वाले दास नामक असुर का प्रिय शीश काट लिया ।[2.]

उस तेजस्वी इन्द्र ने सारथि कुत्स के लिये शुष्ण , अशुष {अथवा जानलेवा} एवं कुयव नामक असुरों को मारा ।[3.]

गायों के बाड़ों पर अधिकार जमाने वाला कृपण बलासुर तो इन्द्र के वज्र से ही भयभीत होकर मर गया ।[4.]

महाबली इन्द्र ने सहनशक्ति से युक्त , अत्यन्त बलशाली शाण्डिकों {शाण्डवंशोत्पन्न} को विनष्ट कर डाला ।[5.]

असुर अहि का वध करके इन्द्र ने जलप्रवाहों को मुक्त कर दिया । इस महान् कार्य के लिये चतुर शिल्पी त्वष्टा ने दूर से फेंकने योग्य तथा वेधकारक वज्र का निर्माण किया था । मघवा ने पहले तो तीन पात्रों में रखी मधु {सोम} का पान किया , फिर हाथ में बाण और वज्र लेकर उसने अहियों के मुखिया को मार डाला -

> अहन्नहिम् अन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ।। 1-32-1
> अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।। 1-32-2
> वृषायमाणोऽ वृणीत् सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य ।
> आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ।। 1-32-3

---

1. मुष्णन्नुषसः सूर्येण स्तवानश्नस्य चिच्छिश्नथत् पूर्व्याणि ।। 2-20-5
2. अव प्रियमर्शसानस्य साह्नान् शिरो भरद् दासस्य स्वधावान् ।। 2-20-6
3. स रन्धयत् सदिवः सारथये शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय ।। 2-19-6
4. अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार ।। 3-30-10
5. त्वं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शाण्डिकानाम् ।। 2-30-8

अपने कृपापात्र कुत्स की इन्द्र ने रक्षा की और युद्ध करते हुए बलवान् दशद्यु की भी रक्षा की । उस समय इन्द्र के घोड़ों के खुरों से उड़ी धूल द्युलोक तक व्याप्त हो गई थी ।[1]

जो अन्नादि (सर्वजनोपयोज्य) पदार्थों का अपने मुँह में ही हवन करते थे ऐसे मायावी असुरों को इन्द्र ने माया से ही मारा । आततायी पिप्रु के नगरों का विध्वंस करके इन्द्र ने संग्रामों में ऋजिश्वा ऋषि की रक्षा की ।[2] उसने संग्राम में शुष्ण का वध करके कुत्स की रक्षा की । अतिथिग्व ऋषि की रक्षा के लिये शम्बर को मारा तथा महाशक्तिशाली अर्बुद को भी पैर से कुचल डाला । वस्तुतः इन्द्र प्राचीन काल से ही असुरों के विनाशार्थ पैदा हुआ है ।[3]

स हि द्वविरिषु द्वरः (ऋ0 1-52-3) इन्द्र अपने शत्रुओं का (स्वयं भी) कट्टर शत्रु है ।

अतिथिग्व के मार्ग में बाधक करंज तथा पर्णय नामक असुरों को अपने तीक्ष्ण शस्त्र से इन्द्र ने मारा तथा सहायक के बिना ही ऋजीश्व द्वारा घेरे गये बृंगद नामक असुर के सैकड़ों नगरों को ध्वस्त कर दिया ।[4]

उपर्युक्त विवरण महाबली इन्द्र की आततायी असुर-संहार परम्परा का एक दस्तावेज़ सा प्रतीत होता है । इस विवरण से एक ओर जहाँ इन्द्र द्वारा मारे गये असुरों के नाम तथा उनके दुराचारों का ज्ञान होता है वहीं उन महर्षियों तथा राजाओं के विषय में भी ज्ञान होता है जिनकी गुहार सुनकर इन्द्र ने उनकी रक्षा की । अंगिरा, ऋजिश्वा, कुत्स, अयास्य, अतिथिग्व, आयु, दशद्यु एवं सुदास आदि नाम इन्द्र के ऐसे ही कृपापात्रों के नाम हैं ।

---

1. आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम् ।
   शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ।। 1-33-14
2. त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत ।
   त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ ।। 1-51-5
3. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथाऽरन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम् ।
   महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ।। 1-51-6
4. त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
   त्वं शता वंगृदस्याभिनत् पुरो नानुदः परिषूता ऋजिश्वना ।। 1-53-8

परन्तु इन्द्र ने असुरों को ही मारा हो , ऐसी बात नहीं । उसने अन्यायके मार्ग पर आरूढ़ दुर्मद राजाओं को भी दण्डित किया । इस सन्दर्भ में अपेक्षित सामग्री यथावसर आगे प्रस्तुत की जायेगी ।

3. इन्द्र-वृत्र संघर्ष

इन्द्र एवं वृत्र के संघर्ष का सन्दर्भ मुख्यतः ऋग्वेद के सूक्त-संख्या 1.32 , 1.33, 1.51, 1.52 , 1.53, 1.54, 1.80 , 1.101 , 1.174 , 2.30 तथा 3.30 में विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है । यह सन्दर्भ और भी अनेक सूक्तों में निरूपित है । इन्द्र के शत्रुओं में वृत्र सर्वाधिक बली , मायावी , भीषण तथा दुर्धर्ष है । वह पूर्ववर्णित समस्त इन्द्रवैरी असुरों से अधिक भयावह है । फलतः इन्द्रवृत्र-संघर्ष प्राचीनकाल से ही विद्वज्जनों की समीक्षा का विषय रहा है ।

जहाँ एक ओर पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विचारधारा वृत्र को त्वष्टा का पुत्र असुर-विशेष मानती है वहीं नैरूक्त एवं प्राकृतिक विचारधारायें वृत्र-इन्द्र संघर्ष की व्याख्या दूसरे रूप में करते हैं । अनेक वेदभाष्यकारों ने तो इन्द्र के समस्त युद्धों को ही कल्पनाप्रसव मात्र माना है । इस सन्दर्भ में कुछ रोचक तथ्य प्रस्तुत हैं ।

(क) आचार्य उवट

आचार्य उवट इन्द्र को सूर्य एवं वृत्र को प्रकाश का आवरक अन्धकार स्वीकार करते हैं । उनकी स्थापना का मूल आधार है ऋग्वेद 8-93 संख्यक सूक्त , जिसके ऋषि सुकक्ष आंगिरस हैं तथा देवता इन्द्र है । ऋषि कहता है -

हे इन्द्र ! तुमने अपने बाहुबल से शत्रु की 99 नगरियों को तोड़ा तथा हे वृत्रहा ! तुमने अहि को मारा ।[1]

---

1. नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
   अहिं च वृत्रहावधीत् ।।

   यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभिसूर्य ।
   सर्वं तदिन्द्र ते वशे ।। ऋग्वेद 8-93-2,4

वृत्र को मारने वाले हे सूर्य (तेजस्वी इन्द्र) आज जिस किसी पदार्थ को लक्ष्य करके तू उदित हुआ है, हे इन्द्र ! वह सब तेरे वश में है ।

इस सूक्त में सूर्य न केवल इन्द्रपर्याय रूप में प्रयुक्त है, बल्कि इन्द्ररूपी सूर्य को उदित होता हुआ भी बताया गया है । ऐसी स्थितिमेंस्वाभाविक ही है कि वृत्र को भी अन्धकार का पर्याय माना जाय, क्योंकि सूर्य (रूपी इन्द्र) अन्धकार (रूपी वृत्र) का ही विनाश करके उदित होता है ।

यजुर्वेद 33-35 में उद्धृत इस मंत्र को व्याख्या करते हुए आचार्य उवट लिखते हैं -

हे वृत्रहन् ! वृत्रस्य पाप्मनः शार्वरस्य तमसो हन्तः त्वमुदगा अभि अभ्युदगा अभ्युदेषि । हे सूर्य ! तत्सर्वमितत् हे इन्द्र । ऐश्वर्ययुक्त ! ते तव वशे वर्तते । त्वमेवैक ईश्वरो न द्वितीय इत्यभिप्रायः ।

(ख) आचार्य महीधर

आचार्य महीधर ने भी वृत्र-इन्द्र को अन्धकार एवं सूर्य के ही रूप में व्याख्यात किया है । उपर्युक्त मंत्र का ही महीधर-भाष्य इसप्रकार है -

"वृत्रो मेघे रिपौ ध्वान्ते दानवे वासवे गिरौ" इति कोशाद् वृत्रमन्धकारं शार्वरं हन्तीति वृत्रहा रविः । हे वृत्रहन् । हे सूर्य ! हे इन्द्र ! ऐश्वर्ययुक्त ! अद्य यत् कच्च यत्र कुत्रचित् त्वमभि उदगा अभ्युदेषि तत्सर्वं ते तव वशे अस्तीति शेषः ।

इसप्रकार आचार्य उवट एवं महीधर की दृष्टि में वृत्र अन्धकार का एवं इन्द्र सूर्य का पर्याय है ।

---

1. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य !
   सर्वं तदिन्द्र ! ते वशे ॥ - ऋग्वेद 8.93.2

§ग§ आचार्य स्कन्दस्वामी

ऋग्वेद 1-7-3 मंत्र[1] की व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्कन्दस्वामी , उवट एवं महीधर से भिन्न मत उपस्थित करते हैं । उनका कहना है कि वृत्र ने महान् अन्धकार की सर्जना की , जिससे सब कुछ भ्रान्तिमय हो उठा । महाबली इन्द्र ने वृत्र को मारा और तमस् के अपनोदनार्थ सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया -

"वृत्रो महत् तमस्ततान । तेन तमसावृतं सर्वमधमप्रज्ञानं बभूव । तत इन्द्रो वृत्रं हत्वा तमसोऽपनोदनार्थं सूर्यं दिव्यारोहयाऽञ्चकारेति ।"

परन्तु स्कन्दस्वामी ऋग्वेद 1-32-5 एवं 1-32-10 संख्यक मंत्र[2] की व्याख्या करते समय वृत्र को मेघ भी मानते हैं -

1. अहन् हतवान् । वृत्रं मेघं वृत्रनामानमसुरं वा ।
2. वृत्रस्य वृत्रनाम्नोऽसुरस्य । अथवा वृत्रो मेघः । तस्य शरीरमध्ये आपो निधीयन्ते ।

§घ§ आचार्य वेंकटमाधव. ने भी 1-7-3 की व्याख्या के सन्दर्भ में स्कन्दस्वामी से अभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है -

इन्द्रो मनुष्याणां चिराय दर्शनाय दिवि सूर्यमारोहयत्
तेजोभिश्च विविधं वर्षार्थं मेघं प्रेरयति ।

§ङ.§ आचार्य सायण

ऋग्वेद 2-12-3 §यो हत्वाऽहिमरिणात्सप्त सिन्धून् आदि§ के भाष्य में आचार्य सायण अहि अथवा वृत्र का अर्थ मेघ ही करते हैं ।[3]

---

1. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
   वि गोभिरद्रिमैरयत् ।। 1-7-3
2. अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।। 1-32-5
   वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ।। 1-32-10
3. अहि तथा वृत्र प्रायः समानार्थक हैं । प्रमाण स्वरूप देखें -
   याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव ।। ऋ0 1-32-8

य: अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीला:
सिन्धून् स्यन्दनशीला अप: अरिणात् प्रेरयत् ।
यद्वा सप्त गंगायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात् ।

आचार्य सायण वेदमंत्रों के यज्ञपरक भाष्यकार हैं अत: उन्होंने यथावसर वृत्र के अनेक अर्थ किये हैं । कहीं वह वृत्र को असुरविशेष मान लेते हैं तो कहीं मेघ और कहीं सत्कर्म सद्धर्मबाधक भावविशेष । इसी प्रकार इन्द्र भी उनकी दृष्टि में कभी देवराज इन्द्र है तो कभी सूर्य और कभी साक्षात् परमेश्वर । ऋग्वेद 8-93-32 की व्याख्या में सायण वृत्र को एक नृशंस असुर ही मानते हैं -

वृत्रहन्तम: अतिशयेन वृत्रस्य हन्ता शतक्रतु: नानाविधकर्मा य इन्द्र: । द्विता द्विधा विदे । वृत्रवधादावुग्रकर्मा जगद्रक्षणकाले च शान्तकर्मेति द्विप्रकारकेण सर्वैर्ज्ञायते ।

§च§ पाश्चात्त्यसमीक्षक

पूर्व अनुच्छेदों में डॉ० गयाचरण त्रिपाठी जी द्वारा अपने ग्रंथ में कुछ आधुनिक समीक्षकों के इन्द्रसम्बन्धी मतों की व्याख्या का संकेत किया गया था । डॉ० जयदत्त उप्रेती ने भी अपने शोधप्रबन्ध में जिमरमैन , मैक्समूलर , विल्सन , रैले , ओल्डेनवर्ग , हिलब्राण्ट तथा कुछ पौरस्त्य समीक्षकों के भी इन्द्रवृत्र-दृष्टिकोणों का संग्रह एवं समीक्षा की है । विषय की सांगोपांगता की दृष्टि से विस्तार एवं पिष्टपेषण को दृष्टि में रखते हुए , विनम्रतापूर्वक डॉ० उप्रेती के ग्रंथ से कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

प्रो० मैक्समूलर[1] इन्द्र को प्रकाशमान दिवस का ही देवता मानते हैं , जिसका अश्व है सूर्य और सहचर हैं मरूद्गण ।

---

1. The poet begins with a somewhat abrupt description of a Sun-rise. Indra is taken as the god of the bright day, whose steed is the Sun and whose companions are the Maruts, or the storm-gods
— The Sacred Books of the East. Vol. 32, Part. 1

श्री रेले महोदय इन्द्र-वृत्र-संघर्ष को योगसाधना का रूपक मानते हैं । वृत्र योग-प्रक्रिया की कुण्डलिनी है और इस प्रकार इन्द्र-वृत्र के संघर्ष का अर्थ है चेतन तथा अवचेतन का संघर्ष जिसमें अन्ततः चेतन ही विजयी होता है ।[1]

हिलब्राण्ट इन्द्रवृत्र-संघर्ष को एक वातावरणीय अथवा ऋतुचक्र-सम्बन्धी संघर्ष मानते हैं । उनकी दृष्टि में वृत्र शीत का दानव तथा इन्द्र ग्रीष्म का देवता {सूर्य} है । इस संघर्ष में संकेतित जल भी पार्थिव जल नहीं बल्कि आकाशीय जल है ।

ओल्डेनवर्ग हिलब्राण्ट के उस मत को युक्तियुक्त नहीं मानते जिसमें इन्द्र और वृत्र का वैदिक स्वरूप उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । ओल्डेनवर्ग इन्द्र एवं वरूण को वर्षा का देवता स्वीकार करना पसन्द करते हैं ।[2]

जे० एम० फर्गुहर तथा एच० डी० ग्रिवोल्ड ने समन्वित रूप से अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि इन्द्र शब्द का अर्थ तथा उसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है । अतएव उसके मौलिक भौतिक स्वरूप के विषय में कुछ भी कह पाना संभव नहीं । अधिकांश विद्वानों के मत का समर्थन करते हुए इन दोनों ने भी इन्द्र को वर्षा का ही देवता {Storm-God} माना है जो कि विद्युत् एवं गर्जना का सम्प्रेषक है । बोगाज़कोई{तुर्किस्तान के उत्खनन में प्राप्त शिलापट्ट पर वह "इन्न्दर" के रूप में मित्र, वरूण तथा नासत्य के साथ उल्लिखित है जिससे सिद्ध है कि ई० पू० 1400 में भी वह एक महान् देव के रूप में मान्य

---

1. I am of opinion that this episode of the Indra-Vṛtra fight is the germ of Yogic practices and the phenomena of later Yogic literatures. The Vṛtra of Vedic literature being replaced in Yoga by Kundalini. The biological theory, thus, interprets the fight between Indra and Vṛtra as a conflict between the conscious and inconscious from which the former emerges victorious.
   — V. G. Rele. The Vedic Gods as a Figures of Biology. p. 103.

2. Thus according to Hillebrandt, both Indra and Vṛtra, owe their pre-Vedic character as a god of Summer-Warmth and demon of Winter cold to pre-Vedic climatic conditions. The theory is brillia ntly stated, but in its tatality, not convincing. It will be profitable to compare Indra with Varuna in their capacity as watergods. Varuna as a sky-god sends rain from heaven and wets the earth

एवं प्रतिष्ठित था । अवेस्ता में वह दो बार इन्द्र अथवा ऐन्द्र के रूप में, दानवों की सूची में उल्लिखित है जिससे स्पष्ट है कि प्राक्-जरथुस्त्र अन्यान्य "दस्वों" की तरह, तब तक इन्द्र भी पापात्माओं की स्थिति तक पहुँच चुका था ।[1]

{छ} स्वामी दयानन्द

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द पौराणिक आख्यानों को अनैतिहासिक अथवा काल्पनिक मानते हैं । वेदमंत्रों में भी उन्होंने वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक नहीं माना है । वह वेदमंत्रों की प्राकृतिक-स्तर पर व्याख्या करते हैं । इन्द्र एवं वृत्र के संघर्ष को भी उन्होंने सूर्य एवं मेघ के संघर्ष रूप में ही स्पष्ट किया है । ऋग्वेदभाष्यभूमिका के पृ0 416 पर वह लिखते हैं -

"यहाँ सूर्य नाम इन्द्र का है । वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथ्वी पर गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथ्वी में फैला देता है । जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारके आकाश से पृथ्वी में गिरा देता है तब वह पृथ्वी में सो जाता है ।"

"इसप्रकार अलंकार रूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनो परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नामक मेघ को हटा देता है । परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नामक सूर्य का ही विजय होता है.....जब-जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथ्वी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथ्वी में गिरा दिया करता है ।"[2]

उपर्युक्त विवरणों से इन्द्रवृत्र-संघर्ष के सन्दर्भ में विद्वज्जनों की दृष्टियों का बोध होता है । परन्तु वेदों में भी इतिहास स्वीकार करने वाले विद्वानों के लिये इस संघर्ष को "प्रतीकमात्र" स्वीकार कर लेना सहज नहीं है क्योंकि यही कथानक पुराणों में प्रभूत विस्तार के साथ वर्णित किया गया है । जिसकी विस्तृत चर्चा यथावसर आगे की जायेगी ।

---

1. दि रिलिजन ऑफ ऋग्वेद । आक्सफोर्ड 1923, पृ0-177
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ0-420

वेदमंत्रों में उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार वृत्र अत्यन्त दुरभिमानी तथा षड्यंत्रकारी था । वह स्वयं को अजेय मानता था । उसने पर्वत से फूटने वाले समस्त जलप्रवाहों को अवरूद्ध कर रखा था ।

महाबली इन्द्र ने वृत्र की समस्त मायाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया । उसने वृत्र द्वारा फैलाए गए अन्धकार को विनष्ट कर सूर्य एवं उषा को प्रकट किया । इन्द्र ने अत्यन्त घातक शस्त्र वज्र से वृत्र पर प्रहार किया । उसने वृत्र की भुजाएँ काट डालीं । वह परशु से काटी गई शाखाओं वाले वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ।। 1-32-5

उस महाभिमानी (दुर्मदः अयोद्धा इव) तथा शूरम्मन्य वृत्र ने पहले तो स्वयं ही महाबली तथा शत्रुनाशक (महावीरं तुविबाधं ऋजीषं) इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा (आ जुह्वे हि) परन्तु इन्द्र के आघातों को वह सह नहीं सका (अस्य वधानां समृतिं न अतारीत्)

हाथ-पाँव कट जाने पर भी वृत्र ने इन्द्र से युद्ध करना चाहा परन्तु तभी इन्द्र ने उसके मस्तक पर वज्र का प्रहार किया और वृत्र संज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

वृत्र के धराशायी होते ही उसकी माता , पुत्र को बचाने के लिये उसके ऊपर लेट गई जैसे बछड़े के साथ गाय सोती है । परन्तु इन्द्र ने वृत्रमाता दानु को बचाते हुए उस पर नीचे से प्रहार किया और उसे मार डाला ।[2]

वृत्र का विनाश होते ही अवरुद्ध जलप्रवाह मुक्त हो उठे । चारों ओर खुशहाली छा गई । पृथ्वी शस्य-श्यामला बन गई ।

---

1. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
   वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ।। 1-32-7
2. द्रष्टव्यः ऋग्वेद 1-32-9

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीत् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ।। ऋग्वेद 1-32-11

(ज) बाली-द्वीप (इण्डोनेशिया) में इन्द्र-वृत्र की संघर्षस्थली

वेदमंत्रों में निरूपित इन्द्र एवं वृत्र का संघर्ष-कथानक बृहत्तर-भारत के दूरवर्ती भूखण्डों में भी विस्तृत हुआ दीखता है । श्रद्धेय गुरूवर्य एवं शोधनिर्देशक डॉ० राजेन्द्र मिश्र का कादम्बिनी में प्रकाशित आलेख इस सन्दर्भ में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है ।[1] डॉ० मिश्र के निबन्ध का सारांश यहाँ प्रस्तुत है -

प्राचीन जावी भाषा (OLD JAVANESE / KAWI LANGUAGE) में लिखित "उसना-बाली" नामक ग्रन्थ में वैदिक इन्द्र-वृत्र संघर्ष की गाथा मिलती है । यद्यपि यहाँ वृत्र को मय दानव के रूप में चित्रित किया गया है, परन्तु कथासूत्र शतप्रतिशत इन्द्रवृत्र संघर्ष के अनुकूल है ।

इण्डोनेशिया के 27 प्रान्तों में से एक है बाली-द्वीप, जहाँ आज भी प्रायः 30 लाख हिन्दू रहते हैं । ये सब शिव, विष्णु अथवा बुद्ध के उपासक हैं । ईसा की प्रारंभिक शतियों में यहाँ भारतीयों ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की थी जो आज भी सुमेरू (GUNUNG AGUNG) गंगा (पकेरिसान नदी) अमरावती-क्षेत्र आदि के रूप में सुव्यवस्थित है ।

बाली की राजधानी डेनपसार से प्रायः 35 कि० मी० उत्तर-पूर्व में अवस्थित है बेदौलु नामक कस्बा । यह शब्द संस्कृत "भेद-मौलि"[2] का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है - परिवर्तित मस्तक वाला । प्राचीनकाल में यहाँ मय दानव का राज्य था । मय अत्यन्त मायावी था । वह अपना शीश काटकर पुनः स्थापित कर लेने की कला में निपुण था । उसके आतंक से प्रजा भयभीत थी क्योंकि वह इन्द्र तथा विष्णु के उपासकों का वैरी था ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य : बाली द्वीप में इन्द्र, कादम्बिनी -डॉ० राजेन्द्र मिश्र, 1989 ई० अंक । (अप्रैल)
2. भेदमौलि→वेदहुलु→बेदौलु ।

मय से आतंकित प्रजा तोहियांकुर गाँव में प्रतिष्ठित महादेव के पास गई । महादेव ने बालीवासियों का दुःख पूर्वी जावा के सुमेरू पर्वत पर स्थित सार्वभौम "अतिन्तिय"[1] {=अचिन्त्य परमेश्वर शिव} को निवेदित किया तो देवाधिदेव शिव ने देवसेनापति इन्द्र को भेजा मय का विनाश करने के लिये ।

बालीद्वीप में स्थित केन्द्रान गाँव के पास मय दानव के साथ इन्द्र का भीषण युद्ध हुआ । पराजित मय हार कर भागा । अब वह नानाप्रकार से रूप बदलकर स्वयं को छिपाने लगा । वह कभी नारियल का फूल बनता तो कभी तिम्बुल वृक्ष , कभी कुछ और । परन्तु इन्द्र उसकी माया को भिन्न कर देता । इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते ।

अन्ततः मय दानव भागकर मनुकाया गाँव के पार्श्ववर्ती वन में पहुँचा और तिम्बुल वृक्ष पर विशाल पक्षी बन कर बैठ गया । यह गाँव बेदौलु कस्बे से पेजेंग होकर जाने वाले राजमार्ग पर प्रायः 15, 20 कि0 मी0 उत्तर में स्थित है ।

इन्द्र , मय को खोजता हुआ यहाँ भी आ पहुँचा । परन्तु तब तक शाम हो चुकी थी । देवसेना प्यास के मारे परेशान थी । सैनिक पानी खोज रहे थे । चतुर मय ने जब यह दृश्य देखा तो उसे शत्रु-संहार का सरल उपाय समझ में आ गया । उसने पास के पर्वत में विषाक्त जल का प्रपात पैदा कर दिया अपनी माया से । देवसेना ने वही जल आकण्ठ पिया और संज्ञाहीन हो गई । इन्द्र ने समझा कि सैनिक विश्राम कर रहे हैं ।

---

1. बाली-द्वीप में समय-समय पर वैष्णव तथा शैव धर्म का वर्चस्व एवं महत्त्व स्थापित रहा है । उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि महाराज श्री-उदयनवर्मदेव {1080-1122 ई0} के समय में वैष्णव-धर्म पराकाष्ठा पर था । परन्तु 16वीं शती ई0 में धर्माचार्य नीरार्थ ने वहाँ निराकार शैव-सम्प्रदाय को राजधर्म बनवाने में सफलता प्राप्त की ।

प्रातःकाल होने पर इन्द्र को मयदानव के पापकर्म का पता चला । उसने वज्र से पृथ्वी को विदारित कर "अमृत" का स्त्रोत[1] पैदा किया तथा उसके संस्पर्श मात्र से देवसेना को पुनः जीवित कर दिया और वेगपूर्वक मय के पीछे चल पड़ा ।

मय पुनः भागा । पर्वतों में छिपता रहा । परन्तु बाटुर पर्वत पर इन्द्र ने उसको धर दबोचा और उसे मार डाला ।[2] मारे गये मय दानव के रक्त से एक नदी ही बह चली जिसे सम्प्रति "पेतानू" कहा जाता है । बालीवासी आज भी इस नदी के जल से धान के खेतों की (SAWAH) सिंचाई नहीं करते क्योंकि उनकी दृष्टि में यह एक नृशंस दानव का रक्तमात्र है ।[3]

पेतानू तथा पकेरिसान (इन्द्रनिर्मित अमृततीर्थ से निकली) का मध्यवर्ती क्षेत्र ही बाली का अमरावती-क्षेत्र कहा जाता है जो सर्वाधिक पवित्र भूभाग माना जाता है ।

इन्द्र के उपासक बालीवासी स्वयं को "बाली-अगा" अर्थात् मूल बालीवासी कहते हैं । अन्य बालीवासियों को वे "मजपहित" (जावा की राजधानी मजपहित से आयातित) कहते हैं । ये मूल बालीवासी आज भी पूर्वी बाली के "तेगंनान" गाँव में रहते हैं ।

अभिराज डॉ0 राजेन्द्र मिश्र जी दो वर्ष तक (मई 1987 से अप्रैल 1989 तक) उदयन यूनिवर्सिटी, डेनपसार (बाली) में विजिटिंग-प्रोफेसर रहे हैं । उन्होंने बाली द्वीप की अनेकशः परिक्रमा की है तथा द्वीप के तीर्थों, अवशेषों, मन्दिरों आदि का स्वयं निरीक्षण किया है । उनके आलेख में अमृततीर्थ का चित्र भी प्रकाशित है जो बाली की गंगा का उद्गम-स्थल है ।

---

1. इन्द्रनिर्मित इस तीर्थ को "तीर्त-एम्पुल" (अमृततीर्थ) कहते हैं । यहाँ एक कुण्ड में में पृथ्वी से निकलता जलस्त्रोत दीखता है । यही जल विभिन्न कुण्डों से होता हुआ मन्दिर के बाहर आकर पकेरिसान नदी बन जाता है । पकेरिसान ही बाली की गंगा है जिसका जल विविध धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होता है ।
2. तुलना करें – यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम् आदि ।
3. वाल्मीकि-रामायण में भी इसका उल्लेख "वेगगामिनी रक्तजला" सरित् के रूप में मिलता है (किष्किन्धा-काण्ड)

इस रोचक विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र एवं वृत्र का संघर्ष, भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ वृहत्तर-भारत के भूभागों में प्रतिष्ठित होता रहा है। भारतीय जहाँ भी गये, राजसत्ता के साथ ही साथ उन्होंने अपनी धार्मिक आस्थाओं तथा प्रतीकों को भी वहाँ प्रतिष्ठित किया।

4. सेनानायक महाबली इन्द्र

असुर-संहार के इन प्रसंगों में ही इन्द्र के महाबली सेनानायक होने के भी प्रमाण मिलते हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद इन्द्र की शौर्यगाथा से ओतप्रोत है।[1] तूणीरधारी इन्द्र सभी सेनापतियों का स्वामी है।[2]

युद्ध चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा! इन्द्र को ही सहायता के लिये बुलाया जाता है क्योंकि वह अपराजेय {अ-प्रतिष्कुतः सः} है। ऋषि कहता है -

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भेहवामहे युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ।।, 1-7-5

इन्द्र के शौर्य, पराक्रम और बल की कोई थाह नहीं है {नहि ते अन्तः शवसः परीणसे} वह शक्तियों का स्वामी, बल का भण्डार तथा शत्रुसंहारक शक्ति से युक्त है। वह महान् यश वाला, शत्रुसंहारक, अश्वों से भी तीव्र गति वाला है -

बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः
पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि सः ।। {1-54-3}

महाबली इन्द्र सर्वथा निर्भय है। वह हाथ में वज्र लेकर अकेले ही असुरों पर टूट पड़ता है तथा लम्बी-लम्बी साँस लेने वाले वैरी के सिर पर शस्त्र दे मारता है। शत्रुओं को मारना ही उसका सनातन कर्तव्य है। वह प्राचीनकाल से ही ऐसे कामों को करता आया है। उस पर किसी का शासन या अंकुश नहीं चलता -

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - प्रथम मण्डल का 7, 54, 63, 80, 84, 101 तथा 169वाँ सूक्त। 2-14-7, 2-20-8 तथा 3-30-6 में भी इन्द्र के सेनानायकत्व का उल्लेख है
2. सर्वसेनः इषुधीन् नि असक्त। ऋग्वेद 1-33-3

प्राचीनेन मनसा बर्हणावता
यदद्या चित् कृणवः कस्त्वा परि ? 1-54-5

सेनानायक के समस्त गुण इन्द्र में हैं । उसका क्षत्रियोचित बल अतुलनीय है । उसकी बुद्धि भी अतुलनीय है । तभी तो वह असुरों के निन्यानबे नगरों का विध्वंस कर सका (नव नवतिं पुरः दम्भयः)

असमं क्षत्रमसमा मनीषा
प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे ।। (1-54-8)

सेनापति इन्द्र युद्धभूमि में उतरने से पूर्व लोहे का कवच धारण करता है । मायावी शुष्ण जैसे शत्रु को वह रस्सियों से बाँध कर कारागार में डाल देता है । देदीप्यमान पर्वतशिखर के समान उसका पराक्रम चमक उठता है ।[1]

शत्रुसंहारार्थ इन्द्र के प्रस्थान करते ही, सेना के प्रयाण से धूलि उड़ने लगती है (इयर्ति रेणुः बृहदर्हरिष्वणिः)

इन्द्र अत्याचारी नहीं है । वह अत्याचारियों का ही संहार करता है । वस्तुतः एक आदर्श सेनानायक की तरह वह सत्य का पालक, प्रभुओं का स्वामी, सेना के आगे चलने वाला तथा सहनशील है । वह स्वयं अकारण आक्रमण नहीं करता । परन्तु सहायतार्थ पुकारे जाने पर तत्काल अनय एवं उत्पीडन के विरूद्ध युद्ध छेड़ देता है । कुत्स जैसे तरूण की रक्षा के लिये वह शुष्ण का बध करता है ।[2] अच्छे सेनानायक के यही तो गुण हैं !

शत्रु कितना ही दृढ़ (बलवान्) हो, इन्द्र उसे मार ही डालता है । जैसे हथौड़े से लोहा पीटा जाता है, इन्द्र उसी तरह शत्रु को पीट-पीट कर निश्चेष्ट कर देता है ।[3]

---

1. ऋग्वेद, 1-56-3
2. वही, 1-63-3
3. वही, 1-63-5

सेनापति का कर्तव्य क्या है ? पृथ्वी को शत्रुरहित बनाकर "स्वराज्य" की संस्थापना करना । महाबली इन्द्र के भी युद्ध-अभियानों का एकमात्र लक्ष्य यही है । वह अपने पराक्रम से पृथ्वी को निष्कंटक बनाकर सौराज्य की स्थापना करता है -

शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या
निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ।। (1-80-2)

छिपे हुए शत्रु को ढूँढ कर मारने की कला में इन्द्र परम निपुण है । वह मायावियों के साथ माया का ही आचरण करता है । तभी तो उसका पराक्रम उत्तम (प्रशस्त) माना जाता है -

इन्द्र तुभ्यमिदद्रि वो नुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया ऽ वधीः ।।
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ।। (1-80-7)

युद्ध में प्रस्थान करने से पूर्व , स्तोत्रों के साथ घोड़े रथ में जोते-जाते हैं । तदनन्तर इन्द्र , अमर आनन्दकारक (इमं सुतं ज्येष्ठं अमर्त्यं मदं पिव) सर्वोत्तम सोमरस का पान करता है । वह रथ-संचालन की कला में अप्रतिम है । उससे बड़ा कोई और रथी नहीं । कोई भी अन्य घुड़सवार इन्द्र की समता नहीं कर सकता

नकिष्टवद् रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।
नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे ।।

- ऋग्वेद 1-84-6

इन्द्र का यह शौर्य-पराक्रम तथा परोपकारप्रवणता ही है कि हर व्यक्ति उसकी मैत्री चाहता है । चाहे शूर-वीर योद्धा हो , चाहे युद्धभीरू । चाहे युद्धविजेता हो चाहे रणभूमि से भागा हुआ कायर । सब इन्द्र की ही गुहार लगाते हैं -

यः शूरेभिर्हव्यो यश्च भीरूभिर्यो धावद्भिर्हूयते यश्च जिग्युभिः ।
इन्द्रं यं विश्वा भुवनाभि सन्दधुर्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।।

- ऋग्वेद 1-101-6

इन्द्र का प्रमुख आयुध तो है दध्यङ्. की अस्थियों से निर्मित वज्र । परन्तु वह अन्यान्य आयुध भी धारण करता है । एक मंत्र में शत्रुओं को बाँधने वाली रस्सी[1] का उल्लेख मिलता । वह तलवार भी धारण करता है ।[2] रथ के चक्र से (1-53-9) से भी वह संहार करता है ।

इन्द्र चतुरस्त्र युद्ध करता है । शत्रु कभी आगे से आते हैं, कभी पीछे से । कभी दायें से कभी बायें से । परन्तु समर्थ इन्द्र सबको मार गिराता है । उसका सामर्थ्य अद्भुत है -

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो
विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु ।।

- ऋग्वेद 3-30-6

उपर्युक्त विवरणों से महाबली इन्द्र की युद्धकला एवं उसके शौर्य-पराक्रम का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

5. मायानिपुण इन्द्र

पिछले कुछ अनुच्छेदों में इन्द्र के मायानिपुण होने का संकेत किया गया है । अनेक मंत्रों में इन्द्र के मायावी होने का विवरण मिलता है । युद्धभूमि में सबके देखते ही देखते इन्द्र का अलक्षित हो जाना तथा पुनः अकस्मात् अकेले या अनेक रूपों में प्रकट हो जाना, उसके लिये साधारण बात है ।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्
उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ।।

- ऋग्वेद 2-12-5

---

1. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 1-56-3
2. अभ्यक् सा ते इन्द्र ऋष्टिरस्मे (हे इन्द्र ! तेरी वह तलवार हमें प्राप्त हो अर्थात् हमारी रक्षा करे)

इन्द्र मायावियों के साथ ही माया का व्यवहार करता है । इसप्रकार मायावी होना इन्द्र का स्वरूप-लक्षण नहीं , बल्कि उसका तटस्थ-लक्षण है । चूँकि उसके शत्रु दैत्यगण मायावी थे , अतएव उनका संहार करने के लिये इन्द्र को भी माया का आश्रय लेना पड़ा । एक मंत्र में कहा गया है -

यद्ध त्यं मायिनं मृगं
तमु त्वं मायया ऽवधीः ।।
- ऋग्वेद 1-80-7

अपनी इसी मायाशक्ति के कारण इन्द्र एक ही समय में तीनों लोकों में व्याप्त हो जाता है । वह अपने स्वरूप को अनेक शरीरों वाला बना लेता है -

रूपं-रूपं मघवा बोभवीति
मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
त्रिर्यद् दिवः परि मुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ।।
- ऋग्वेद 3-53-8

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं -

इन्द्रो बहुषु देशेषु युगपत् प्रवृत्तेषु यागेषु तत्र-तत्र हविः स्वीकरणाय बहूनि शरीराण्याददानः स्वयमेको ऽप्यनेकः सन् तत्र-तत्र सन्निधत्ते । तथा च निगमान्तरम् - इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते ।

महाभाष्यकार पतञ्जलि भी इन्द्र की बहुरूपता का समर्थन करते हुए कहते हैं - तद्यथा एक इन्द्रो ऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति । महाभाष्य 1-2-64

इसप्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं आचार्य सायण इन्द्र के व्यक्तित्व की मायामयता को स्पष्टतः स्वीकार करते है । इन्द्र का पौराणिक व्यक्तित्व , जिसकी विस्तृत चर्चा यथावसर आगे की जायेगी , ऐसे ही विस्मयकारी मायाचरणों से ओतप्रोत है । अहल्या के सन्दर्भ में इन्द्र का गौतम-रूप धारण कर लेना , ब्राह्मण बनकर कर्ण से कवच-कुण्डल माँग लेना , दिति के गर्भ में छलपूर्वक प्रवेश कर उसके गर्भ के 49 खण्ड कर देना- ऐसे ही रोचक दृष्टान्त हैं जिनमें इन्द्र का मायावी रूप प्रकट हुआ है । इन्द्र के इसी

मायिक व्यक्तित्व के कारण मायाविद्या का नाम ही "इन्द्रजाल" पड़ गया । जादूगर (मायावी) को भी ऐन्द्रजालिक कहा जाने लगा ।

विश्व में जितने भी रूप संभव हैं, इन्द्र सबका प्रतिरूप (आदर्श रूप) है । वह अपनी माया से अनन्तरूप बन जाता है । छठें मण्डल में कहा गया है -

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ।।
- ऋग्वेद 6-47-18

आचार्य सायण इस मंत्र के भाष्य में इन्द्र की सर्वदेवमयता का उल्लेख करते हैं - अयमिन्द्रः प्रतिरूपः रूपाणां प्रतिनिधिः सन् रूपं-रूपं तत्तदग्न्यादिदेवतास्वरूपं बभूव । इन्द्रः स्वमाहात्म्येन तत्तद् देवतारूपो भवतीत्यर्थः । अपि चायमिन्द्रो मायाभिः ज्ञानैः आत्मीयैः संकल्पैः पुरूरूपः बहुविधशरीरः सन् ईयते । बहून् यजमानान् गच्छतीत्यर्थः ।

इन्द्र के मायानैपुण्य के अनेक अवान्तर सन्दर्भ वृत्र, शम्बर[1], नमुचि[2] आदि दैत्यों के साथ ठने उसके संघर्षों में आये हैं । परन्तु विस्तारभय से अब यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है ।

6. समृद्धिप्रदाता इन्द्र

इन्द्र समृद्धियों का स्वामी है । वह न केवल असहायों, निर्बलों तथा मित्रों का उपकारक है अपितु अपने भक्तों को नाना प्रकार की भौतिक सम्पदाओं को देने वाला भी है । पणियों तथा अन्य असुरों के विनाश-प्रसंग में बताया गया है कि देवराज इन्द्र ने किसप्रकार महर्षि अंगिरा की अपहृत गायों को मुक्त कराया । युवक नरेश कुत्स तथा सुदास को कैसे उसने पुनः प्रतिष्ठित किया ? वस्तुतः इन्द्र का नाम (इदि परमैश्वर्ये) इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक प्रतीत होता है ।

---

1. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत ।।
2. नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ।।

भौतिक समृद्धियों में प्रमुख गणना अन्न, धन , बलशाली पुत्र , गौ , अश्व तथा तेजस् हैं । प्रसन्न होने पर इन्द्र यह सब कुछ प्रदान करता है । एक मंत्र में ऋषि कहता है -

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि
सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया
गो अग्रयाश्वावत्या रभेमहि ।।
- 1/53/5

इन्द्र संकटापन्न भक्तों का रक्षक एवं कल्याणचिन्तक है । उसने अतिथिग्व के मार्ग में बाधक करंज तथा पर्णय नामक दैत्यों को तीक्ष्ण शस्त्र से मार डाला । ऋजिश्व के द्वारा घेरे गये वृंगद नामक असुर के सैकड़ों नगरों को तोड़ डाला ।[1]

सहायक-रहित ﴾अबन्धुना सुश्रवसा﴿ सुश्रवस् से लड़ने वाले ﴾द्विदश जन राज्ञः﴿ बीस नरपतियों को भी , उनके साठ तथा 99 हजार सैनिकों को -रथ के चक्के से ही मार डाला ।[2]

इन्द्र ने तूर्वयाण की रक्षा की तथा कुत्स , अतिथिग्व एवं आयु को ﴾अपने उपकार से वशीभूत किया ।[3] उसने वभ्रु एवं जलप्रवाहों में डूबते त्रिवृत्र को भी संकट से उबारा ।[4]

वेदमंत्रों में इन्द्र को प्रभूत धन वाला तथा उत्तम कोटि के सहस्त्रों अश्वों तथा गौओं का प्रदाता बताया गया है । ऋग्वेद का 1-29 संख्यक सम्पूर्ण सूक्त ही इसी प्रार्थना से समाप्त होता है -

आ तू न इन्द्र शंसय
गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ ।।

समृद्धि का एकरूप यह भी है कि शत्रु निश्चेष्ट सोये पड़े रहें और मित्रगण जागते रहें । यह सब भी इन्द्र की ही कृपा से सम्भव हो पाता है - "ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः । ऋग्वेद 1-29-4.

---

1. ऋग्वेद , 1-53-8
2. वही , 1-53-9
3. वही , 1-53-10
4. वही , 1-34-14 एवं 15

इन्द्र द्वारा समृद्धि का दान एवं विस्तार कहीं-कहीं आनुवंशिक भी बताया गया है । पहले उसने पिता को समृद्धि दी थी , अब उसका पुत्र इन्द्र की कृपा चाह रहा है । कहीं से भी बुलाओं , इन्द्र अपने भक्तों के पास पहुँच ही जाता है -

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ।। 2-30-9

जिस पर इन्द्र कृपालु होता है उसके पास गायें भेजता है {ममर्या गा अजति यस्य वष्टि {ऋ 1-33-3} वह उदार दाता है । खुले हाथों समृद्धि बाँटता है । वह पणियों {बनियों} की तरह तौल कर धन-समृद्धि नहीं देता है -

चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं
मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ।। 1-33-3

यो ब्रह्मणे प्रथमो गा उविन्दत {ऋग्वेद 1-101-5} अर्थात् ब्राह्मणों {ऋषियों} को इन्द्र ने ही सर्वप्रथम गायें प्रदान कीं ।

आकाश, पृथ्वी वरुण , सूर्य, नदियाँ - सबके सब इन्द्र के ही वश में रहते हैं । यह समृद्धि एवं सामर्थ्य की पराकाष्ठा है । भला ऐसे महाशक्तिसम्पन्न इन्द्र की मैत्री कौन नहीं चाहेगा ?

यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद
यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ।
यस्येन्द्रस्य सिन्धवः सश्चति व्रतं
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।।
- ऋग्वेद 1-101-3

इन्द्र की समृद्धियों का विस्तार बताते हुए कहा गया है कि गौ , अश्व, ओषधि , जलराशि तथा वन-सम्पदाएँ - सब इन्द्र के ही अधीन हैं -

स गा अविन्दत् सो ऽ विन्ददश्वान्
स ओषधीः सो अपः स वनानि ।। 1-10-3-5

इन्द्र के समृद्धिदान का सर्वाधिक प्रशंसनीय पक्ष यह है कि वह लुटेरों के समान धन बटोर कर रखने वाले तथा यज्ञ न करने वाले (अर्थात दान न करने वाले) असुरों का छीन कर , उसे ज्ञानियों में वितरित कर देता है

य आहत्या परिपन्थीव शूरो
यज्वनो विभजन्नेति वेदः ।। 1-10-3-6

वैयक्तिक सुख-समृद्धि के अतिरिक्त भी , इन्द्र समूचे पृथ्वीलोक का योग-क्षेम देखता है । असुरों के पाश से मुक्त सप्तसिन्धुओं का कथानक उसी लोकसमृद्धि का परिचायक है । नदियों के जल से अभिषिक्त होते ही पृथ्वी शस्य-श्यामला हो उठी तथा चारों ओर ऐश्वर्य छा गया ।

उस इन्द्र ने भूमि के ऊपर बहने वाली चार नदियों को मीठे पानी से भर दिया - वस्तुतः यही उसका सर्वाधिक महान एवं प्रशंसनीय कार्य था । काले तथा लाल रंग की गायों में भी जो श्वेत वर्ण का दूध होता है - यह भी उस इन्द्र की ही महिमा है -

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्
मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः ।। 1-62-6

आमासु चिद् दधिषे पक्वमन्तः
पयः कृष्णासु रुशद् रोहिणीषु ।। 1-62-9

असुरों ने न केवल धर्मनिष्ठ नरपतियों को आतंकित कर रखा था बल्कि उन्होंने महर्षि अंगिरा की गायों का अपहरण भी कर लिया था । महर्षि अत्रि को सैकड़ों द्वारों वाले भवन (दुर्ग) में बन्दी बना रखा था । विमद नामक ऋषि को भी सताया था । महाबली इन्द्र ने उन सब की रक्षा की । उसने गायों को मुक्त किया । अत्रि को दुर्ग से बाहर ले आने के लिये मार्ग ढूंढ निकाला तथा विमद के लिये भी अन्न युक्त धन पहुँचाया - जीवनयापन के लिये ।[1]

---

1. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 1-51-3

धन-समृद्धि प्रदान करना इन्द्र का सहज स्वभाव है । वह मनुष्यों को धन-ऐश्वर्य देता तो है ही स्वयं भी अप्राप्य ऐश्वर्य को देने से पूर्व प्राप्त करता है । इसका आशय यह है कि इन्द्र के आदान एवं दान दोनो ही शाश्वत हैं । उसका भण्डार सीमित नहीं है ।

यस्मै धायुरदधा मर्त्यायाभक्तं चिद् भजते गेह्यं सः ।। 3-30-7

7. सोमपायी इन्द्र

सोमरस देवताओं का विशेषकर देवराज इन्द्र का अभीष्टतम प्रिय पेय है । बलवान् इन्द्र के आनन्द को बढ़ाने के लिये सोम उसके उदर में समुद्र की तरह एकत्र होता है ।

सं यन्मदाय शुष्मिण एना ह्यस्योदरे ।
समुद्रो न व्यचो दधे ।।
- ऋग्वेद 1-30-3

इन्द्र को प्रायः "सोमपाः सखे ! वज्रिन् !" अर्थात् "सोमपान करने वाले मित्र वज्रधारी इन्द्र" के रूप में आवाहित किया गया है । सोमपान के वैदिक प्रसंगों से ज्ञात होता है कि यह कोई विशिष्ट लता थी , जिसे कूट-छान कर उसका रस निकाला जाता था । यह रस अत्यन्त प्रभावी , आह्लादक, बल एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला तथा नशीला भी होता था । सोमलता अथवा सोमवल्ली के मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने के सन्दर्भ वेदमंत्रों में प्राप्त होते हैं ।

सोमलता को अभिमंत्रित करके उत्पादित किया जाता था । अभिषव के उपकरणों (दृषद् अथवा सिलबट्टा एवं उलूखल) आदि की भी यथोचित मंत्रों से समर्चना की जाती थी । इसप्रकार श्रौत-विधि से निचोड़े गये मादक सोमरस का , यज्ञ के अवसर पर देवगण तथा ऋषि पान करते थे । सोमपान से अमरत्व-वरण करने के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं ।[1]

---

1. पिबाम सोमममृता अभूम । ऋग्वेद 8.48 3.

मेधातिथि काण्व-सन्दृष्ट इन्द्रसूक्त[1] में इन्द्र के सोमपान का रोचक वर्णन मिलता है जो इसप्रकार है -

1. हे इन्द्र ! तेजस्वी घोड़े सोमरस पीने के लिये बलवान् तुझको ले आये ।
2. हम सोमरस पीने के लिये इन्द्र को आवाहित करते हैं {इन्द्रं प्रातर्हवामहे.... इन्द्रं सोमस्य पीतये}
3. हे इन्द्र ! इस सोमरस के पास आ । गौर मृग के समान सोम पी । {आ गह्यपेदं सवनं सुतम् । गौरो न तृषितः पिव}

सोमरस को तेजस्वी {इन्दवः सोमासः} कहा गया है । निश्चय ही यह रस मदवर्धक होता है {सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति}

ऋग्वेद 1-28 संख्यक सूक्त में सोमाभिषव के उपकरणों की चर्चा मिलती है । सोमलता को कूटने के लिये दो पत्थरों {सिल एवं बट्टा या लोढ़ा} का प्रयोग होता था । वे दोनो पाषाण-खण्ड एक-दूसरे के ऊपर यूँ रखे होते हैं जैसे जाँघ के ऊपर जाँघ रखी हो {यत्र द्वाविव जघनाधिवषण्या कृता} सोम-रस को उलखल {ओखल} में मुसल से कण्डित करके भी निचोड़ा जाता था {उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः} तथा उसमें गाय का दूध मिलाया जाता था {2-32-2}

सोमपान की व्यवस्था श्येनयज्ञ में होती थी । इस यज्ञ में कूट-छानकर निचोड़े गये , बल बढ़ाने वाले तथा आनन्ददायक सोम का पान इन्द्र किया करता है -

स त्वामदद् वृषा मदः
सोमः श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निरदम्यो जघन्थ
वज्रिन्नोजसाऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ।। 1-80-2

एक मंत्र में कहा गया है कि "हे इन्द्र ! वेग से बहने वाले सोमरसों ने तुझे तृप्त कर दिया है । घर पर पुष्टि से युक्त हुआ तू अपनी पत्नी के साथ आनन्द से रह ।"[2]

---

1. ऋग्वेद , 1-16-2,3 तथा 5
2. वही , 1-82-6

इस मंत्र से प्रतीत होता है कि सोमपान के अनन्तर दाम्पत्य-सुख में भी वृद्धि होती थी ।

जिस घर में उत्तम कर्म {यज्ञ} के लिये कुश काटे जाते हैं तथा सूर्योदय के बाद मंत्र पढ़े जाते हैं, जहाँ प्रशंसनीय कुशल कारीगर सोम कूटने के पत्थर के शब्द करता है - इन्द्र उस {यजमान} के ही अन्नों में आनन्द प्राप्त करता है ।[1]

जैसे सूर्य की किरणें आकाश को व्याप्त कर लेती हैं उसी प्रकार सोमरस इन्द्र के शरीर के प्रत्येक अवयव को उत्साह से भर देते हैं ।

> असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
> आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ।।
>
> - ऋग्वेद 1-84-1

लोग इन्द्र को सोम का इच्छुक {सोमकामं त्वा आहुः} कहते हैं अतएव यज्ञ में उसके लिये सोम निचोड़ा जाता है और इन्द्र आनन्द एवं आह्लाद के लिये, विशाल होकर अपने पेट को सोमरस से भर लेता है ।[2]

हे अध्वर्युओं ! इस इन्द्र के लिये सुखकर सोमयज्ञ करो । लकड़ी के बर्तन में {वने} छाने गये सोमरस को {निभृतं} लकड़ी के पात्र में रख कर सामने ले आओ {उद् नयध्वम्} सोम का सेवन करने वाला इन्द्र {जुषाण} तुम लोगों के हाथ का बना {हस्त्यम्} सोम बहुत पसन्द करता है । इसलिये इन्द्र के लिये आह्लादक {मदिरम्} सोम का हवन करो ।

जैसे गाय का थन दूध से भरा रहता है उसी प्रकार इन्द्र को {अर्थात् इन्द्र के उदर को} सोम से भर दो । मैं इस सोम के गुप्ततत्व को जानता हूँ -

> अध्वर्यवः पयसोधर्यथा गोः
> सोमाभरी पृणता भोजमिन्द्रम् ।
> वेदाहमस्य निभृतं म एतद्
> दित्सन्तं भूयो यजतश्चिकेत ।।
>
> - ऋग्वेद 2-14-9

---

1. ऋग्वेद, 1-83-6
2. वही, 1-104-9

इन्द्र द्वारा "त्रिकद्रुक" अर्थात् तीन पात्रों में रखे गये सोम को पीने का उल्लेख मिलता है §वृषायमाणो वृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य - 1-32-3§

सोमरस की प्रस्तुति पूर्ण श्रद्धा एवं रूचि से की जाती थी । उसके अभिषव में बुद्धिमत्ता भी अपेक्षित होती थी ।[1.] अध्वर्यु स्वयं अपनी अंगुलियों से §पिसे हुए सोम को§ निचोड़ता था ।[2.] जैसे इन्द्र सोमरस का अभिलाषी था , सोम स्वयं भी इन्द्र की कामना करता था ।[3.] क्योंकि इन्द्र सोमरस के वैशिष्ट्यों को भलीभांति जानता था ।[4] सोम मनोऽभिलषित तथा विप्रों के लिए अभीष्ट पेय था ।[5.] सोमपान से आनन्द एवं मद की वृद्धि होती थी ।[6.]

सोमपायी इन्द्र का पेट समुद्र की तरह विशाल हो जाता था । जैसे ऊँचे पर्वत से जलप्रवाह नीचे की ओर वेगपूर्वक बढ़ते हैं उसीप्रकार सोमरस के प्रवाह इन्द्र की ओर । इस सन्दर्भ से इन्द्र का सोम के प्रति अतिशय लोभी होना प्रकट होता है -

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते ।
उर्वीरापो न काकुदः । ऋग्वेद 1-8-7

इन्द्र द्वारा किये गये समस्त वीरकर्मों के मूल में "सोमपान" ही कारणभूत है । सोम के मद में ही वह ऐसे शूरतापूर्ण कार्य कर पाता है। सोममद के ही कारण उसने वृत्र जैसे भयावह शत्रु का वध किया तथा नदियों को प्रवाहित किया ।

त्वं सुतस्य मदे अरिणा अपो वि वृत्रस्य समया पाष्वारूजः ।

---

1. ऋग्वेद , 1-2-6
2. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना: पूतासः 1/3/4
3. इन्दवो वामुशन्ति हि 1/2/4
4. सुतानां चेतथ: 1/2/5
5. इन्द्रा याहि धियेषितः विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः 1/3/5
6. अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिषः ।
   पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो ।। 8/36/1

वस्तुतः इन्द्र का शौर्य-पराक्रम एवं बल महान् है §भूरि त इन्द्र वीर्यम्§ महान् द्युलोक एवं पृथ्वी भी इन्द्र के बल के आगे नतमस्तक हैं §अनु ते द्यौर्बृहती वीर्य मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे§ इन्द्र के पराक्रमों का कोई अन्त नहीं § नहि ते अन्तः शवसः परीणसे - 1-54-1§ उसके विस्मयकारी कार्य ऐसे हैं कि समस्त लोक उससे डरते हैं §कथा न क्षोणी र्भियसा समारत 2/54/1§

अग्रणी एवं सर्वव्यापक होने के कारण इन्द्र हजारों नेत्रों से सबके कर्म देखता है तथा कुकर्मी राक्षसों का वध भी करता है ।[1]

इन्द्र की महिमा का गान करते हुए ऋषि कहता है कि - हे इन्द्र ! तूने अपनी व्यापकता से समस्त लोकों को पूर्ण कर लिया है । तूने अन्तरिक्ष में भी प्रकाशमय लोक स्थापित किये है । तेरे समान अन्य कोई भी नहीं है । तेरे समान न कोई और उत्पन्न हुआ था और न ही आगे उत्पन्न होगा । तू ही सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता है ।[2.]

जो भी मनुष्य संरक्षण पाने के लिये इन्द्र की शरण में आये , उन्हें उसने उसी समय §अविलम्ब§ उत्तम मार्गों पर चलाया । यही उसका बड़प्पन है ।[3.]

इन्द्र का पराक्रम प्रशंसनीय है §सुप्रवाचनं तब वीर वीर्यम् 2/13/11§ क्योंकि वह असहायों का साथी है §सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः 12/13/8§ इन्द्र ने अंगिरा की गायों को पणियों से मुक्त किया । तुर्वीति एवं वय्य ऋषि को नदी के पार जाने के लिये जलप्रवाह को नियमित किया तथा गहरे जल में डूबते परावृक् ऋषि को बचाया ।[4.] अपनी कीर्ति का विस्तार करते हुए उसने अन्धे एवं पंगु को उत्तम नेत्र तथा चरण दिये ।

"प्रान्धं श्रोणं श्रवयन् त्सास्युक्थ्यः ।"

---

1. सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति 1/79/12
2. द्रष्टव्य , ऋग्वेद , 1/81/5
3. वही , वही , 1/104/2
4. वही , वही , 2/13/12

इन्द्र संगठित होकर युद्ध करने वाला (सत्रासाहः) मनुष्यों का हित करने वाला (जनभक्षः) शत्रुओं का संहारक (जनसहः) शत्रुओं को खदेड़ने वाला (च्यवनः) दान देने में अप्रतिम (अनानुदः) संसारद्रावक शत्रु का भी संहर्ता (दोधतः वधः) गम्भीर एवं महान् (गम्भीरः ऋष्वः) असाधारण रूप से कुशल (असमष्टकाव्यः) समृद्धियों का प्रेरक (रध्रचोदः) शत्रुनाशक (श्नथनः) दृढ़ अंगोवाला (पीडितः पृथुः) तथा उत्तम कर्मों का निष्पादक है ।

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ ।
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधा विचर्षणिः॥- 2/22/2

महाबली इन्द्र बुद्धि के साथ उत्पन्न हुआ , बल के साथ सभी स्थानों पर गया और पराक्रम के साथ बढ़ा । उसने युद्ध में शत्रुओं का वध किया । वह सर्वद्रष्टा है ।

इन्द्र की महिमा एवं गरिमा का कोई अन्त नहीं है । यही कारण है कि ऋषि इन्द्र को ही अपना आराध्य मानता है । भले ही निन्दक लोग इस बात के लिये उसकी आलोचना ही क्यों न करें ।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र इद् दुव - 2/4/5

इन्द्र के बल का परिमाण तीन गुना है । अर्थात् वह अपने से तीन गुना अधिक बल वाले शत्रु का भी संहार करने में सहज ही समर्थ है । वह तीन भूमियों तथा तीन तेजों का संचालक है । वह प्राचीनकाल से ही अर्थात् जन्म से ही शत्रुरहित है (जनुषा अशत्रुः असि) उसका यश (श्रवस्) सैकड़ों रूपों से भी अधिक है , सहस्त्रों से भी कहीं अधिक है -

उत ते शतान्मघवन्नुच्च भूयस ।
उत सहस्त्राद् रिरिचे कृष्टिषु श्रवः॥- 2/102/7

संहिताओं में उपलब्ध प्रमुख इन्द्रोपाख्यान

उपर्युक्त विवेचनों में ही अनेक ऐसी कथाओं का संकेतसूत्र दिया गया है जो इन्द्र के चरित्र से जुड़ी हैं । अतएव पिष्टपेषण को दृष्टि में रखते हुए इन्द्र से जुड़े कुछ उपाख्यानों का नाममा उल्लेख मात्र तथा शेष का किञ्चिद् विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :-

§1§ दिवोदासोपाख्यान

ऋग्वेद के 1/10/53 , 1/16/112 तथा 1/53/8 संख्यक मंत्रों में दिवोदास की चर्चा आई है । दिवोदास का ही दूसरा नाम अतिथिग्व भी था । उसने अनेक बार देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता भी की थी । परन्तु कालान्तर में करंज तथा पर्णय नामक राक्षसों के भय से वह जल में जा छिपा । इन्द्र ने दानवों का संहार कर दिवोदास की रक्षा की ।

§2§ अपालोपाख्यान

अपाला-सम्बन्धी उपाख्यान आठवें मण्डल के 92वें सूक्त में आया है । बृहद्देवता तथा पुराणों में इस कथानक का विस्तृतविवरण मिलता है । परन्तु ऋग्वेद में उसका मूल संकेत ही उपलब्ध है ।

अपाला महर्षि अत्रि की कन्या थी जिसका विवाह महर्षि कृशाश्व से हुआ था । परन्तु चर्मरोग से ग्रस्त अपाला को कृशाश्व का प्रेम प्राप्त नहीं था । उसका शरीर श्वेत-कुष्ठ से ग्रस्त था तथा उसके रोम भी नष्ट हो गये थे । सन्तप्त अपाला पिता के घर लौट आई ।

अपाला ने घोर तप किया तथा इन्द्र को प्रसन्न किया -सोम प्रदान कर । उसने इन्द्र से तीन वर माँगे - पिता की भूमि की उर्वरता , पिता के शीश का रोमशत्व

तथा अपने चर्मरोग की समाप्ति ।[1.] प्रसन्न हुए इन्द्र ने अपाला को रथ के छिद्र से , गाड़ी के छिद्र से तथा रथ के जुए के छिद्र से तीन बार बाहर निकालकर पवित्र किया जिससे उसका चर्मरोग जाता रहा ।[2.]

पुराणों में इसी कथानक की विस्तृत चर्चा मिलती है । पौराणिक उल्लेखों में अपाला द्वारा चर्मरोग की समाप्ति के साथ ही साथ "माँ बनने" का वर माँगने की भी बात आई है । संभवतः मातृत्व के पीछे , अपाला का उद्देश्य अपने पति कृशाश्व का सहवास-सुख प्राप्त करना रहा होगा । वह न केवल अपने चर्मरोग की समाप्ति एवं सौन्दर्य चाहती थी , बल्कि पराङ्मुख पति का प्रेम भी चाहती थी ।

इन्द्र ने अपने रथ के छिद्र से अपाला को तीन बार निकाला जिससे उसकी रोगग्रस्त त्वचा छिल गई और वह रूप-सौन्दर्य से ओत-प्रोत हो उठी । पहली बार छिली त्वचा शल्यक (साही) के रूप में , दूसरी तथा तीसरी बार छिली त्वचा क्रमशः गोधा (गोह) तथा कृकलास (गिरगिट) के रूप में परिणत हुई । शल्यक (साही) गोधा (गोह) तथा कृकलास (गिरगिट) तीनों ही जन्तु हैं । परन्तु वैद्यक शास्त्र में इन्हीं तीनों को मदनवृक्ष , पिप्पली तथा तैलविशेष के रूप में जननेन्द्रिय की पुष्टि के लिये निर्दिष्ट किया गया है ।

ऋग्वेदीय उपाख्यान में बड़ी स्पष्टता से कहा गया है कि पति के क्रोध (उपेक्षा अथवा तिरस्कार) के कारण अपाला पिता के घर लौट आई थी और उसने चर्मरोग की समाप्ति के लिये इन्द्र की उपासना प्रारंभ कर दी थी -

कुविद् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै ।। - 8/91/4

---

1. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय ।
   शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे ।। 8/91/5

2. खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
   अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम् ।। 8/91/7

§3§ सरमा-पणि-उपाख्यान

पणियों के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा पहले ही की जा चुकी है । ऋग्वेद दशम मण्डल के 108वें सूक्त में पणियों तथा देवशुनी सरमा का संवाद, अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है । इस संवाद से ही उपाख्यान का मूल-सूत्र समझ में आ जाता है ।

पणि सम्भवतः द्यूत एवं व्यापार में रत राक्षसों का एक वर्ग था जो नाना प्रकार के दुर्व्यसनों एवं समाजविरोधी कार्यों में आसक्त थे । पणियों ने महर्षि अंगिरा तथा अगस्त्य की गायों का अपहरण कर लिया और उन्हें पर्वतकन्दराओं में छिपा दिया । ऋषियों ने महाबली इन्द्र से सहायता की याचना की ।

इन्द्र ने देवशुनी सरमा को पणियों का ठिकाना जानने का दायित्व सौंपा । सरमा अपनी घ्राणशक्ति के सहारे पणियों तक पहुँच गई और उसने महाबली इन्द्र के शौर्य-पराक्रम का वर्णन करते हुए पणियों को सावधान किया और गायों को लौटा देने का आग्रह किया ।[1]

परन्तु पणियों ने सरमा की बात नहीं मानी । उन्होंने अपने शस्त्रबल की डींग हाँकी और कहा कि बिना युद्ध के भला इन गायों को कौन छुड़ा कर ले जा सकता है ? §कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा§

पणियों ने प्रलोभन देकर सरमा को अपनी ओर मिलाना चाहा । पणियों ने सरमा को अपनी बहिन भी मान लिया §स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम§ परन्तु इन्द्र के प्रति अडिग निष्ठा वाली सरमा ने पणियों को , उनके विनाश की सूचना देते हुए फटकार दिया ।

---

1. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 10/108/4

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्व-मिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥ 20/108/10

क्रुद्ध पणियों ने तब सरमा को बहुत मारा । वह मुँह से रक्त का वमन करती इन्द्र के पास लौटी । देवराज इन्द्र उसी रक्तधारा का अनुसरण करता पणियों के गुप्त पर्वत-दुर्गों तक जा पहुँचा तथा पणियों का विनाश कर डाला । गायें मुक्त हो गई और महर्षि अंगिरा के आश्रम लौट आईं ।

§4§ पुरूरवस् उपाख्यान

ऋग्वेद दशम मण्डल के 95वें सूक्त में आया हुआ उर्वशी एवं पुरूरवा का संवाद अत्यन्त मार्मिक है । इसी सांकेतिक कथानक का विस्तृत रूप हमें अनेक पुराणों तथा अभिजात संस्कृत-वाङ्मय §कालिदासप्रणीत विक्रमोर्वशीयम्§ में उपलब्ध होता है ।

देवांगना उर्वशी चन्द्रवंश सम्राट् ऐल §इला-पुत्र§ पुरूरवा की पत्नी थी । परन्तु उसने पुरूरवा का पत्नीत्व इस शर्त पर स्वीकार किया था कि उसके मेषशावक को §जिसे वह स्वर्ग से अपने साथ लाई थी§ कोई अपहृत न करने पाये तथा पुरूरवा कभी भी उर्वशी के समक्ष नग्न न दिखाई पड़े ।

उर्वशी चार वर्ष तक पुरूरवा के साथ रही । पुरूरवा उर्वशी के प्रेम में आसक्त था । वह एक क्षण भी उर्वशी के विना न रह पाता । परन्तु उर्वशी का अभाव इन्द्र को भी खटकता था । अतएव उर्वशी की शर्तों का पता लगाकर, इन्द्र ने एक रात गन्धर्वों को भेज मेषशावक का अपहरण करा लिया । उर्वशी के गुहार लगाने पर जब पुरूरवा संभ्रमवश मेषशावक को बचाने नग्न अवस्था में ही दौड़ पड़ा तभी इन्द्र ने विद्युत्-प्रकाश कर दिया जिससे उर्वशी ने राजा को नग्न देख लिया । उर्वशी की दोनों शपथें भंग हो गईं अतएव वह राजा पुरूरवा को छोड़कर स्वर्ग लौट गई । उस समय वह गर्भवती थी । स्वर्ग में ही उसने पुरूरवा के पुत्र आयु को जन्म दिया ।

स्वर्ग प्रयाण करती उर्वशी को प्रेमासक्त पुरूरवा ने बहुत अनुनय-विनय करके मनाया । उसने कहा कि उर्वशी । वेरे विरह के कारण, मेरे तूणीर से विजय के निमित्त

बाण तक नहीं निकल पा रहे हैं । बलवान् होते हुए भी मैं शत्रुओं से गायों तथा अनंत ऐश्वर्यों को नहीं छीन सकता ।[1.] उर्वशी अपनी चार सखियों (सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नआपि तथा हृदेचक्षु) के साथ आई थी पुरूरवा के पास । परन्तु पुरूरवा एकमात्र उर्वशी में ही अनुरक्त था ।[2.]

उर्वशी पुरूरवा के प्रणयनिवेदन से व्यथित हो उठी । परन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा के कारण स्वर्ग लौटने को विवश थी । उसने विनम्रतापूर्वक कहा - हे वीर ! अब इस वार्तालाप से क्या लाभ होगा ? (किमेता वाचा कृणव) मैं तो उषा के समान अब तुम्हारे पास से दूर हो रही हूँ । इसलिये हे पुरूरवा ! तुम अपने घर लौट जाओ मैं वायु के समान तुम्हारी पकड़ में अब नहीं आ सकती ।[3.]

हे वीर ! तू दिन में तीन बार मेरा उपभोग करता था । मुझे सपत्नियों से भी कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी । मेरे अनुकूल रहकर ही तू मुझे सन्तुष्ट करता था । उस समय (रतिकाल में) तू मेरे शरीर का स्वामी होता था ।[4.] हे पुरूरवा ! तूने मुझमें अपना गर्भ स्थापित किया है । परन्तु मैंने तो तुझे सब दिन कहा - समझाया (कि मेरी प्रतिज्ञाओं की रक्षा कर) परन्तु तूने मेरी बात सुनी नहीं । तो फिर अब क्यों शोक कर रहा है ।[5.]

हे वीर ! जब तेरा पुत्र रोने लगेगा (पैदा होगा) तब मैं उसकी कल्याणकामना करूंगी । जो तेरा अपत्य है मैं उसे तेरे पास भेज दूँगी । अब तुम अपने घर को लौट जाओ । हे मूढ़ ! अब मुझे नहीं पा सकोगे ।[6.]

---

1. ऋग्वेद, 10/95/3
2. वही, 10/95/6
3. पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाऽहमस्मि ।।
4. द्रष्टव्यः ऋग्वेद, 10/95/5
5. वही वही, 10/95/11
6. वही वही, 10/95/13

हे पुरूरवा ! मेरे वियोग में तू मृत्यु को न प्राप्त हो । पृथ्वी पर मत गिर । अमंगलकारी वृक तुझे न खायें । स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती । उनके हृदय तो जंगली §नृशंस§ भेड़ियों के हृदयों जैसे होते हैं ।[1]

हे पुरूरवा ! विविधरूपवाली §अप्सरा, देवांगना§ होते हुए भी मैं मनुष्यों के बीच में §अर्थात् मृत्युलोक में§ विचरण करती रही हूँ । तेरे साथ रमण करती हुई मैंने चार वर्ष बिताए हैं । प्रतिदिन एक बार घृत का स्वाद §रतिसुख§ प्राप्त किया है उतने से ही सन्तृप्त होकर मैं स्वर्ग लौट रही हूँ ।[2] हे ऐल ! मृत्यु के अनन्तर तू स्वर्ग में §मेरे साथ§ सुख एवं आनन्द प्राप्त करेगा §स्वर्गे उत्वं अपि मादयासे §

यद्यपि ऋग्वेदोपलब्ध पुरूरवस् उपाख्यान में इन्द्र का प्रत्यक्ष नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है , परन्तु परोक्ष रूप से इस कथानक में उसकी भी भागीदारी है ।ऐल के पौराणिक सन्दर्भों में इन्द्र का चरित्र विस्तार से निरूपित किया गया है ।

§5§ वृषाकपि - उपाख्यान

ऋग्वेद 10म मण्डल के 86वें सूक्त में इन्द्र-इन्द्राणी तथा वृषाकपि का रोचक संवाद वर्णित है जिसका सविस्तर वर्णन ब्रह्मपुराण में आया है । ऋग्वेदीय सन्दर्भ में वृषाकपि को "ऐन्द्र" अर्थात् इन्द्र एवं इन्द्राणी का पुत्र कहा गया है , परन्तु पौराणिक सन्दर्भ में उसकी उत्पति प्रकारान्तर से वर्णित है ।

पौराणिक आख्यान के अनुसार दैत्यराज हिरण्या का पुत्र था महाशनि और पुत्रवधू थी पराजिता । एक बार महाशनि ने इन्द्र को उसके वाहन ऐरावत-सहित पकड़कर अपने पिता को सौंप दिया । परन्तु महाशनि ने इन्द्र को मारा नहीं क्योंकि वह उसकी बहन इन्द्राणी §पौलोमी§ का पति था । महाशनि का विवाह वरूण की पुत्री से हुआ था । फलतः देवताओं ने वरूण की सहायता से इन्द्र को महाशनि के चंगुल से छुड़ा दिया ।

---

1. द्रष्टव्यः ऋग्वेद , 10/95/15
2. वही वही , 10/95/16

अपमानित हुए इन्द्र ने अपनी व्यथा इन्द्राणी से कही । पतिव्रता इन्द्राणी ने गौतमी नदी के तट पर निष्ठापूर्वक शिव की अर्चना की और अपने पति के लिये अभ्युदय एवं अविनाश का वर माँगा । इन्द्र तथा इन्द्राणी ने शिव के आदेशानुसार विष्णु और गंगा की भी आराधना की तथा सबको एक ही साथ प्रसन्न किया ।

फलतः शिव एवं विष्णु के समन्वित अंश से चक्र एवं त्रिशूलधारी अब्जक वृषाकपि नामक एक पुरूष प्रकट हुआ जिसने रसातल में प्रवेश कर महाशनि का वध कर डाला । इसप्रकार पौराणिक वृषाकपि इन्द्र तथा इन्द्राणी का रक्षक सिद्ध होता है ।

ऋग्वेदीय वृषाकपि उपाख्यान से , इन्द्र की वृषाकपि के प्रति अमर्ष एवं प्रतिस्पर्धा-भावना प्रकट होती है क्योंकि स्तोता सोमयाग में इन्द्र के स्थान पर वृषाकपि की ही स्तुति करने लगे थे ।[1.] परन्तु इन्द्र को , वृषाकपि की तुलना में अपना परिभव स्वीकार्य नहीं था । फलतः वह स्पष्ट उद्घोष करता है -"विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है ।

इन्द्राणी कहती है - अत्यन्त व्यथित होकर वृषाकपि पर आक्रमण क्यों करते हो ? हरितवर्ण मृगभूत इस वृषाकपि ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? तुम तो सदैव इसकी रक्षा करते रहे हो कि कहीं इसके कानों को वराहभोजी कुत्ते काट न लें ।[2.]

इन्द्र ने कहा - यजमानों ने मेरे लिये प्रिय एवं घृतयुक्त जो भोज्य-सामग्री रखी थी उसे वृषाकपि ने सब प्रकार से दूषित कर दिया है । इसलिये मैं इसका सिर अवश्य काट लूंगा ।

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवम् ।।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। 10-86-5

---

1. द्रष्टव्य - ऋग्वेद , 10/86/1
2. किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ?
यस्मिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुः ।।

सूक्त के उत्तरार्ध में वृषाकपि द्वारा इन्द्र के पौरुष एवं इन्द्राणीकेरूप-सौन्दर्य तथा सौभाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है । इन्द्र तथा इन्द्राणी वृषाकपि पर पुनः प्रसन्न हो जाते हैं और उनका वात्सल्य उमड़ पड़ता है - हे वृषाकपि । तेरे लिये हम सुखप्रद हितकर कर्म करते हैं । तू पुनः लौट आ §त्वं पुनः एहि । सुविता कल्पयावहै§ बहुत मीठे पदार्थ खाने वाला तू अब तक कहाँ था ? तू किस देश को चला गया था ? §पुल्वधः स्यः मृगः क्व ? जनयोपनः कं अगन् ?§

ऋग्वेद के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि वृषाकपि वृषभ एवं कपि का मिला-जुला रूप .था । यह तथ्य पौराणिक कथानक से भी प्रमाणित होता है क्योंकि वृषाकपि का जन्म शिव तथा विष्णु के समन्वित अंश से हुआ था । वेद में उसे हरितवर्ण मृग कहा गया है ।

§6§ वसिष्ठोपाख्यान

ऋग्वेद सप्तम मण्डल के 102 सूक्तों के द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ हैं । शेष दो सूक्तों के द्रष्टा ऋषि क्रमशः वासिष्ठ शक्ति तथा अन्य वसिष्ठपुत्र हैं । इस मण्डल के अनेक सूक्तों में वसिष्ठ के सन्दर्भ में व्यक्तिगत बातें कही गई हैं ।[1]

वशिष्ठ-सम्बन्धी इन्हीं ऋग्वैदिक कथासूत्रों का विकास आगे चलकर बृहद्देवता एवं पौराणिक ग्रंथों में हुआ । वशिष्ठ एवं विश्वामित्र का संघर्ष वसिष्ठ एवं कल्माषपाद, वसिष्ठ एवं निमि के प्रख्यात उपाख्यान पौराणिक-वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण अंश हैं ।

वसिष्ठ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में बताया गया है कि एक बार मित्र एवं वरूण द्वारा यज्ञ की दीक्षा लेने पर देवांगना उर्वशी वहाँ आई । उर्वशी को देखते ही विचलित चित्तवृति वाले मित्र एवं वरूण का रेतस् स्खलित होकर वासतीवर नामक यज्ञपात्र में गिर पड़ा और तत्काल ही उससे अगस्त्य उत्पन्न हुए । वीर्य का जो अंश भूमि पर गिरा उसी से ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई -

---

1. ऋग्वेद मण्डल-7 सूक्त-55 ,86,87,88,89

उतासि मैत्रावरूणो वसिष्ठो-
र्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन
विश्वेदेवा पुष्करे त्वाददन्त ।।
- ऋग्वेद 7-33-11

"हे ब्रह्मन् वसिष्ठ ! तुम मित्र एवं वरूण से उत्पन्न हुए । तुम उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए हो । जल में गिरे हुए तुम्हें, विश्वेदेवों ने दिव्य ज्ञान से कमल में धारण किया था ।"

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने घोर तप किया तथा उन्होंने अपनी स्तुति से अग्नि, विश्वेदेव, वरूण, द्यावा-पृथिवी, मरूत्, अश्विन् एवं उषा आदि देवों को प्रसन्न किया । ताण्ड्य ब्राह्मण के एक उल्लेखानुसार §15/5/24§ इन्द्र ने वसिष्ठ की इच्छा जानकर उन्हें विराट् की शिक्षा दी तथा अग्निहोत्र से लेकर प्रायश्चित्त तक का रहस्य प्रदान किया ।

वैदिक वसिष्ठ-सन्दर्भो में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है - अपराधग्रस्त वसिष्ठ का वरूण से क्षमायाचना करना । इन्द्र और अग्नि के प्रति भी वसिष्ठ विनत हैं -

मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी मा भिशस्तमे ।
मा नो रीरधतं विदे ।। §ऋग्वेद 7/98/3

आत्मदृष्ट वेदमंत्रों में ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने तत्त्वविज्ञान का प्रकाशन किया है । वह अज्ञानी तथा शिश्नदेव §व्यभिचारी§ की निन्दा करते हैं तथा सुमति, सन्मार्ग, सुशिक्षा, बुद्धि, ज्ञान, जय-विजय, तेजस्विता, शरीर-संवर्धन, कीर्ति, सुभगम्मन्यता, उत्तमसन्तति, गोरक्षण, दीर्घायुष्य, ईश्वरोपासना, मातृभूमि, संघटना, नेतृत्व तथा राजधर्म[1] आदि के सन्दर्भ में अपने उदात्त विचार प्रकट करते हैं जोकि शाश्वत एवं सार्वकालिक हैं । आज भी वसिष्ठ की देशनाओं की सार्थकता कम नहीं है ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - ऋग्वेद सप्तम मण्डल ।

§7§ घोषोपाख्यान

ऋग्वेद दशम मण्डल के 39वें तथा 40वें सूक्त की ऋषिका काक्षीवती घोषा है । दोनों ही सूक्तों में क्रमशः चौदह -चौदह मंत्र हैं । घोषा का सन्दर्भ शौनकप्रणीत वृहद्देवता में भी निरूपित हुआ है ।

घोषा राजा कक्षीवान् की पुत्री थी फलतः उसे काक्षीवती भी कहा जाता था । वह रोमशा तथा रोगग्रस्त थी । असुन्दर भी थी । फलतः किसी ने उसका वरण नहीं किया और वह अपने पिता के ही घर पर रहती हुई "जरती" §बूढ़ी§ हो गई ।[1]

पतिकामा घोषा ने अपनी तपश्चर्या से अन्ततः अश्विनी-कुमारों को प्रसन्न किया और उन्हीं की कृपा से उसे रूप-सौन्दर्य तथा यौवन प्राप्त हुआ । घोषा को मनोऽनुकूल पति मिला और सुहस्त्य नामक पुत्र भी । यही सुहस्त्य घौषेय , ऋग्वेद 10म मण्डल के 41वें सूक्त का द्रष्टा ऋषि भी है । घोषा की गणना , अपाला, मैत्रेयी , गार्गी तथा विश्ववारा आदि ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं के साथ की जाती है ।

ऋग्वेद में आया हुआ घोषा का उपाख्यान उसकी अदम्य पतिप्राप्ति-कामना तथा मनो था को प्रकाशित करता है । वह अश्विनीकुमारों द्वारा किये गये महान् उपकारों का , उन्हें स्मरण कराती है तथा अपने उद्धार की कामना करती है ।

जराजीर्ण च्यवन ऋषि को अश्विनों ने उसीप्रकार युवा बना दिया जैसे §कारू-शिल्पी§ पुराने रथ को नया बना दे ।[2] तुग्र के पुत्र भुज्यु को जल में डूबने से बचाया । राजा पुरूमित्र की कन्या शुन्ध्युव को रथासीन कर तुमने उसके पति विमद के पास पहुँचा दिया था । वध्रिमति के युद्ध में , आवाहन करने पर तुम दोनो सहायतार्थ आये थे और उसकी प्रसव-वेदना को दूर कर दिया था §10/39/7§

---

1. अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगः अर्थात् पिता के घर में जरावस्था को प्राप्त, दुर्भाग्यग्रस्त घोषा की सौभाग्यप्राप्ति में तुम सहायक हुए । ऋग्वेद 1/117/7 में भी इसी तथ्य का उल्लेख है - घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम् ।।

2. युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ।

अत्यन्त वृद्ध हुए कलि नामक ऋषि को हे अश्विनो ! तुमने ही यौवन-सम्पन्न किया था और प्रियावियोग से पीड़ित वन्दन नामक ऋषि को अन्धकूप से बाहर निकाला था । लँगड़ी विश्पला को , लोहे की जाँघ लगाकर तुमने तत्काल ही चलने योग्य बना दिया था {10/39/8}

असुरों द्वारा पर्वतगुहा में बन्द रेभ नामक ऋषि को तुम्हीं ने संकट से उबारा था तथा सात बन्धनों में बाँधकर अग्निकुण्ड में फेंके गए महर्षि अत्रि को बचाने हेतु तुम्हीं ने कुण्ड की आग बुझा दी थी {10/39/9} इसीप्रकार राजा पेदु को तुमने एक श्वेतवर्ण अश्व तथा अन्य 99 अश्व दिये थे ।[1] वृक के मुँह में गिरी वर्तिका {बतख} को तुम्हीं ने मुक्त किया था ।[2]

इन विरूदावलियों के बीच ही घोषा अपनी जीवनव्यथा भी व्यक्त करती है ।[3] वह अपने सौभाग्य के लिये वर माँगती है ।

40वें सूक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि घोषा अश्विनीकुमारों की कृपा से रूपयौवन प्राप्त कर चुकी है और अब वह मनोऽभिलषित वर पाने के लिये नासत्यों की कृपा चाहती है ।

वह कहती है कि हे अश्विनो ! तुम दोनो की कृपा से ही घोषा नारीलक्षणों को {उन्नतपयोधर आदि} प्राप्त कर सौभाग्यवती हुई है { अब} इसे कन्येच्छुक वर प्राप्त हो । जैसे निम्नाभिमुखी नदियाँ बहती हैं उसीप्रकार यह घोषा किसी तेजस्वी पुरूष की ओर प्रवृत्त हो रही है । वह रोगमुक्त हो गई है {10/40/9}

जो लोग अपनी प्रिया की प्राणरक्षा के लिये रोते हैं , उन्हें यज्ञकर्म में नियुक्त करते हैं, अपनी बाहों से उनका प्रगाढ़ आलिगंन करते हैं । वे प्रियतमाएँ भी पति के लिये उत्तम सन्तान पैदा करती है तथा पति को आलिंगन देकर स्वयं भी सुख प्राप्त करती हैं {10/40/10}

---

1. युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम् ।
2. वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसिताममुञ्चतम् ।
3. इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम् ।।

-ऋग्वेद 10/39/6

हे अश्विनो ! उनका उसप्रकार का (पतिसंगमजन्य) सुख मैं नहीं जानती । वह सुख तुम्हीं मुझे बताओ (युवा पति देकर) युवती पत्नी से प्रेम करने वाला बलवान् तथा वीर्यवान् पति मैं प्राप्त करूँ ।

न तस्य विद्म तदु षु प्रवोचत
युवा ह यद्युवत्याः क्षेति योनिषु ।
प्रियोस्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो
गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि ।। 10/40/11

अब वैदिक इन्द्रोपाख्यानों का यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है । इन्द्र से जुड़े बल , अहि , वृत्र , नमुचि , कुयव , शम्बर , चुमुरि तथा उरण-अर्बुद आदि दानवों-असुरों के प्रसंग इस अध्याय के पूर्व अनुच्छेदों में ही प्रस्तुत किये जा चुके हैं । जिन उपाख्यानों में इन्द्र की सहभागिता नहीं है उनका विवरण प्रस्तुत करना शोधकर्ता का लक्ष्य नहीं तथा जो उपाख्यान ब्राह्मणों , आरण्यकों एवं उपनिषदों में अधिक स्पष्टता के साथ निरूपित किये गये हैं, उन्हें उन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायेगा ।

ब्राह्मणों , आरण्यकों तथा उपनिषदों में इन्द्रोपाख्यान

वेदमंत्रों की ही तरह वेदमंत्रेतर श्रुति-वाङ्मय भी पदे-पदे इन्द्र के उल्लेखों से ओतप्रोत है । परन्तु विषय के औचित्य को ध्यान में रखते हुए कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अपरिहार्य इन्द्रोपाख्यानों की ही समीक्षा प्रस्तुत स्थल पर की जा रही है ।

(1) शुनःशेपोपाख्यान

ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप , रोहित तथा इन्द्र की कथा का विस्तृत निरूपण हुआ है । इक्ष्वाकुवंशी महाराज हरिश्चन्द्र ने पुत्र की कामना से वरूण देवता का यज्ञ किया । वरूण ने प्रसन्न होकर इस शर्त पर उन्हें पुत्र प्राप्त करने का वर दिया कि उसी पुत्र की बलि देकर वह वरूण को प्रसन्न करेंगे ।

हरिश्चन्द्र को रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । परन्तु पुत्रमोहवश महाराज उसकी बलि नहीं दे सके । वरूण के बार-बार याद कराने पर भी वह बहाने बनाते रहे -

"दाँत निकल जायें तब यज्ञ करूँगा , दूध के दाँत गिर जायें तथा स्थायी दांत आ जायं तब यज्ञ करूंगा , पुत्र कवच धारण करने योग्य हो जाय तब यज्ञ करूंगा ।"

इसी बीच अपनी मृत्यु को आसन्न जान रोहित प्राणभय के कारण वन में भाग गया । वरूण ने कुपित होकर महाराज हरिश्चन्द्र को भयावह जलोदर-रोग से ग्रस्त कर दिया ।

पिता की दुर्दशा जान-सुन कर रोहित ने घर लौटने का निश्चय किया । परन्तु इन्द्र को यह भय था कि यदि पुत्र की बलि देकर हरिश्चन्द्र ने वरूण को प्रसन्न कर लिया तो निश्चय ही इन्द्रपद उन्हीं को प्राप्त होगा । फलतः वह रोहित को घर लौटने से , यह कह कर , विरत करते रहे कि "चलते रहना ही जीवन का मूलमंत्र है ।"

सोने वाला व्यक्ति कलि का प्रतीक है । अंगड़ाई लेने वाला द्वापर का तथा उठ बैठने वाला त्रेता का ! परन्तु संचरण करने वाला व्यक्ति तो साक्षात् कृतयुग ही है । इसलिये रोहित ! चलते ही रहो ।"[1]

संचरणशील व्यक्ति ही मधु पाता है और संचरणशील ही स्वादिष्ट गूलर के फल प्राप्त करता है । बिना थके हुए लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती । रोहित ! हमने ऐसा ही सुना है । अतः चलते ही रहो ।[2]

जो व्यक्ति संचरण करते हुआ थकता नहीं उसे लक्ष्मी {सफलता} नहीं मिलती । रोहित ! हमने ऐसा ही सुना है । बैठे हुए व्यक्ति {आलसी} का भाग्य उससे रूठ जाता है , परन्तु चलने वाले के साथ तो इन्द्र {ऐश्वर्य} स्वयं सखा बनकर रहता है ।[3] इसलिये चलते ही रहो ।

---

1. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
   उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।। चरैवेति ।
2. चरन् वै मधु विन्देत चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
3. नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इन्द्र इच्चरतः सखा ।। चरैवेति

इसप्रकार पिता के प्रेम में डूबे तथा घर लौटने के इच्छुक रोहित को इन्द्र तीन बार लौटने से विरत करता रहा । अन्ततः रोहित ने अपने बदले किसी और को यज्ञपशु बनाने के उद्देश्य से अजीगर्त ऋषि के मध्यम पुत्र शुनःशेप को मनचाहा मूल्य देकर खरीद लिया । वह शुनःशेप को लेकर घर लौट आया । महाराज हरिश्चन्द्र ने वरूण का यज्ञ प्रारंभ किया । यूप से बंधे यज्ञपशुभूत शुनःशेप ने विश्वामित्र के कहने से भगवान् वरूण को अपनी भावभीनी करूणा भरी स्तुतियों से प्रसन्न कर लिया । वह पाशमुक्त हो गया और वरूण की कृपा से हरिश्चन्द्र भी रोगमुक्त हो गये ।

ऐतरेय-ब्राह्मणतथा परवर्ती पौराणिक-वाङ्मय में अनेकशः उदाहृत इस उपाख्यान में इन्द्र को एक स्वार्थी तथा द्वेषी प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है जोकि ऐश्वर्यच्युत होने के भय से किसी और का अभ्युदय नहीं देख सकता है । चूंकि वह एक-मात्र शतक्रतु है अतएव किसी अन्य राजर्षि अथवा महर्षि का शतक्रतु होना अथवा तपोबल से अभ्युदयशील होना उसे स्वीकार नहीं । फलतः वह छल-छद्म का आश्रय लेकर विघ्न-बाधा उत्पन्न करता रहता है ।

§2§ विश्वरूपोपाख्यान

यह उपाख्यान वस्तुतः इन्द्र एवं वृत्र के संघर्ष की पृष्ठभूमि है ।[1] शतपथ तथा तैत्ति0 ब्राह्मण में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है तथा उसी का अनुवदन अनेक पुराणों में भी उपलब्ध है ।

एक बार देवगुरू बृहस्पति की अनुपस्थिति में इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया । विश्वरूप त्रिशिरस् था । उसके तीन मुख तथा 6 नेत्र थे । वह एक मुख से सोमपान, दूसरे से सुरापान तथा तीसरे से अन्नभक्षण करता था । देव पुरोहित होते हुए भी वह मदिरा के नशे में इन्द्र को दुर्वचन कहता तथा असुरों की प्रशंसा

1- सविस्तर द्रष्टव्यः शतपथ-ब्राह्मण 12/7/1 तथा 5/5/4
तैत्तिरीय-ब्राह्मण 3/6/13/1

भी करता । कुपित होकर इन्द्र ने एक दिन विश्वरूप के तीनों सिर काट डाले । सोमपायी मुख गिरकर कपिञ्जल , सुरापायी मुख कलविङ्क तथा अन्नभक्षी मुख तीतर बन गया ।

पुत्रवध का वृत्तान्त ज्ञात होने पर त्वष्टा घोर अभिचार-कर्म के लिये सोमरस ले आया । इन्द्र ने बलात् उसे पी लिया और वह §उन्मत्त होकर§ दिशाओं में घूमने लगा । इन्द्र का वीर्य स्खलित होकर गिर पड़ा । उसकी सारी तेजस्विता उसके अंगों से क्षरित होकर गिरने लगी जिससे नाना प्रकार जीव-जन्तु उत्पन्न हो गये । आँखों के तेज से छाग , पलकों के तेज से गोधूम , आँसुओं से कुबल , नासारन्ध्र से च्युत तेज से मेष , नाक के मल से बदरी , मुख के तेज से गौ , मुख की झाग से जौ , थूक से कर्कन्धु , कान के खूँट से अश्व , अश्वतर तथा गर्दभ , स्तनों से दूध , वक्षस् के तेज से श्येन , नाभि से शीशा , मूत्र से वृक , अन्त्रों से व्याघ्र , रक्त से सिंह , लोम से बाजरा §अन्नविशेष§ त्वचा से अश्वत्थ , मांस से उदुम्बर , अस्थियों से न्यग्रोध, मज्जा से सोमरस तथा व्रीहि आदि का उद्भव हुआ ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विश्वरूप तथा इन्द्र का उपाख्यान इसी रूप में है परन्तु पुराणों में इन्द्र के विनाशार्थ कुपित त्वष्टा द्वारा वृत्र को उत्पन्न करने की बात कही गई है । भयावह वृत्र ने इन्द्र को आतंकित कर दिया। परन्तु दीर्घकालीन संघर्ष के अनन्तर वह इन्द्र द्वारा , महर्षि दधीचि की हड्डियों से बने वज्र के प्रहार से मारा गया ।

§3§ कुत्सोपाख्यान

दशद्यु , दिवोदास , अतिथिग्व आदि की ही तरह कुत्स को भी संकट से बचाने के अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद में आये हैं । प्रथम मण्डल के 33वें सूक्त में कहा गया है -

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्
प्रावं युध्यन्तं वृषभं दशद्युम् ।। अर्थात् हे इन्द्र ! तुमने जिसपर कृपा की उस कुत्स को बचाया और युद्ध करते हुए बलशाली दशद्यु की भी रक्षा की ।

ऋग्वेद 2/14/7 में भी इन्द्र द्वारा कुत्स, आयु तथा अतिथिग्व के वैरियों का विनाश करने की बात कही गई है । 2/19/6 में अपने सारथि कुत्स की रक्षा हेतु इन्द्र द्वारा शुष्ण, अशुष तथा कुयव नामक असुरों का वध करने का उल्लेख है -

स रन्धयत् सदिवः सारथये
शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय ।।

संग्राम में शुष्ण का वध करके कृपापात्र कुत्स की रक्षा का उल्लेख ऋग्वेद 1/51/6 में भी मिलता है । ऐसे ही सन्दर्भ अन्य मण्डलों में भी अनेकशः आये हैं । परन्तु चौथे मण्डल में 16वें सूक्त के दो मंत्र विशेष महत्त्व के हैं जिनके आधार पर इन्द्र एवं कुत्स की कथा का विकास हुआ है । जिसे हम जैमिनीय-ब्राह्मण 3/19/9 में विस्तार के साथ पाते हैं ।

इन मंत्रों में कहा गया है कि "दस्यु" को मारने की इच्छा वाले हे इन्द्र ! तू घर लौट आ । तेरा अभिलाषुक कुत्स तेरी मित्रता में रहे §तेरा शत्रु न बने§ समानरूप वाले तुम दोनो घर में बैठो तब सत्यज्ञान से युक्त नारी तुम दोनो को यथावत् जाने । परीक्षा करे ।"

हे इन्द्र ! तुम्हारे योग्य धन को प्राप्त करने के लिये, सरलता से जाने वाले §तुम्हारे§ घोड़ों को अपने रथ में जोतकर बुद्धिमान् कुत्स संकट से पार होने के लिये उद्यत होता है। उस समय उसकी रक्षा के इच्छुक तुम भी उसके रथ पर बैठ कर जाते हो ।

जैमिनीय-ब्राह्मण में इन्हीं वैदिक कथासूत्रों का विकसित रूप मिलता है । कुत्स इन्द्र की जांघ से उत्पन्न होने के कारण सर्वथा इन्द्र के समरूप था । इन्द्र की पत्नी शची पौलोमी ने भ्रान्तिवश उसे इन्द्र ही समझा - समरूपता के कारण । तब इन्द्र ने द्वेषवश कुत्स को "खलतिः" §गंजा§ बना दिया ताकि शची को भ्रान्ति न हो ।

परन्तु कुत्स पगड़ी बांधकर आने लगा जिससे इन्द्राणी को पुनः भ्रान्ति होने लगी । तब इन्द्र ने कुत्स के दोनो कन्धों के बीच में पांसु §धूलि§ पैदा कर दी । कुत्स उसे भी ढंक कर आने लगा और शची पुनः भ्रान्त होने लगी । अन्ततः क्षुब्ध होकर इन्द्र ने कुत्स को मारने का निश्चय किया ।

परन्तु कुत्स ने इन्द्र से प्राणरक्षा की याचना की और दूर चले जाने का वचन दिया । वह रजस् (धूलिभरा क्षेत्र) जनपद का राजा बन गया तथा सुश्रवा के पुत्र सौश्रवस उपगु को अपना पुरोहित नियुक्त किया । वह इन्द्र-विद्वेषी बन गया था फलतः उसने अपने राज्य में इन्द्र के यज्ञ-याग पर निषेधाज्ञा लगा दी ।

इन्द्र ने अपनी भेदबुद्धि से कुत्स एवं उसके पुरोहित उपगु में विद्वेष कराने की बात सोची । उसने सौश्रवस उपगु को इन्द्र-याग से प्राप्त होने वाले अनेक उत्तम लोकों का दर्शन कराया । लोभाविष्ट उपगु ने इन्द्र के लिये यज्ञ किया । परन्तु जब यह बात कुत्स को ज्ञात हुई तो उसने अपने पुरोहित उपगु के टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा उन्हें जल में प्रवाहित कर दिया । इस प्रकार इन्द्र का षड्यंत्र सफल हुआ ।

पुत्रवध से सन्तप्त सुश्रवा ने इन्द्र की स्तुति की पुत्र के पुनर्जीवन के लिये । दयालु इन्द्र ने उपगु को पुनः जीवित कर दिया ।

प्रस्तुत कथानक में उद्धृत मंत्रों का संकेत सार्थक प्रतीत होता है । जब शची पौलोमी ने कुत्स को इन्द्र समझकर उसके साथ पत्नी जैसा व्यवहार किया और इन्द्र को यह रहस्य ज्ञात हो गया, तब कुत्स ने शची के संकट का निवारण करने के लिये, उस स्थान को छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझा । उसने अपने रथ में इन्द्र के वेगगामी अश्व जोते और भाग निकला । इसी तथ्य का संकेत उपर्युक्त मंत्र (4/16/11) में है । इन्द्र तथा कुत्स को सम्यक् रूपसेन पहचान पाने की भ्रान्ति का संकेत भी 4/16/10 संख्यक मंत्र में विद्यमान है -

> स्वे योनौ निषदतं सरूपा
> वि वां चिकित्सहतचिद्ध नारी ।।

ताण्ड्य-ब्राह्मण 14/6/8 में यह उपाख्यान किञ्चित् परिवर्तित रूप में वर्णित हुआ है । इस सन्दर्भ के अनुसार -सुश्रवा का पुत्र उपगु उरूपुत्र कुत्स का पुरोहित था । इन्द्रद्वेषी कुत्स ने अपने साम्राज्य में इन्द्रयज्ञ का निषेध कर दिया था । परन्तु इन्द्र की चाल में फंसकर उपगु ने उसके लिये यज्ञ कर ही डाला । तब सौश्रवस उपगु द्वारा समर्पित पुरोडाश हाथ में लेकर इन्द्र कुत्स के पास पहुँचा और कहा - कि यह देख, तेरे पुरोहित ने मुझे पुरोडाश दिया है (अर्थात् तेरे विरोध के बावजूद भी तेरे राज्य में मेरा यज्ञ सम्पन्न हुआ) ।

अपमानित एवं क्रुद्ध कुत्स ने सभा में सामगान प्रस्तुत करते हुए उपगु का सिर काट लिया - उदुम्बर की तीखी स्थूणा से । तब महर्षि सुश्रवा ने इन्द्र से कहा कि तुम्हारे ही कारण यजमान (कुत्स) ने मेरे बेटे का सिर काटा है (अब तुम्हीं इसे जीवित करो) इन्द्र ने सौश्रवस उपगु का शीश पुनः जोड़कर उसे जीवित कर दिया ।

(4) गृत्समदोपाख्यान

इन्द्र-सम्बन्धी अनेक सूक्तों के द्रष्टा ऋषि गृत्समद हैं । "स जनास इन्द्रः" सरीखे प्रख्याततम इन्द्रसूक्त के भी द्रष्टा गृत्समद ही हैं । ऋग्वेद 2-1, 2-2, 2-3, 2-8, 2-9, 2-10 आदि 36 सूक्तों के द्रष्टा ऋषि गृत्समद ही हैं । परन्तु इन मंत्रों से महर्षि गृत्समद के विषय में कोई विशेष सूचना नहीं मिल पाती है ।

ऐतरेय-ब्राह्मण (2/2/1) तथा शतपथ-ब्राह्मण 5/2 , 22-4 में गृत्समद तथा इन्द्र के सन्दर्भ में रोचक सामग्री प्रस्तुत की गई है जिससे "स जनास इन्द्रः" की सार्थकता तथा मूल-सन्दर्भ का बोध भी हो जाता है ।

वेनवंशी नरपतियों के यज्ञ में उपस्थित इन्द्र को दैत्यों ने मारने का निश्चय किया । महर्षि गृत्समद इस रहस्य को जान गए और दैत्यों को उद्भ्रान्त करने तथा इन्द्रयाग की निर्विघ्न समाप्ति के उद्देश्य से वह स्वयं इन्द्र का रूप धारण कर यज्ञवाट से भाग खड़े हुए । मूर्ख असुरों ने इन्द्ररूपधारी गृत्समद का पीछा किया और गृत्समद उन्हें नानाप्रकार से भटकाते रहे । इसी अवधि में यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया । जब इन्द्र को महर्षि गृत्समद के कौशल का ज्ञान हुआ तब वह असुरों (चुमुरि तथा धुनि) के पीछे चल पड़ा ।

इधर गृत्समद ने यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति जानकर अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया और असुरों से कहा - "स जनास इन्द्रः" इन्द्र कोई और है , मैं नहीं । गृत्समद ने इन्द्र के शौर्य-पराक्रम , रणकौशल , छल-छद्मनैपुण्य का ऐसा ओजस्वी वर्णन किया कि चुमुरि तथा धनु निष्प्रभ एवं आतंकित हो गये । तभी इन्द्र ने वहाँ पहुँचकर उनका वध भी कर डाला ।

गृत्समद एवं इन्द्र से ही जुड़ा एक और उपाख्यान है जिसका संकेत हम द्वितीय-मण्डल के अन्तिम दो सूक्तों §42 एवं 43§ में पाते हैं । इनमें महर्षि गृत्समद द्वारा कपिञ्जल §पक्षी विशेष§ रूपधारी इन्द्र का संस्तवन किया गया है ।

चुमुरि एवं धुनि का वध करने के अनन्तर गृत्समद ने इन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की स्तोत्रों द्वारा । तभी देवगुरू बृहस्पति भी आ गये वहाँ । महर्षि गृत्समद ने उनका मान रखने के लिये , अन्यान्य देवों के साथ उनकी §बृहस्पति§ भी स्तुति की । परन्तु इन्द्र का मन अभी भी अतृप्त था । फलतः अपनी स्तुति सुनने के लिये उसने कपिञ्जल का रूप धारण कर लिया । परन्तु महर्षि गृत्समद कपिञ्जलरूपधारी इन्द्र को पहचान गये और उन्होंने उसी रूप में इन्द्र की स्तुति की ।

§5§ <u>दध्यङ्. उपाख्यान</u>

दध्यङ्. के सन्दर्भ में प्रभूत सामग्री वेदमंत्रों में मिलती है । इन्द्र के स्वराज्य की प्रशंसा करते हुए अथर्वा , मनु तथा दध्यङ्. के अवदान की चर्चा हम ऋग्वेद 1-80-16 में पाते हैं -

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्. धियमत्नत ।

ऋग्वेद 1/84/13 में कहा गया है कि महर्षि दध्यङ्. की अस्थियों से बने वज्र से इन्द्र ने 99 असुरों को मार डाला ।

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीनव ।।

ऋग्वेद 1-116-12 में महर्षि कक्षीवान् §दीर्घतमस औशिज § कहते हैं - हे अश्विनीकुमारो ! आथर्वण § अथर्वा के पुत्र§ दधीचि ऋषि ने घोड़े के सिर से ही तुम दोनों को जो मधुविद्या का उपदेश दिया - तुम दोनों के उस भयावह §लोमहर्षक§ कार्य को मैं लोकोपकार की सिद्धि के लिये आविष्कृत करता हूँ ।

तद् वां नरा सनये दंसं उग्र-
माविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वा-
मश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ।।

इसी तथ्य का स्पष्टतर संकेत ऋग्वेद 1/117/22 में भी मिलता है - "हे अश्विनो ! आथर्वण दधीचि को (उनका मानव मस्तक काट कर) घोड़े का सिर आपने ही लगा दिया था जिससे कि उन्होंने आप दोनो को मधुविद्या का उपदेश दिया था । इन्द्र से प्राप्त वह ज्ञान भी उन्होंने आप दोनो को दे दिया ।

आथर्वणायाश्विना दधीचे
अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्
स वां मधु प्र वोचहतायन्
त्वाष्ट्रं यद् दस्त्रावपिकक्ष्यं वाम् ।।

दध्यङ्-सम्बन्धी इन्हीं संकेतसूत्रों का विवरण हम परवर्ती पौराणिक उपाख्यानों में पाते हैं । बृहद्देवता में भी दध्यङ् का उपाख्यान सविस्तर निरूपित हुआ है ।

अथर्वापुत्र दध्यङ् की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें मधुविद्या का उपदेश इस शर्त पर दिया कि यदि उन्होंने यह रहस्य किसी और को बताया तो उनका शीर्षच्छेद कर दिया जायेगा । महर्षि दधीचि ने इन्द्र की शर्त स्वीकार कर ली और उनसे मधुविद्या प्राप्त की ।

कालान्तर में अश्विनीकुमारों का इन्द्र से वैमनस्य बढ़ा । इन्द्र ने अपने यज्ञों में देववैद्यों को सोमपान से वंचित कर दिया । अश्विनीकुमार भी प्रतिस्पर्धावश अपनी शक्ति बढ़ाने का उपाय सोचने लगे । तभी उन्हें महर्षि दधीचि की मधुविद्या का रहस्य ज्ञात हुआ । उसे पाने के लिये वे महर्षि के पास आये और इन्द्र की शर्त को दृष्टि में रखकर बोले - हे ऋषे ! आप अपना मानवमस्तक (हमसे) कटवाकर सुरक्षित रख लें और उसके स्थान पर अश्व का सिर लगाकर हमें मधुविद्या का उपदेश दे दें । निश्चय ही, सब कुछ जानकर इन्द्र आपका अश्वमस्तक काट डालेगा । तब हम अपनी शल्यचिकित्सासे पुनः आपका मस्तक जोड़ देंगे ।

याचक को याचित वस्तु {पास रहते हुए भी} न देना महापाप है'। इस पाप से बचने के लिये महर्षि दधीचि ने अश्विनीकुमारों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने हयशीर्ष से नासत्यों को मधुविद्या का उपदेश दिया। इन्द्र द्वारा अश्वशीर्ष काट दिये जाने पर देववैद्यों ने ऋषि का सुरक्षित शीश यथावत् आरोपित कर दिया। अश्विनीकुमार भी मधुविद्या का ज्ञान प्राप्त कर यज्ञभाग {पुरोडाश} पाने के अधिकारी बन गये।

{6} मरुत्-उपाख्यान

मरुत्-सम्बन्धी विवरण ऋग्वेद, यजुर्वेद, ऐतरेय तथा शतपथ-ब्राह्मण एवं विविध पुराणों में आई है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार मरुत् दिति की सन्तान हैं जिन्हें गर्भावस्था में ही, अपना शत्रु जानकर, इन्द्र ने 49 टुकड़ों में काट डाला था। परन्तु गर्भस्थ उन खण्डित शिशुओं ने जब इन्द्र का सहायक बने रहने का वचन दिया और प्राणरक्षा की याचना की तब इन्द्र ने उन्हें जीवनदान दे दिया। वही 49 मरूदगण इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं।

ऋग्वेद में मरुतों को महान् योद्धा तथा रूद्र का आत्मज बताया गया है। वे शरीर की सुन्दरता बढाने के लिये नानाप्रकार के आभूषणों से अपना प्रसाधन करते हैं। वक्षःस्थल पर सुवर्णनिर्मित हार धारण करते हैं। उनके कन्धों पर आयुध चमकते रहते हैं नेता के पद पर अधिष्ठित मरूद्गण अपने पराक्रम के साथ ही द्युलोक से प्रकट हुए।[1]

सूर्य के समान तेजस्वी, जीवनदान देने वाले, पापरहित, पवित्रता से युक्त, सोमपायी, बृहदाकार शरीर वाले तथा रूद्र के मरणधर्मा वीर वे मरूद्गण मानो स्वर्ग से ही उत्पन्न हुए।[2]

---

1. ऋग्वेद, 1/64/4
2. द्रष्टव्य, ऋग्वेद, 1/64/2

सदैव युवा बने रहने वाले, वृद्धावस्था से रहित, अनुदार कृपणों को दूर भगाने वाले, पर्वत के समान दृढ़ तथा शत्रुओं को रुलाने वाले मरूत् लोगों को सहायता पहुँचाते हैं।[1]

मरूत् समुदाय में रहने के कारण शोभासम्पन्न हैं (गणश्रियः) वे पीड़ित जनता के सहायक हैं (समित् सबाधः) हाथियों एवं मृगों के समान वे वनों को खा जाते हैं तथा सिंहों के समान गर्जना करते हैं (सिंहा इव नानदति प्रचेतसः, मृगा इव हस्तिनः खादथा वना। 1/64/7,8)

समरांगण में जब मरूद्गण इन्द्र की सहायतार्थ पहुँचे तब उन्होंने यज्ञ के योग्य नाम धारण किये।[2] आत्मश्लाघी इन्द्र मरूतों के बल का उपहास करता था। परन्तु मरूतों द्वारा विनम्र भाव से प्रशंसा किये जाने पर वह मरूतों के प्रति सहज हो गया। महर्षि अगस्त्य ने मरूतों के साथ इन्द्र के विवाद को शान्त किया।

वृत्र के साथ हुए संघर्ष में मरूतों ने ही इन्द्र का साथ दिया। उन्होंने मीठे शब्दों में इन्द्र को प्रेरणा प्रदान की तथा वृत्रवध का मर्म भी बता दिया -

येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदा-
मर्मणो मन्यमानस्य मर्म ।।
- 2/32/4

इन्द्र तथा वृत्र के भयावह संग्राममेंसभी देवता भयभीत होकर भाग गये, परन्तु मरूतों ने साथ नहीं छोड़ा।

मरूद्गण देवमण्डली में वैश्यवर्गीय माने गये हैं फलतः उन्हें यज्ञ में कोई अंश नहीं प्राप्त होता था। जब प्रजापति सृष्टि के निमित यज्ञ करने लगे तो क्षुब्ध मरूतों ने धमकी दी कि आप द्वारा उत्पन्न की गई प्रजाओं का हम लोग विनाश कर देंगे। प्रजापति ने मरूतों के बल-पराक्रम को भांपते हुए, यज्ञ में उन्हें भी "पुरोडाश" देने की व्यवस्था की।

---

1. द्रष्टव्य ऋग्वेद, 1/64/3
2. यदीमिन्द्रं शम्यृक्वाणं आशता दिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे ।।
- ऋग्वेद 1/87/5

§7§ कक्षीवान्-उपाख्यान

कक्षीवान् उशिक् तथा दीर्घतमा ऋषि का पुत्र था । इसी लिये उसे दैर्घतमस औशिज कहा जाता था । कक्षीवान् ने इन्द्र की कृपा से अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त किया था जिसका संकेत हम ऋग्वेद 1/17/1 में पाते हैं -

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥

कक्षीवान् जब विद्याध्ययन समाप्त कर घर को लौट रहे थे तो मार्ग में ही उन्हें नींद आ गई और वह सो गये । राजा स्वनय भावयव्य भी उसी मार्ग से आ रहे थे । उनकी दृष्टि कक्षीवान् पर पड़ी जो रूप-सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति प्रतीत होता था । कक्षीवान् के जगने पर राजा ने उसका गोत्रादि-विषयक परिचय पूछा[1] और सर्वथा सन्तुष्ट होने पर अपनी दस पुत्रियों का विवाह कक्षीवान् के साथ कर दिया ।

ऋग्वेद 1/21/13 में इस तथ्य का उल्लेख है कि हे इन्द्र ! तुमने अपनी स्तुति करने के अभिलाषी तथा सोमयाग करने वाले कक्षीवान् के लिये कम आयु वाली §अर्थात् नवयौवना§ वृचया नाम की पत्नी प्रदान की - अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते ।।

ऋग्वेद 1-126 संख्यक सूक्त का ऋषि स्वयं कक्षीवान् है । वह स्वनय भावयव्य द्वारा कन्या, साथ ही साथ दहेज में दिये गये ऐश्वर्यों का स्वयं वर्णन करता है । इस वर्णन से प्रतीत होता है कि महाराज स्वनय ने कक्षीवान् को उत्तम वधुओं के साथ , दस रथ दिये थे जिन्हें 40' घोड़े खींचते हैं । ।। बैल भी स्वनय ने कक्षीवान् को दिये जो प्रेम करने वाले मनुष्यों की तरह एक घर में रहते हैं । एक अन्य मंत्र में कक्षीवान् 100 अश्व , 100 बैल तथा 100 निष्क §सुवर्ण मुद्रा§स्वनय से प्राप्त करने की बात कहता है ।

---

1. ऋग्वेद 1-117-6 से ज्ञात होता है कि कक्षीवान् पज्रिय-वंश में उत्पन्न हुआ वह अंगिरस् गोत्र का था ।

इसी कक्षीवान् की पुत्री काक्षीवती घोषा थी जो रोमशा होने के कारण चिरकाल तक अविवाहित, पिता के घर पड़ी रही । उपर्युक्त सूक्त के ही अन्तिम मंत्र में रोमशा की भी आत्माभिव्यक्ति विद्यमान है ।[1]

कक्षीवान् का सम्पूर्ण उपाख्यान शतपथ-ब्राह्मण 1/3/4/35 तथा बृहद्देवता में विस्तार पूर्वक वर्णित हुआ है ।

§8§ प्रजापति उपाख्यान

छान्दोग्य-उपनिषद्[2] में वर्णित एक सन्दर्भ के अनुसार एक बार देवराज इन्द्र तथा दैत्यराज विरोचन §प्रह्लाद के पुत्र§ हाथ में समिधा लेकर §समित्पाणि§ प्रजापति के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने गये । उन दोनो की आकांक्षा जानकर प्रजापति ने दोनो को पानी से भरे पात्र में अपना शरीर देखने को कहा । दोनो के वैसा करने पर प्रजापति ने पुनः कहा - "वह प्रतिबिम्ब ही आत्मा है ।"

इन्द्र तथा विरोचन - दोनो ही अपने प्रतिबिम्ब को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट भाव से चल पड़े । परन्तु इन्द्र ने देवलोक पहुँचने से पूर्व ही संशय करना प्रारंभ कर दिया कि शराव के जल में तो विभूषित व्यक्तिका विभूषित रूप दीखता है , कुरूप का कुरूप और अन्धे का अन्धा । तो फिर वह प्रतिबिम्ब अजर-अमर आत्मा कैसे हो सकता है ? यह संशय लेकर इन्द्र पुनः 32 वर्ष प्रजापति के पास , आत्मज्ञान पाने के लिये रहे ।

तब प्रजापति ने कहा जो स्वप्न में भी पूजित होता हुआ मुक्त विचरण करता है वही आत्मा अमृत , अभय तथा ब्रह्म है । परन्तु इन्द्र का मन तब भी शंकालु बना रहा वह तीन बार 32 , 32 वर्ष तथा चौथी बार पाँच वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक प्रजापति की सेवा में रहे और तब उन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हो सका ।

---

1. सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका" अर्थात् मैं गन्धार देश की भेड़ के समान सर्वांग में रोम से युक्त हूँ ।
2. सविस्तर द्रष्टव्य-छान्दोग्य0 अध्याय-8

द्वारा इन्द्र

छान्दोग्य0 में प्रजापति को दिया गया आत्मस्वरूप ज्ञान अत्यन्त रोचक है । आत्मा स्वरूप में स्थित होता हुआ भी अज्ञानजन्य शरीर-बन्धन एवं इन्द्रियादि से युक्त है । सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाने पर वह आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है । आत्मज्ञान से ही मुक्ति संभव होती है ।

उपनिषद्-वाङ्मय में इन्द्र से जुड़े छोटे-बड़े और भी अनेक उपाख्यान हैं । परन्तु अब इस प्रसंग को यहीं छोड़ा जा रहा है, मूलविषय से अत्यधिक सम्पृक्त न होने तथा विस्तारभय के कारण । वस्तुतः इन्द्र-सम्बन्धी उपाख्यानों पर एक पृथक् ग्रंथ ही लिखा जा सकता है - सामग्री की प्रचुरता के कारण ।

वेदाङ्गों तथा अवान्तर वैदिक ग्रंथों में इन्द्रोपाख्यान

शिक्षा , कल्प , निरूक्त , व्याकरण , ज्योतिष तथा छन्द को वेदाङ्ग कहा गया है । ज्ञानपिपासु ब्राह्मण को अकारण ही छहों अंगों के साथ वेद का अध्ययन करना चाहिये ।[1] इन वेदांगों में भी यत्र-तत्र इन्द्र का सन्दर्भ आता है । विशेषकर व्याकरण-शास्त्र के प्रवर्तक के रूप में इन्द्र का नाम लिया जाता है ।

महर्षि शाकटायन ने ऋक्तंत्र में व्याकरण को "अक्षरसमाम्नाय" की संज्ञा देते हुए उसकी परंपरा का वर्णन किया है । उनके मतानुसार "व्याकरणशास्त्र स्वयम्भू ब्रह्मा से बृहस्पति को , बृहस्पति से इन्द्र को , इन्द्र से भरद्वाज को , भरद्वाज से ऋषियों को और ऋषियों से ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ ।" इस प्रकार व्याकरण की परम्परा में इन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

तैत्तिरीय-संहिता §6/4/7/3§ में भी देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र द्वारा वाक् को व्याकृत किये जाने का उल्लेख मिलता है -

---

1. ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च । महाभाष्य§पस्पशा0§

वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीत् - वरं वृणे । मह्यं चैवेष वायवे च सह गृह्याता इति । तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृतवागुद्यते ।

इसप्रकार प्राचीनतम सन्दर्भों में भी इन्द्र के वय्याकरण होने का प्रमाण मिलता है । ऐन्द्रव्याकरण सम्भवतः प्रख्यात आठ व्याकरणों[1] में प्राचीनतम व्याकरण ग्रंथ रहा होगा जो अब उपलब्ध नहीं है । इन्द्र के व्याकरण-अध्येता होने की पुष्टि महाभाष्यकार पतंजलि §ई0 पू0 द्वितीय शती§ भी करते हैं -"इन्द्र जैसा अध्येता और बृहस्पति जैसा वक्ता । देवताओं के वर्ष जैसा दिव्य कालखण्ड §अर्थात् मनुष्यों का सौ वर्ष देवताओं के एक दिव्य वर्ष के बराबर § फिर भी देवगुरू बृहस्पति एक सहस्त्र दिव्यवर्ष तक शब्दविद्या का प्रवचन करते रहे , परन्तु उसका अन्त नहीं पा सके ।[2.]

काशिकावृत्ति की तत्त्वविमर्शिनी टीका में आचार्य नन्दकेश्वर भी इन्द्र के व्याकरणशास्त्रीय मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं -

तथा चोक्तमिन्द्रेण- अन्तर्वर्णसमुद्‌भूताः
धातवः परिकीर्तिता इति ।"

ऐन्द्र-व्याकरण की रचना के विषय में एक और प्रक्षिप्त परन्तु महत्त्वपूर्ण श्लोक मिलता है , जो इसप्रकार है -

पूर्वं पदमभुवा प्रोक्तं श्रुत्वेन्द्रेण प्रकाशितम् ।
तद् बुधेभ्यो वररूचिः कृतवानिन्द्रनामकम् ।।

सारस्वतप्रक्रिया नामक ग्रंथ में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने भी महाभाष्यकार के ही मन्तव्य का अनुसारण करते हुए कहा है -

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः ।
प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं कथं नरः ??

---

1. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।। - वोपदेव
2. बृहस्पतिश्च वक्ता । इन्द्रश्चाध्येता । दिव्यं वर्षसहस्त्रमध्ययनकालः अन्तं च न जगाम ।
- महाभाष्य §पस्पशाहिनक§

महर्षि शौनक-प्रणीत बृहद्देवता यद्यपि वेदांगों में नहीं आता । वह वैदिक उपाख्यानों से सम्बद्ध एक स्वतंत्र ग्रंथ है । परन्तु देवकथाओं का अत्यन्त प्रामाणिक वर्णन इस महनीय ग्रंथ में प्राप्त होता है । बृहद्देवता में वर्णित आख्यान मुख्यतः चार प्रकार के हैं -

1. देवविषयक
2. असुरविषयक
3. ऋषिविषयक तथा
4. राजविषयक

इन्हीं उपाख्यानों में इन्द्रविषयक कथाएँ भी सविस्तर निरूपित हुई हैं । प्रमुख कथाएँ इसप्रकार हैं -

1. इन्द्र एवं अंगिरस् का आख्यान ।
2. इन्द्र , मरूद्गण तथा अगस्त्य का आख्यान ।
3. इन्द्र तथा वामदेव का संघर्ष-उपाख्यान ।
4. इन्द्र तथा वसुक्र का आख्यान ।
5. वैकुण्ठ इन्द्र का आख्यान ।
6. विष्णु एवं इन्द्र का आख्यान ।
7. सरमा तथा पणि आख्यान ।
8. त्रिशिरस् तथा इन्द्र का आख्यान ।
9. इन्द्र तथा कंस दानव की भगिनी का आख्यान ।
10. गृत्समद तथा इन्द्र की कथा ।
11. दधीचि तथा इन्द्र की कथा ।
12. अपाला तथा इन्द्र का आख्यान ।
13. घोषा का आख्यान ।
14. इन्द्र एवं शुनः शेप का आख्यान ।
15. कक्षीवान् स्वनय तथा इन्द्र का आख्यान ।
16. पुरूरवस् उर्वशी तथा इन्द्र का आख्यान ।

इनमें से प्रायः सभी उपाख्यानों का विवरण ऋग्वेद के मंत्रों , ब्राह्मणादि ग्रंथों एवं स्त्रोतों से प्रस्तुत किया जा चुका है । इन्द्र तथा वामदेव का आख्यान इस प्रकार है -

वामदेव महर्षि गौतम के पुत्र थे । जब वह माता के गर्भ में थे तभी उन्हें अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान हो गया था । फलतः अपनी जन्मकथा और माँ की प्रसववेदना को दृष्टि में रखकर , योनिमार्ग से पैदा होने के स्थान पर उन्होंने माँ का पेट फाड़कर बाहर निकलने का निश्चय किया ।

सन्तति का यह दुस्संकल्प जानकर भयभीत जननी ने देवमाता अदिति से रक्षा की याचना की । अदिति अपने वीर पुत्र देवराज इन्द्र के साथ प्रकट हुई और दोनो ने गर्भस्थ शिशु को समझाना प्रारंभ किया । परन्तु गर्भस्थ शिशु ने उल्टे इन्द्र को ही संबोधित किया और कहा - "इन्द्र ! मैं जानता हूँ कि मैं ही पूर्वजन्म में मनु था । मैं ही सूर्य था और मैं ही ऋषि कक्षीवान् भी था । मैं जन्मत्रयी का रहस्य भी भलीभांति जानता हूँ । जीव का प्रथम जन्म पिता के शुक्राणुओं से, माता के शोणित के मिलने पर, दूसरा जन्म योनि से बाहर निकलने पर तथा तीसरा जन्म मृत्यु के अनन्तर होता है ।

यह कहकर वामदेव श्येन पक्षी का रूप धारण कर माँ के उदर से बाहर निकल आये । इन्द्र ने उन्हें युद्ध के लिये ललकारा अपमान एवं रोषवश , परन्तु वह वामदेव से परास्त हो गये । महर्षि वामदेव ने दस दुधारू गायों के बदले इन्द्र को मुक्त कर दिया

प्रभूत समय बीत जाने पर वामदेव पर विपत्ति के बादल टूट पड़े । वह दरिद्र हो गये । उनका आश्रम भी श्रीहीन हो गया । वृक्षों में फूल-फल आना बन्द हो गया । पत्नी के अतिरिक्त समस्त सहचर ऋषियों -मुनियों ने भी साथ छोड़ दिया । परन्तु महर्षि वामदेव ने धैर्य नहीं त्यागा । उन्होंने किसी से कोई याचना भी नहीं की ।

क्षुधा से पीड़ित होकर एकदिन वह यज्ञकुण्ड की आग में कुत्ते की आँते पकाने लगे । श्येनरूपधारी इन्द्र ने उनकी यह दुर्दशा देखी और बोला - "ऋषे ! जिस यज्ञकुण्ड में कभी हविष्य अर्पित करते थे वहीं अब मांस पका रहे हो ?"

वामदेव बिना विचलित हुए बोले - "यह आपत्काल का धर्म है । मैंने अपने सारे कर्म क्षुधा को अर्पित कर दिये हैं । तुम्हें भी मैं उसी मांस से तृप्त कर सकता हूँ । मैं तुम्हारा आभारी हूँ कि तुमने करूणा प्रदर्शित की ।"

इन्द्र वामदेव के धैर्य , संयम एवं तितिक्षाभाव से अत्यन्त प्रभावित हुआ और श्येन रूप त्याग कर सहजरूप में आ गया । उसने वामदेव को मधुर रसों से तृप्त किया तथा उनकी सारी दरिद्रता दूर कर दी । दोनो का पुराना वैर मैत्री में बदल गया ।

ऋग्वेद के चतुर्थ-मण्डल में महर्षि वामदेव ने अनेक सूक्तों में देवराज इन्द्र की भावभीनी स्तुतियाँ की हैं ।

इन्द्र-सम्बन्धी विविध वैदिक उपाख्यानों से उसके चरित्र के विविध पक्ष प्रकाशित होते हैं । कहीं वह दैन्य-व्यथा एवं विपत्ति दूर करने के लिये सहायक के रूप में दीखता है तो कहीं आत्मज्ञान-पिपासु एक साधक जिज्ञासु के रूप में । कहीं वह सामदानादि चतुर्विध उपायों से समर्थ एक शत्रुहन्ता के रूप में प्रकट होता है तो कहीं योग-क्षेम-परायण लोकनायक के रूप में । वस्तुतः उसका व्यक्तित्व सहनीय है । कुल मिलाकर वह समृद्धि एवं परमैश्वर्य का देवता सिद्ध होता है ।

-0-0-0-

"तृतीय-अध्याय"

पौराणिक इन्द्र-स्वरूप एवं इन्द्रोपाख्यान-

-0-0-0-

पौराणिक इन्द्र-स्वरूप एवं इन्द्रोपाख्यान

प्राचीन भारतीय-वाङ्मय में, वैदिक एवं लौकिक संस्कृतवाङ्मय की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में पुराणों का अनिवार्य अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। गो कि कुछ भारतविरोधी दृष्टिकोण वाले पाश्चात्त्य विद्वानों के कुतर्कों के कारण तथा उससे भी अधिक आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की एकपक्षीय तथा संकुचित वैयक्तिक मनोवृत्ति से युक्त संस्थापनाओं के कारण आज पौराणिक वाङ्मय की अस्मिता को संशयभरी दृष्टि से देखा जा रहा है। परन्तु निष्पक्ष दृष्टिसेविचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास, धर्म, संस्कृति एवं सामाजिक गतिविधियों को जानने के लिये पुराणों की शरण में आना तथा उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करना, प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य है।

पौराणिक इन्द्र-स्वरूप पर विचार करने से पूर्व पुराणों के सन्दर्भ में ही थोड़ी जानकारी कर लेना, विषयविवेचन की सांगोपांगता की दृष्टि से आवश्यक है। पुराण क्या है? पुराण शब्द का निर्वचन क्या है? पुराण कितने प्राचीन हैं? इसप्रकार के प्रश्न स्वभावतः मन में उठते रहते हैं।

पुराण शब्द का उल्लेख वेदमंत्रों में ही होने के कारण उसकी महत्ता तथा प्राचीनता को ऋक्, यजुष्, सामन् एवं श्रुति आदि के ही समकक्ष स्वीकार करना होगा। एक मंत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि परमेश्वर ने यजुष् के साथ पुराण का निर्माण किया (पुराणं यजुषा सह)[1]।

पुराण शब्द का उपर्युक्त प्रयोग वाङ्मय-विशेष के ही अर्थ में है। प्राचीनता के सामान्य अर्थ में भी इस शब्द का अनेकशः प्रयोग वेद-मंत्रों में मिलता है।[2] अब कुछ विशेष व्याख्यायें प्रस्तुत हैं -

1. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। - अथर्ववेद 10-724
2. पुराणान् अनुवेनन्तं चरन्तं पापममुया (ऋग्वेद 10/135/1)
   अर्थात् प्राचीन पितरों की इच्छा करते हुए....।
   पुराणा वां वीर्यानु प्र ब्रवा जने (ऋग्वेद 10/39/5) तुम्हारे पूर्वकाल के पराक्रमों को जनता के बीच कहती हूँ (काक्षीवती घोषा)

§1§ पुराण शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है प्राचीनकाल में घटित §इतिवृत्त§ पुरा भवः पुराणम् §पुरा + ट्यु प्रत्ययः § ।

§2§ एक अन्य व्याख्या के अनुसार जो पुरातन इतिवृत्त को जीवित रखे वह वाङ्मय ही पुराण है - पुरा पुरातनम् अनिति जीवति जीवयति वा इति पुराणम् §पुरा + अण् प्राणने + अच् प्रत्ययः § ।

§3§ अतीत अर्थों §वृत्तों§ को वर्णित करने के कारण भी पुराण शब्द सार्थक माना जाता है - पुरा अतीतान् अर्थान् अणति कथयतीति पुराणम् §पुरा + अण् शब्दे भ्वादिधातु + पचाद्यच् प्रत्ययः § ।

§4§ निरुक्तकार आचार्य यास्क प्राचीन वृत्त को §हस्तामलकवत्§ नवीन प्रतीत करा देने वाले वाङ्मय को ही पुराण मानते हैं - पुरा नवं भवतीति पुराणम् ।

§5§ जो प्राचीन कथाओं को प्राप्त करा दे , वही पुराण है - पुरा + णी प्रापणे + औणादिक ड प्रत्ययः ।

§6§ कुछ आचार्यों तो "पुरा" अव्यय को अतीत तथा अनागत §भूत एवं भविष्य§ दोनो अर्थ में मानते हैं । क्योंकि पुरा का अर्थ ही है - पुरति अग्रे गच्छति इति पुरा §पुर धातु तौदादिक + उणादि का प्रत्ययः§ वर्तमान से पीछे चलना ही अतीत है , वर्तमान से आगे चलना ही अनागत अथवा भविष्य है ।

पुराण भूत एवं भविष्य दोनो ही ओर प्रवृत्त होता है । जो लोग "भविष्यपुराण" §जो पुराण है वह भविष्य कैसे होगा ?§ की संज्ञा को "वदतोव्याघात" मानते हैं उन्हें आचार्यों का यह मन्तव्य सम्यक् रूप से समझना चाहिये ।

पुराण भूत तथा भावी- दोनो ही प्रकार के इतिवृत्तों का वर्णन करता है - पुरा अतीतानागते अनति वक्तीति पुराणम् ।

§7§ मेदिनीकोश में भी पुराण शब्द की उभयार्थकता का स्पष्ट संकेत मिलता है - स्यात्प्रबन्धे पुराऽतीते संकटागामिके तथा ।

§8§ पद्मपुराण में प्राचीन परम्परा का वक्ता होने के कारण पुराण का अस्तित्व माना गया है – पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वैस्मृतम् ।

§9§ ब्रह्माण्डपुराण में भी प्रायः यही मन्तव्य व्यक्त किया गया है – यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतद् पुराणं तेन तत्स्मृतम् ।

§10§ वायुपुराण में भी पुराण शब्द को परिभाषित किया गया है –
यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन कथ्यते ।
निरूक्तिमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

उपर्युक्त ढेर सारी व्याख्याओं के संकलन का एकमात्र उद्देश्य है – पुराण का विविध प्रकार से किया गया व्याख्यान तथा उसकी प्रामाणिकता का प्रकाशन ।

ए० स्टीन जैसे पाश्चात्त्य विद्वान् जो भारतीयों को इतिहास-लेखन की कला से सर्वथा अनभिज्ञ मानते हैं, पुराणों को कपोल-कल्पना मात्र मानते हैं । मैक्समूलर जैसे भारतीयविद्या के पक्षधर विद्वान् स्टीन के मत का खण्डन करते हुए भी, प्रकारान्तर से उन्हीं के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं ।[1]

परन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों की यह दृष्टि उनकी संकीर्ण मानसिकता तथा अपने मिथ्या दम्भ की उपज मात्र है । राजतरंगिणीकार महाकवि कल्हण §12वीं शती ई० § स्पष्टतः कहते हैं कि काश्मीर के राजवंश का इतिहास लिखने में उन्होंने ताम्रपत्र, शिलाशासन आदि के साथ ही साथ "नीलमतपुराण" से सहायता ली है । यह पुराण आज अनुपलब्ध है, परन्तु कल्हण के युग में यह काश्मीर का प्राचीन प्रामाणिक इतिहास रहा होगा ।

---

1. Greece and India are two opposite poles. For Greeks this life is full of reality. Greeks are happy where'ver they are. But for Indians this life is merely a drama, a delusion That is why India has no history – F. Maxmüller.

पुराणों की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में डॉ0 राजेन्द्रचन्द्र हाजरा, पं0 बलदेव उपाध्याय तथा डॉ0 श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी सरीखे भारतीय चिन्तकों के मत कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पंचलक्षण[1] की अनिवार्य सीमारेखा में आबद्ध होते हुए भी पुराण प्राचीन भारतीय इतिहास को बड़ी निष्ठा के साथ व्यक्त करते हैं। अतएव उनकी प्रामाणिकता पर हमें सन्देह नहीं करना चाहिये।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि स्मृतियाँ वेदार्थ का ही अनुवर्तन करती हैं[2] तथा इतिहास एवं पुराण वेदार्थ का ही उपबृंहण। वेदों में जो तथ्य अत्यन्त संक्षेप अथवा सूत्र में कहे गये हैं, उन्हीं को इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में विस्तार से बताया गया है। इसप्रकार षड्वेदाङ्ग, स्मृतियाँ तथा इतिहास-पुराण - सबके-सब वेद के रहस्यों को ही समझने के विविध स्त्रोत हैं।

वेदों में प्रयुक्त भाषा निश्चय ही गूढार्थक है। अतएव मंत्रार्थों को समझ पाना एक कठिन कार्य है। मंत्रार्थों को समझने की नाना पद्धतियाँ हैं जिन्हें अपवादादि शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। परन्तु वेदमंत्रों में वर्णित संक्षिप्त, अपूर्ण तथा सांकेतिक देवकथाओं को समझने के लिये सर्वाधिक सहायता पुराणों से ही मिलती है, जहाँ उन अधूरी तथा जटिल कथाओं को विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है। महर्षि यास्क ने संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा है -

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

अर्थात् इतिहास एवं पुराण के द्वारा वेदार्थ की व्याख्या करनी चाहिये। अल्पज्ञ व्यक्ति (अर्थात् इतिहास एवं पुराण के ज्ञान से वञ्चित) से वेद डरता है कि यह मुझे आहत कर देगा।

---

1. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।
2. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।। - कालिदास (रघु. द्वितीय सर्ग)

इन्द्र तथा वृत्र के संघर्ष की व्याख्या के प्रसंग में ही निरूक्तकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि आचार्य यास्क (7वीं शती ई0 पू0) से पूर्व भी वेदार्थ निश्चित करने के अनेक सम्प्रदाय थे । स्वयं आचार्य यास्क ने ऐतिहासिक , नैरूक्त, प्रकृतिवादी तथा ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों की चर्चा की है ।[1]

वेदार्थ निश्चित करने के ऐतिहासिक-सम्प्रदाय का ही विकसित रूप पौराणिक वाङ्मय के रूप में परवर्ती अथवा उत्तरवैदिक काल में प्रतिष्ठित हुआ । यद्यपि अठारह पुराणों की रचना का श्रेय भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास को दिया जाता है जो कि द्वापर युग के अन्तिम चरण में उत्पन्न हुए थे । परन्तु , जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है , पुराणों की सत्ता अथर्ववेद के संकलन-काल में भी अक्षुण्ण थी ।

यद्यपि प्रो0 कीथ[2] एवं मैकडानेल[3] जैसे प्राच्यभाषाविद् कृष्णद्वैपायन व्यास की सत्ता में सन्देह करते हैं और उन्हें एककल्पित संज्ञा मात्र मानते हैं, परन्तु भारतीयों के लिये उनका यह दृष्टिकोण मात्र उपहास का विषय है । क्योंकि भगवान् व्यास न केवल वेदों के सुव्यवस्थापक तथा पुराणों के रचनाकार हैं बल्कि वह महर्षि पराशर एवं सत्यवती के पुत्र , धृतराष्ट्र , पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता तथा महायोगी शुकदेव के पिता भी हैं । वह भीष्म के समसामयिक थे तथा भारतीय कालगणना (कलिसंवत्) की दृष्टि से आज से प्रायः 5000 वर्ष पूर्व विद्यमान थे । उन्होंने अपार साहित्य-सर्जना की ।

संभवतः वेद के निगूढ रहस्यों को ही स्पष्ट करने के लिये भगवान् व्यास ने 18 पुराणों तथा महाभारत सरीखे इतिहास ग्रंथ की रचना की । महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसे "पञ्चम-वेद" का गौरव प्राप्त हुआ । उसके बारे में यह प्रशंसा चल पड़ी कि "जो कुछ महाभारत में नहीं है वह समूचे

---

1. तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरूक्ताः । त्वाष्ट्रो असुर इत्यैतिहासिकाः । अपां च ज्योतिश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति - निरूक्त। 2/16

2. He was only the reteller of tales. (प भगवद्दत्त प्रणीत वैदिक वाङ्मय का
3. He bears a legendary personality. वही " " इतिहास)
पृ0 ?

भारत राष्ट्र में ही नहीं है" {यन्न भरते तन्न भारते} " जो कुछ ज्ञान-राशि इस महाभारत में नहीं है वह किसी और ग्रंथ में नहीं है" {यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्} सचमुच महाभारत इतिहास, धर्म, दर्शन , साहित्य , शिल्प एवं अध्यात्म आदि का महासमुद्र है । उसे "विविध सूचनाओं का विश्वकोष" {An Encyclopaedia of various informations} कहा जाना सर्वथा उचित ही है ।

पाश्चात्त्य विद्वानों ने आचार्य सायण के ही वेदभाष्यों का आश्रय लिया । परन्तु उन्होंने वैदिक देवताओं तथा पुराकथाओं को प्रकृति से ही समीकृत करने का प्रयास किया है । दूसरी ओर , स्वामी दयानन्द ने अपनी इतिहास-विरोधी दृष्टि की युक्तियुक्तता. सिद्ध करने के लिये , प्राय: प्रत्येक मंत्र को परमेश्वर-परक ही बताने का यत्न किया । उन्होंने एक प्रकार से सर्वथा नवीन मार्ग चुना , जोकि आचार्य सायण तथा पाश्चात्त्य विद्वत्समुदाय {हिलब्राण्ट, फर्ग्युहर , ओल्डेनबर्ग, मैक्समूलर , रेले आदि} दोनो से भिन्न था ।

वेदों में इतिहास न मानने वाले स्वामी दयानन्द के लिये पौराणिक-वाङ्मय का कोई महत्त्व नहीं था । सन् 1876 {संवत् 1933 वि0} में लिखे गए अपने ऋग्वेदभाष्य में उन्होंने समस्त वैयक्तिक संज्ञाओं का, खींचतान करके , प्रतीकात्मक अर्थ ही बताने का प्रयास किया है ।

"अनेकार्था हि धातव:" का सिद्धान्त मानकर स्वामी दयानन्द वेदमंत्रों का मनचाहा प्रतीकात्मक अथवा सामान्य अर्थ निकाल तो लेते हैं । परन्तु उनका सारा प्रयत्न सायास एवं कृत्रिम ही प्रतीत होता है क्योंकि वेदों में वर्णित आख्यान इतने स्पष्ट, असन्दिग्ध एवं विश्वसनीय हैं कि उनको अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

महाबली इन्द्र ने जिस किसी असुर का संहार किया है उसके अत्याचार की एक ऐतिहासिक सच्चाई है । वृत्र को भले ही आवरण करने वाला मेघ मान लें , परन्तु महर्षि अंगिरा तथा अयास्य से , बलपूर्वक उनका गोधन छीन लेने वाले पणियों के कथानक को कैसे झुठलाया जा सकता है ? अपनी असुन्दरता से दु:खी तथा पिता के हो घर पर बूढ़ी होती हुई काक्षीवती घोषा की कथा को भला कौन प्राकृतिक रूप दिया जा सकता है ? वेदों में वर्णित सुदास , दिवोदास, कुत्स तथा स्वनय भावयव्य की कथाओं को भी

प्रतीकात्मक कैसे माना जा सकता है ?

वैदिक कथाओं की परम्परा अनवच्छिन्न रही है । ऐतरेय , शतपथ , गोपथ तथा पंचविंश प्रभृति ब्राह्मणग्रंथों में , बृहद्देवता में, पुराणों तथा आर्षकाव्यों [रामायण एवं महाभारत] में तथा समूचे लौकिक संस्कृत-वाङ्मय में वही वैदिक कथासूत्र विविध भावभंगी से वर्णित किये गये हैं । इन पुरातन कथाओं के पात्रों के चरित्रों को लोकादर्श बनाने के लिये , लोकमंगल की सिद्धि के लिये, प्रतिभाशाली कवियों ने समय-समय पर उन्हें तराशा है , परिमार्जित और संस्कृत किया है ।

पद्मपुराण तथा महाभारत के दुष्यन्त को लोकादर्श बनाने के लिये महाकवि कालिदास ने कितना यत्न किया है ? वाल्मीकि के विवादास्पद राम को मर्यादापुरूषोत्तम बनाने के लिये भवभूति ने कितना श्रम किया है ? इसप्रकार , वैदिक आख्यानों का पुनर्निर्माण [Renovation] पुराणों में तथा पुराणों का पुनर्निर्माण अभिजात संस्कृत साहित्य में देखने को मिलता है । पुनर्निर्माण , संस्कार तथा प्रतिसंस्कार की प्रक्रिया साहित्य में निरन्तर चलती रही है ।

स्वामी दयानन्द का वेदों में इतिहास को अस्वीकार करना भी उनका प्रतिक्रियावादी रूख ही था , जो उनकी वैयक्तिक कुण्ठित मानसिकता की उपज था । अबोध शैशव में , शिवलिंग पर चढ़े चूहे को देख कर किसी बालक का परमेश्वर को अमूर्त मान लेना अथवा मूर्ति को आत्मरक्षा में असमर्थ मानकर उसके प्रति अश्रद्धा कर बैठना कौन बड़ी बात है ? परन्तु वही बच्चा , स्वामी बनकर जब समूची परम्परा का ही अविवेक-पूर्ण विरोध करने लगता है तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है । पूर्वाग्रह एवं संकीर्ण मान-सिकता से ग्रस्त स्वामी दयानन्द का जीवन सद्धर्म की स्थापना में कम, निरर्थक खण्डन-मण्डन में अधिक बीता । वह जीवन भर यही समझाते रहे कि "इन्द्र का अर्थ देवताओं का राजा नहीं , परमेश्वर है । वसिष्ठ का अर्थ ऋषिविशेष नहीं, मन है"। यह कौन नई बात थी ? बहुदेववाद के मूल में एकदेववाद क्या स्वामी दयानन्द के पूर्व मान्य नहीं था ? एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति] का अर्थ क्या विद्वान् पहले नहीं जानते थे ?

परमार्थ एवं व्यवहार की सत्ता समानान्तर है । ज्ञानी , प्रतिभाशाली तथा अध्यात्म साधक को कभी भी दोनों में अन्तर नहीं दीखता , न ही भ्रान्ति होती है । वह जानता है कि वैष्णव , शैव , शाक्त , गणपति तथा सौर-सम्प्रदायों की भिन्नता मात्र व्यवहार में है अन्यथा ये समस्त देवगण एक ही परमेश्वर की पृथक् अभिव्यक्ति मात्र हैं । परन्तु लोकयात्रा व्यवहारों पर टिकी है , परमार्थ पर नहीं । संसार भिन्नता का नाम है , प्रपञ्च का नाम है । मुक्ति ही इन प्रपंचों तथा स्थूल भिन्नताओं को समाप्त कर पाती है ।

यह कितनी विचित्र बात है कि सम्प्रदायों का विरोध करने वाले लोग स्वयं किसी सम्प्रदाय की नींव रख जाते हैं । स्वामी दयानन्द का पुराणविरोधी दृष्टिकोण भी उनके अपने सम्प्रदाय की आधारशिला है । जो पाश्चात्य संस्कृतज्ञ रोम और यूनान के देवशास्त्र की प्रशंसा करते नहीं अघाते , वही वैदिक देवशास्त्र तथा पुराकथाओं को सच्चाई के प्रखर आलोचक हैं । कितना विचित्र प्रतीत होता है यह ? क्या इसे उनका भारतविरोधी अभियान नहीं कहा जायेगा ?

वस्तुतः स्वामी दयानन्द तथा पाश्चात्त्य संस्कृतज्ञों ने इतिहास और पुराण की अवहेलना करके अपने थोथे अहम् की तुष्टि मात्र की है । अन्यथा सत्य यही है कि भारत के धर्म , दर्शन तथा संस्कृति के निर्माण में उन उदात्त चरित्रों का महान् योगदान है जो वैदिक तथा पौराणिक आख्यानों में रूपायित हुए हैं । शरणागत की रक्षा के लिये अपना मांस काट देने वाले शिवि , सत्य की रक्षा के लिये पत्नी तथा पुत्र तक बेंच देने वाले हरिश्चन्द्र , पितृवचन की रक्षा के लिये बनवास स्वीकारने वाले राम तथा याचक के लिये त्वचा से छील कर कवच और कुण्डल दे देने वाले कर्ण विश्ववाङ्मय में कितने हैं ? क्या इन्हीं महान् चरित्रों तथा लोकोत्तर आदर्शों ने भारत को "विश्वगुरू" नहीं बनाया है ? तब फिर ऐसे इतिहासों तथा पौराणिक आख्यानों को कपोल-कल्पना मात्र कैसे माना जा सकता है ? क्या मात्र इसी लिये उन्हें अप्रामाणिक मान लिया जाय कि उनकी सचाई जानने के स्त्रोत हमारे पास नहीं हैं ? अभी कल तक द्वारका का अस्तित्व भी एक ऐसी ही झूठी कल्पना था सन्देहवादियों के लिये । परन्तु प्रो0 वाकणकर ने जब समुद्र का पानी हटाकर द्वारका की नींव दिखा दी तो सब कुछ सत्य हो गया ।

अब यह व्याख्यान यहीं समाप्त होता है इस निष्कर्ष के साथ कि पाश्चात्य विद्वानों[1] तथा स्वामी दयानन्द द्वारा प्रचारित पुराणविरोधी मत मात्र उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति है । सत्य तो यह है कि इतिहास एवं पुराण वेदार्थ के ही व्याख्याता तथा उनसे सर्वथा अभिन्न है । वस्तुतः इतिहास एवं पुराण को वेदों का प्रामाणिक भाष्य ही स्वीकार किया जाना चाहिये ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रमुख पुराण 18 हैं जिन्हें महापुराण के नाम से जाना जाता है । उनके नाम हैं -

मद्वयं भद्वयञ्चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापल्लिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते ।।

मत्स्य , मार्कण्डेय , भागवत, भविष्य , ब्रह्म , ब्रह्माण्ड , ब्रह्मवैवर्त , वायु, वामन , वाराह , विष्णु , अग्नि , नारद ,पद्म , लिङ्ग , गरूड, कूर्म तथा स्कन्दपुराण ।

18 महापुराणों के ही समान, अठारह उपपुराण भी हैं जिनमें कुछ तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जैसे -शिवपुराण , देवीभागवत, साम्बपुराण ,नृसिंहपुराण तथा कालिकापुराण आदि ।

महापुराणों की रचना का श्रेय यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वैपायन को प्राप्त है , परन्तु यह भी सत्य है कि प्राचीन पुराणों में संशोधन , परिवर्धन तथा नये पुराणों की सर्जना गुप्तकाल तक , अथवा दशम शती ई० तक होती रही है । पुराणों का कालक्रम अथवा उनकी आनुपूर्वी क्या हो सकती है ? उनका प्रतिपाद्य क्या है ? ये सारे प्रश्न अनपेक्षित मान कर यहीं छोड़े जा रहे हैं । इस सन्दर्भ में पार्जिटर , डॉ० हाजरा तथा पं० बलदेवोपाध्याय आदि में प्रभूत लिखा है ।

---

1. इस सन्दर्भ में डॉ० जयदत्त उप्रेती की कुछ पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं - वेदानुशीलन करने वाले अनेक यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक विवरणों को अधिकांशतया कल्पित मानते हुए "वैदिक माइथॉलोजी" आदि ग्रंथों की रचना कर , उनके सम्बन्ध में भारतीय प्राचीन चिन्तन को या तो तिरस्कृत कर दिया है या उसे अन्यथा रूप में प्रस्तुत किया । वेद के विषय में ऐतिहासिक,भौगोलिक अथवा पुराकथा मात्र के दृष्टिकोण को लिये हुए , वे लोग यथार्थ को प्रस्तुत नहीं कर सके और बहुत भ्रान्तियों को जन्म दे गए ।— वेद में इन्द्रः डॉ० उप्रेती, पृ०-3

प्रस्तुत प्रसंग में पुराणों के आदान का एकमात्र उद्देश्य है उनमें वर्णित इन्द्र-सम्बन्धी विवरणों तथा इन्द्रोपाख्यानों की सांगोपांग समीक्षा करना । इसी दृष्टि से, प्रमुख पुराणों से उद्धृत यथोचित शोधसामग्री प्रस्तुत की जा रही है ।

पौराणिक इन्द्र का स्वरूप

पुराणों में इन्द्र का स्वरूप अत्यन्त विस्तार एवं स्पष्टता के साथ निरूपित हुआ है । निश्चय ही पौराणिक इन्द्र-विवरण उसके वैदिक स्वरूप का ही बृहद् व्याख्या है । वेदमंत्रों में इन्द्र को ही परमेश्वर, जीवात्मा तथा प्राण बताया गया है । इन्द्र ही अग्नि, वायु, आदित्य, सेनापति है तथा राक्षसों एवं अन्यायियों का संहारक भी है । वह सर्वनियन्ता, धनवान्, विद्वान् तथा रूपवान् है । इन्द्र ही वीर्य, रेतस् शिश्न है ।[1] वह आहवनीय है, उद्गाता है ।[2]

राजा, देवता, यज्ञ, ज्ञान-विज्ञान एवं कर्म भी इन्द्र ही है ।[3] इन्द्र ही विश्वजित् तथा मरूत् है । मनुष्य की प्रेरणा, शक्ति, सामर्थ्य एवं पुरूषार्थ इन्द्र ही है । अक्षर-ब्रह्म, प्रजापति इन्द्र है । जल-थल एवं नभ में विचरण करने वाले जीवों का स्वामी भी इन्द्र ही है ।[4] देव, किन्नर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, पुष्प, लता, वृक्ष, रूप, रंग - कुछ भी इन्द्र से पृथक् नहीं है । इन्द्र ही सम्पूर्ण पृथ्वी का संरक्षक, आधार एवं लक्ष्य है । चारों वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में इन्द्र की ही महिमा-गरिमा का पदे-पदे गायन किया गया है ।

---

1. द्रष्टव्य-शतपथ0 2-5-4-8/12-9-1-17/12-9-2-16
2. वही, 2-1-2-11 तथा 2-6-1-38
3. ताण्ड्य-ब्राह्मण 15-4-8, 6-1-8 तथा ऐतरेय-ब्राह्मण 6-11
4. इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
   इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।।
   - ऋग्वेद 10-89-10

इन्द्र ही वह महान् गोपनीय सत्य है जिसे ज्ञानी ऋषिगण अनेक नामों से जानते हैं । वह हजारों जीवों में स्वयं को विलीन करके ही "सहस्त्राक्ष" बनता है तथा सैकड़ों लोगों से यज्ञ की पूर्ति करा कर "शतक्रतु" कहा जाता है । वस्तुतः वह सब कुछ कर सकने में समर्थ साक्षात् परमेश्वर ही है । शतपथ, ताण्ड्य, कौषीतकि, गोपथ, तैत्तिरीय तथा ऐतरेय-ब्राह्मण में उपर्युक्त मन्तव्यों की विस्तृत विवेचना की गई है । नानाप्रकार की कल्पनाओं द्वारा इन्द्र के दुर्धर्ष महाप्रभावी व्यक्तित्व की समीक्षा इन ग्रंथों में उपलब्ध होती है ।

इन्द्रघोष, इन्द्रजूत, इन्द्रज्येष्ठ, इन्द्रतमा, इन्द्रत्वोता, इन्द्रपत्नी, इन्द्रपान, इन्द्रशत्रु, इन्द्रसारथि, इन्द्रहूति, इन्द्रकुत्सा, इन्द्राग्नी, इन्द्रसभा, वन्द्रवाहा, इन्द्राणी, इन्द्रापूषण, इन्द्राबृहस्पती, इन्द्राब्रह्मणस्पति, इन्द्राविष्णू, इन्द्रासोमा, इन्द्रावरुणा, इन्द्रामरुत् आदि शब्दों की जो व्याख्यायें वेदमंत्रों तथा उपर्युक्त ब्राह्मणग्रंथों में मिलती हैं, उनसे देवराज इन्द्र के सर्वाभिभावी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है ।[1]

वेदोल्लिखित इन्द्रसन्दर्भों पर ही आधारित है परवर्ती पौराणिक इन्द्रोपाख्यान । पौराणिक कालगणना के अनुसार 71 चतुर्युगी (कृतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) का एक मन्वन्तर तथा 14 मन्वन्तरों का एक कल्प होता है । प्रत्येक मन्वन्तर का अपना पृथक् मनु, पृथक् इन्द्र तथा पृथक् सप्तर्षि होते हैं जिनका विस्तृत विवरण प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है ।[2]

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - दयानन्द वैदिक कोश, सम्पादक- राजवीर शास्त्री, आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली ।

2. द्रष्टव्य - विष्णुपुराण, तृतीय अंश, अध्याय । तथा दो ।

पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर इस समय "श्वेतवाराह" नामक कल्प का "वैवस्वत" नामक सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है जिसके मनु ﴾आदि सृष्टिकर्ता﴿ सूर्यपुत्र श्राद्धदेव हैं । सातवें मन्वन्तर को सम्प्रति 28वीं चतुर्युगी चल रही है जिसमें कृतयुग, त्रेता तथा द्वापर वीच चुके है तथा अन्तिम कलियुग चल रहा है । इस युग की समाप्ति के अनन्तर इसी मन्वन्तर का 29वाँ कृतयुग प्रारंभ होगा । प्रत्येक चतुर्युगी के अन्त में खण्डप्रलय तथा पूरे मन्वन्तर की समाप्ति के बाद महाप्रलय का विधान है ।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि प्रत्येक मन्वन्तर के मनु, इन्द्र तथा सप्तर्षि पृथक् होते हैं । पुराणों में इन सबका विस्तृत व्याख्यान किया गया है । प्रस्तुत मन्वन्तर के इन्द्र का नाम है पुरन्दर । इसी प्रकार स्वारोचिष मन्वन्तर का इन्द्र विपश्चित्, तामस का इन्द्र शिवि, रैवत का इन्द्र विभु, चाक्षुष का इन्द्र मनोजव, तथा अन्यान्य मन्वन्तरों के इन्द्र अद्भुत, शान्ति, वृष, ऋतुधामा, दिवस्पति तथा शुचि आदि होंगे ।[1] पुराणों में वैवस्वत ﴾वर्तमान सप्तम﴿ मन्वन्तर के साथ ही साथ भविष्य के सात मन्वन्तरों का भी विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत कर दिया गया है ।

प्रश्न यह है कि प्रत्येक मन्वन्तर में मनु, इन्द्र तथा सप्तर्षि के परिवर्तन का रहस्य क्या है ? इस गूढ़ प्रश्न के समाधान को समझने के लिये अत्यन्त धैर्य-संयम तथा आस्था की अपेक्षा है । पुराणों में सृष्टिप्रक्रिया के सन्दर्भो में इन रहस्यों का उद्घाटन करते हुए बताया गया है कि अनन्तकाल की महाप्रलयस्थिति के अनन्तर परमेश्वर के हृदय में अकस्मात् सृष्टिकामना के अंकुर फूटे -"मैं अकेला हूँ । मै अनेक हो जाऊँ ।"[2]

परमेश्वर की यह बहुत्व -कामना ही सृष्टि का बीजांकुर था । इस कामना के जागृत होते ही शेषशायी महाविष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ जिससे स्वयम्भू

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - विष्णुपुराण, 3-1-2
2. सो ऽकामयत । एको ऽहं बहु स्याम ।

ब्रह्मा की सृष्टि हुई । जब ब्रह्मा को अपना मूल उद्भव-विन्दु जानने की इच्छा हुई तो वह उसी कमल-नाल के सहारे विष्णु {परमेश्वर} तक आ पहुँचे और उन्होंने अपनी सृष्टि का उद्देश्य पूछा । परमेश्वर ने उन्हें नानाविध सृष्टि करने का आदेश दिया । ब्रह्मा द्वारा इस जटिल तथा अननुभूतपूर्व कार्य को सम्पन्न करने में अपनी असमर्थता प्रकट करने पर परमेश्वर ने उन्हें तप एवं यज्ञ करने का निर्देश दिया और कहा कि तपोऽनुष्ठान से ही सृष्टि के सारे रहस्य स्वतः स्फूर्त हो उठेंगे ।

सृष्टि-सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये स्वयम्भू ब्रह्मा ने दश हजार वर्षों तक घोर तप किया तथा गंगा-यमुना के संगम-क्षेत्र में दश अश्वमेध यज्ञ भी किये जिससे उस क्षेत्र का नाम ही पड़ गया - प्रयाग अर्थात् प्रकृष्ट यागों का स्थल । इसके अनन्तर ही ब्रह्मा को सृष्टि के समस्त रहस्यों का ज्ञान हुआ और उन्होंने अपने मानस तथा औरस पुत्रों की सहायता से चतुर्विध सृष्टि {पिण्डज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज} का सम्पादन किया ।

सृष्टि मुख्यतः द्विविध थी - अमर्त्य {देवता} तथा मर्त्य । अमर्त्य सृष्टि में विद्याधर , यक्ष , गन्धर्व , राक्षस , अप्सरस् तथा देव आदि सात प्रकार के लोग थे । इसी प्रकार मर्त्य सृष्टि में स्थावर एवं जंगम कोटियों में विभक्त पिण्डज, अण्डज आदि चतुर्विध प्राणी थे । मर्त्य प्राणियों के संरक्षण एवं अनुशासन का भार तो राजा पर था परन्तु मर्त्य - अमर्त्य- सबके संरक्षण एवं अनुशासन के लिये भी एक अधिपति की आवश्यकता थी । इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक ऐसे प्रभावशाली देवता का चयन किया गया जिसने सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किये हों । उस शतक्रतु को ही इन्द्र-पद पर अभिषिक्त किया गया । इसप्रकार देवराज इन्द्र देवसृष्टि का नियन्ता होने के साथ ही साथ समूची सृष्टि का प्रशासक नियुक्त किया गया - ऋत एवं सत्य की रक्षा के लिये । उसे अनन्त वैभव तथा ऐश्वर्य प्रदान किये गये । समस्त देवताओं की पृथक् शक्तियाँ महाबली इन्द्र के व्यक्तित्व में ही केन्द्रित हुईं ।

पौराणिक वर्णनों के अनुसार इन्द्र त्रैलोक्य {स्वर्ग , पृथ्वी एवं पाताल} का अधिपति है । उसके सम्यक् प्रशासन को दृष्टि में रखकर ही उसे सप्तर्षि {वसिष्ठ, अत्रि,

अंगिरा , क्रतु , पुलह , पुलस्त्य तथा भृगु} जैसे व्रतोपदेष्टा , बृहस्पति जैसा पुरोहित, स्वामिकार्तिक जैसा सेनापति , अमरावती जैसी राजधानी तथा असंख्य वैभव के उपाय प्रदान किये गये , जिसका विस्तृत विवरण पुराणों में दृष्टिगोचर होता है ।

{1} इन्द्र का कौटुम्बिक परिवेश

इन्द्र की माता का नाम अदिति और पिता का नाम कश्यप बताया गया है । ये उल्लेख वैदिक एवं पौराणिक वाङ्मय में समानरूप से उपलब्ध होते हैं । अदिति का उल्लेख ऋग्वेद में भी अनेकशः मिलता है । यह नाम सम्पूर्ण ऋग्वेद में 68 बार आया है । अदिति का अर्थ है - अदीना { न दितिः अदितिः } अर्थात् धनधान्य-सम्पन्न ।[1] ऋग्वेद में देवी अदिति न केवल इन्द्र की जननी , अपितु समस्त आदित्यों {देवों} की माता के रूप में आई है । ऋग्वेद में इसे अनश्वर अन्तरिक्ष ज्योति कहा गया है जोकि "परमेव्योमन्" में निवास करती है । उषस् को अदिति का घर बताया गया है - अदितेरनीकम् ।

पौराणिक सन्दर्भों के अनुसार अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या थी ।[2] वह ब्रह्मा के पौत्र , मरीचिके पुत्र मारीच अथवा महर्षि कश्यप की पत्नी तथा द्वादश आदित्यों की माता थी । इन्द्र उन्हीं द्वादश आदित्यों में से एक है । आदित्यों की संख्या पुराणों में तो निश्चित रूप से द्वादश बताई गई है परन्तु कहीं-कहीं उनकी संख्या पाँच, छः, सात या आठ भी बताई गई है ।[3]

इन्द्र की माता के नामान्तर भी उपलब्ध होते हैं । ऋग्वेद के ही एक मंत्र में इन्द्रमाता का नाम "निष्टिग्री" बताया गया है जिसने इन्द्र को एक सहस्त्र वर्ष तक अपने

---

1. अथवा सीमा के बन्धनों से रहित । दा बन्धने + क्तिन् = दितिः ।
   न दितिः अदितिः ।
2. द्रष्टव्य-ऋग्वेद 10-72-5
3. ऋग्वेद 2-27-1 में छ आदित्य परिगणित हैं - मित्र, अर्यमा, भग, वरूण, दक्ष और अंश । इसीप्रकार ऋग्वेद 10-72-9 में आठ आदित्यों की गणना है ।

उदर {गर्भ} में रखा था । इन्द्र को जन्म देते ही , वह उसके अतिशय वीर्यसम्पन्न होने के कारण प्रमत्त हो उठी थीं । एक अन्य सन्दर्भ में इन्द्र को पितृहन्ता के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है । उसने अपने पिता को , उनके दोनो पैरों को पकड़ कर मार डाला था ।

ऋग्वेद 9-1-4 आदित्यों की माता का नाम वसुपुत्री, स्वर्णवर्णा तथा मधुकशा बताया गया है । निश्चय ही ये सभी शब्द अदिति के विशेषण मात्र हैं । इसीप्रकार ऋग्वेद 4-55-3 में अदिति को "पास्त्या" अर्थात् शरणदात्री कहा गया है । अथर्ववेद में इन्द्र की जन्मदात्री को "एकाष्टका" कहा गया है ।

इसप्रकार पिता की तुलना में , इन्द्र की जन्मदात्री अदिति का वर्णन कहीं अधिक विस्तृत उपलब्ध होता है । ऋग्वेद में तो अदिति के विराट स्वरूप की भी परिकल्पना मिलती है जिसमें भूत , भविष्य , वर्तमान तथा विश्वेदेव-पञ्चजन सबको अदिति के ही महाव्यक्तित्व में समाहित कर दिया गया है -

> ॐ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्
> अदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
> विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना
> अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।

इन्द्र की पत्नी का नाम शची है । वह पुलोमा राक्षस की कन्या है फलतः उसे पौलोमी भी कहा गया है । इन्द्रपत्नी होने के कारण उसे सामान्यतः इन्द्राणी के रूप में भी जाना जाता है ।[1] पुलोमा राक्षस को मारकर इन्द्र ने पौलोमी को अपनी भार्या बनाया , जिसका उल्लेख तैत्तिरीय-ब्राह्मण में प्राप्त होता है ।

शची सर्वगुणसम्पन्ना , सर्वाङ्गसुन्दरी , पतिगुणानुरक्ता , पतिव्रता नारी है । शची के पातिव्रत्य की अनेक कथाएँ पौराणिक-वाङ्मय में बिखरी पड़ी हैं । इन्द्रपद पर अभिषिक्त चन्द्रवंशी नहुष की कामलोलुप दृष्टि से बचने के लिये , शचीनेदेवगुरू महर्षि

---

1. पुलोमजा शचीन्द्राणीत्यमरः । स्वर्गवर्ग ।

बृहस्पति द्वारा श्रावणी पूर्णिमा के दिन रक्षासूत्र बंधवा कर, उन्हीं के द्वारा बताई गई युक्ति के द्वारा नहुष को स्वर्गच्युत कर दिया था।[1]

इन्द्राणी की गणना सात मातृकाओं में की गई है।[2] श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० राजेन्द्र मिश्र के मन्तव्यानुसार जावा तथा बाली द्वीप के वाङ्मय में कामशास्त्र को "इन्द्राणी" कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्राणी रतिरहस्यों में पारंगत थी। नवीं शताब्दी ई० के अन्तिम चरण में जावा-नरेश बलितुंग के राजकवि योगीश्वर द्वारा प्रणीत रामायणककविन् में सीता विभीषण को प्रशंसा करती हुई, उसे कुटारमानव (नीतिशास्त्रीय ग्रंथ) तथा इन्द्राणी (कामशास्त्र) का पण्डित बताती हैं।[3]

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है इन्द्र के 11 और भाई हैं। इन्द्रसहित उन सब को आदित्य की संज्ञा दी गई है। इन बारह भाइयों में इन्द्र ज्येष्ठ तथा विष्णु कनिष्ठ है। इन्द्र का अनुज होने के ही कारण वामनरूपधारी विष्णु को उपेन्द्र तथा इन्द्रावरज भी कहा गया है।[4] विष्णु इन्द्र के परम हितैषी तथा संरक्षक हैं। श्रीमद्भागवत में बलि-वामन सन्दर्भ में इस तथ्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वैदिक मंत्रों में यद्यपि आदित्यों की संख्या आठ ही बताई गई है[5] (इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, भग, धातृ एवं विवस्वत्) परन्तु पुराणों तथा रामायण-महाभारत में आदित्य द्वादश ही बताये गये हैं।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य-श्रीमद्भागवत एवं महाभारत।
2. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
   वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः॥ अमर० 1-4-71
3. द्रष्टव्य -"यवद्वीपीय रामकथा का मूलस्रोत - रामायण ककविन्। सम्मेलनपत्रिका में प्रकाशित डॉ० राजेन्द्रमिश्र का शोधनिबन्ध। खण्ड 73, अंक 1, 2.
4. उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः। अमरकोष 1-4-39
5. द्रष्टव्य ऋग्वेद 8-47-9, 8-25-3 तथा 10-70-8

इन्द्र की सन्ततियों में पुत्र जयन्त एवं पुत्री जयन्ती का उल्लेख मिलता है । जयन्त को पाकशासनि भी कहा गया है (जयन्तः पाकशासनिः - अमरकोष) महाभारत में उपलब्ध विवरण से ज्ञात होता है कि जयन्ती का विवाह इन्द्र ने महर्षि शुक्राचार्य के साथ किया था , सञ्जीवनी-विद्या की प्राप्ति के उद्देश्य से । इसप्रकार जयन्त एवं जयन्ती इन्द्र तथा शची की औरस सन्तानें हैं । वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में जयन्त द्वारा राम की शक्तिपरीक्षा तथा राम द्वारा दण्डित किये जाने का प्रसंग सविस्तर निरूपित हुआ है ।

विविध पौराणिक सन्दर्भों तथा आर्षकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) में इन्द्र की अनेक क्षेत्रज सन्तानों का भी उल्लेख मिलता है । महाभारत के आदिपर्व में इन्द्र द्वारा कुन्ती के गर्भ से तृतीय पाण्डव अर्जुन को उत्पन्न करने का उल्लेख मिलता है । रामायण में वानरराज वाली को भी इन्द्र के ही अंश से उत्पन्न बताया गया है । देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र वालि को एक दिव्य माला प्रदान की थी जो उसकी प्राणवत्ता, तेजस्विता तथा उसकी श्री को धारण करती थी ।

> शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ।
> दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियञ्च सा ।।

वानरराज वाली के असीम ज्ञान एवं बल की चर्चा वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होती है । तारा ने कुमार लक्ष्मण को बताया कि "लंका में 10 लाख 36 हजार एक सौ राक्षस हैं" यह तथ्य मुझे वानरराज बाली ने ही बताया था -

> अयुतानि च षट्त्रिंशद् सहस्त्राणि शतानि च ।
> एवमाख्यातवान् वाली सह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।।

देवराज इन्द्र के अवान्तर कुटुम्बियों में बृहस्पति , स्वामिकार्तिक , मरूद्गण, कामदेव , मातलि , तुम्बुरू , हाहा-हूहू तथा उर्वशी-रम्भा प्रभृति देवांगनाएँ आती हैं । देवगुरू बृहस्पति इन्द्र के कुलपुरोहित तथा योग-क्षेम साधक हैं । शंकर तथा पार्वती के पुत्र षडानन देवसेना के सेनापति हैं । मरूद्गण इन्द्र के सहायक हैं । पौराणिक आख्यानों के

अनुसार कश्यप की पत्नी दिति ने, अपनी सपत्नी अदिति के पुत्रों से भी अधिक तेजस्वी सन्तान पाने के लिये बड़ा तप किया और अन्ततः कश्यप की कृपा से ऐसा ही दुर्धर्ष तेज वाला गर्भ धारण किया। जब इन्द्र को अपनी विमाता के संकल्प का ज्ञान हुआ तो उसने उसके गर्भ में प्रवेश कर उसके 49 खण्ड कर डाले। परन्तु तब भी वे खण्डित नष्ट नहीं हुए और उन्होंने इन्द्र का सहायक बने रहने का वचन देकर आत्मरक्षा की। इसप्रकार 49 मरूद्गण मूलतः इन्द्र के वैमात्रिक भाई हैं परन्तु इन्द्र को दिये गये वचन के अनुसार ही वे उसके सहायक हैं। ऋग्वेद में भी मरूद्गणों को इन्द्र-सखा के रूप में ही पदे-पदे प्रस्तुत किया गया है।[1.]

काम को विष्णु का पुत्र कहा गया है। परन्तु वह इन्द्र का परम मित्र है। इन्द्र द्वारा अनेक महर्षियों के तपोभंग करने के सन्दर्भों में, अप्सराओं के साथ ही साथ, काम के भी सहायक बनने की बात कही गई है। ऐसे ही एक प्रसंग में, इन्द्र की सहायता करते काम को देवाधिदेव शिव के तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला में भस्म भी होना पड़ा। पुराणग्रंथों तथा कालिदास-प्रणीत कुमारसंभव महाकाव्य में कामदाह का यह वृत्त विस्तार के साथ निरूपित हुआ है।[2.]

मातलि देवराज इन्द्र का सारथि है।[3.] मूलतः वह महर्षि शमीक तथा शीला (ऋषिभार्या) का पुत्र है। वामनपुराण के 69वें अध्याय में वर्णित एक कथा के अनुसार जब जम्भासुर के साथ इन्द्र का युद्ध हो रहा था तभी जम्भ के मुष्टिप्रहार से ऐरावत का कुम्भस्थल विदीर्ण हो उठा और वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। अपने वाहन के गिरते ही इन्द्र भी रणभूमि छोड़कर भाग खड़ा हुआ। सिद्धों तथा चारणों ने यद्यपि इन्द्र के लिये रथ की व्यवस्था की तथापि समर्थ सारथी के अभाव में इन्द्र कुछ न कर सका और वह स्वयं पृथ्वी पर गिर पड़ा।

---

1. द्रष्टव्यः ऋग्वेद, 5-57, 5-58 आदि।
2. क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरूतां चरन्ति।
   तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥ कुमार0 3-72
3. उच्चैःश्रवा हयः सूतो मातलिर्नन्दनं वनम्।

   - अमरकोष प्रथम-काण्ड।

क्ष्मातले निपपातैव परिभ्रष्टस्रगम्बरः ।
पतमानं सहस्त्राक्षं दृष्ट्वा भूः समकम्पत ।।

पृथ्वी के कम्पित होने पर महर्षि शमीक की परिपक्व गर्भ वाली भार्या शीला ने भयभीत होकर कहा - स्वामी ! इस गर्भस्थ शिशु को आप सुखपूर्वक बाहर ले आयें अन्यथा यह भूकम्प के कारण प्रक्षिप्त हो उठेगा ।।

यदेयं कम्पते भूमिस्तदा प्रक्षिप्यते बहिः ।
यद्वाहृयतो मुनिश्रेष्ठ ! तद्भवेद् द्विगुणं मुने ।।

महर्षि शमीक ने अपने तपोबल से गर्भस्थ शिशु को बाहर निकाल कर भूमि पर स्थापित किया ।

शमीक एवं शीला का वही पुत्र मातलि था । वह पैदा होते ही परिपुष्टांग एवं तेजस्वी हो उठा । वह जन्म से ही सारथ्यकर्म में विशारद था फलतः वह इन्द्र का सारथी बनने के लिये स्वर्ग की ओर चल पड़ा । गन्धर्वों ने उस तेजस्वी विप्र-सुत का साहस देखकर उसे अपना तेज देकर परिपुष्ट बनाया । देवराज इन्द्र ने जब उस बच्चे का प्रस्ताव सुना तो विस्मित हो उठा । उसने मातलि से उसका परिचय पूछा । जब मातलि ने इन्द्र को अपना पूर्ण परिचय दिया तब विश्वस्तमना इन्द्र ने उसे अपनो सारथि नियुक्त कर लिया ।

---------------------बाल एव त्वचेतनः ।
जगाम साहृयं शक्रस्य कर्तुं सौत्यविशारदः ।।
तं व्रजन्तं हि गन्धर्वा विश्वावसुपुरोगमाः ।
ज्ञात्वेन्द्रस्यैव साहाय्ये तेजसा समवर्धमन् ।।
. . . .
संयन्तासि कथं चाश्वान् संशयः प्रतिभाति मे ?
. . . .
शमीकऋषितेजोत्थं क्ष्मा-भवं विद्धि वासव ।
गन्धर्वतेजसा युक्तं वाजियाने विशारदम् ।।
. . . .
स चापि विप्रतनयो मातलिर्नाम विश्रुतः ।
रश्मीन् शमीकतनयो मातलिः प्रगृहीतवान् ।।

इसप्रकार वामनपुराण मातलि के जन्मजात सारथ्यकर्म का समर्थन करता है । मातलि के अनेक प्रसंग पौराणिक इन्द्र-कथाओं में निरूपित हुए हैं । वाल्मीकिरामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध में इन्द्र द्वारा प्रेषित मातलि रथ लेकर श्रीराम के सहायतार्थ आता है । कालिदासप्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के छठे अंक में भी महाराज दुष्यन्त को इन्द्र की सहायतार्थ स्वर्ग ले जाने के लिये , मातलि के हस्तिनापुर आने का उल्लेख मिलता है । नाटक के सप्तम अंक में मातलि दुष्यन्त को मारीच-आश्रम भी ले जाता है जहाँ उसकी भेंट शकुन्तला से होती है ।

गन्धर्वाचार्य तुम्बुरू देवराज इन्द्र की सभी का कुशल वीणावादक तथा गन्धर्वद्वय हाहा तथा हूहू इन्द्रसभा के प्रख्यात गायक हैं । इसीप्रकार उर्वशी प्रभृति अप्सरायें इन्द्र की सुधर्मा-सभा की नर्तकियाँ हैं जिनके अनेक प्रसंग पौराणिक वाङ्मय में वर्णित हैं ।[1] तुम्बुरू की वीणा का नाम कलावती था और वह धैवत तथा निषाद स्वरों के गायन में पारंगत थी ।

(2) इन्द्र की समृद्धि एवं ऐश्वर्य

इन्द्र शब्द का अर्थ ही है - परमैश्वर्यशाली ।[2] निरुक्तकार यास्काचार्य इन्द्र शब्द की आठ व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं ।[3] बृहद्देवता में इन्द्र की महिमा , मेघ से वर्षा कराने में समाहित मानी गई है -

---

1. स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः ।
   हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम् ।। अमर० 1-4-10-4
2. इन्दतीति इन्द्रः । इदि परमैश्वर्ये । तस्माद् रन् प्रत्ययः । (हलायुधकोष, व्याख्या-भाग)
3. इन्द्र इरां दृणातीति वा । इरां ददातीति वा । इरां दधातीति वा । इरां दारयत इति वा । इरां धारयत इति वा । इन्दवे द्रवतीति वा । इन्दौ रमत इति वा । इन्धे भूतानीति वा । अर्थात् मेघ अथवा अन्न के बीज को फाड़ने वाला , अन्न देने वाला , अन्न धारण करने वाला , मेघ को फाड़ने वाला , अन्न को धारण करने वाला, सोमपानार्थ जाने वाला , सोमरस में रमण करने वाला तथा प्राणियों को अन्न देकर प्रसन्न करने वाला ।

इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे ।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ।।
- बृहद्देवता 2-36

इन्द्र का यह परमैश्वर्य क्या है ? वैदिक मंत्रों में तो इन्द्र का ऐश्वर्य उसके शत्रुसंहार, परोपकार तथा लोकहितकारी कार्यों में रूपायित किया गया है जिसकी विस्तृत प्रामाणिक समीक्षा द्वितीय अध्याय में की गई है । परन्तु पौराणिक-वाङ्मय में इन्द्र का परमैश्वर्य उसकी विलक्षण सुख-सुविधाओं में निहित दृष्टिगोचर होता है । वह पृथ्वीलोक के मर्त्य राजाओं का भी अधिपति है । वह देव, दानव, गन्धर्व, मनुष्य - सबका अधिपति है । वह त्रिलोकी का शासक है । फलतः उसकी समृद्धियों की कोई सीमा नहीं है । उसके राजप्रासाद, उपवन, वाहन, आयुध, वस्त्राभूषण, पेय, आमोद-प्रमोद तथा वैभव-विलास - सब लोकोत्तर हैं, अप्रतिम हैं ।

अमरकोषकार ने इन्द्र की समृद्धि का परिचय देते हुए कहा है -

नगरी त्वमरावती ।
हय उच्चैःश्रवा सूतो मातलिर्नन्दनं वनम् ।।
स्यात्प्रासादो वैजयन्तो जयन्तः पाकशासनिः ।
ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः ।।

स्यात्सुधर्मा देवसभा पीयूषममृतं सुधा ।
मन्दाकिनी वियद्गंगा स्वर्णदी सुरदीर्घिका ।।

मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः ।
पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः ।।

सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ।
स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः ।।

घृताची मेनका रम्भा उर्वशी च तिलोत्तमा ।
सुकेशी मंजुघोषाद्याः कथ्यन्तेऽप्सरसो बुधैः ।।
हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम् ।।
-अमरकोष, प्रथमकाण्ड (स्वर्ग वर्ग)

इन्द्र की राजधानी का नाम अमरावती है जिसका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत के भुवनकोश-प्रसंग में उपलब्ध होता है । अमरावती का अर्थ है - अमरों अर्थात् देवताओं की पुरी । इन्द्र के वाहन हैं ऐरावत तथा उच्चैःश्रवा । ऐरावत को ऐरावण, अभ्रमातंग तथा अभ्रमुवल्लभ {अमरकोष} भी कहा गया है । अभ्रमु ऐरावत की पत्नी का नाम है । ऐरावत के चार दाँत हैं तथा उसका वर्ण भी श्वेत है । इरावती का पुत्र होने के कारण इसे ऐरावत कहा गया । यह सागर-मंथन से प्राप्त 14 रत्नों में से एक है {भागवत 8-8-4} कृष्ण एवं इन्द्र के युद्ध में यह गरूड से हार गया था { विष्णु0 5-30-66} यह हाथियों का राजा माना गया है ।

ऐरावत तथा उच्चैःश्रवा अश्व - दोनो ही सागर-मंथन से उत्पन्न हुए थे । इसीप्रकार कामधेनु , पारिजात तथा अमृत भी सागर-मंथन से ही उत्पन्न हुए थे । ये सब भी देवराज इन्द्र की ही समृद्धि में गिने जाते हैं । कामधेनु को समस्त कामनाओं की पूरयित्री कहा गया है । कामधेनु की पुत्री नन्दिनी ही ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की होमधेनु थी । कालिदास-प्रणीत रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में महाराज दिलीप द्वारा नन्दिनी की सेवा द्वारा रघु-सदृश पुत्र प्राप्त करने का कथानक वर्णित किया गया है । कामधेनु से सम्बद्ध अनेक उपाख्यान पुराणों में वर्णित हैं ।

इन्द्र के उद्यान का नाम है नन्दन । अपनी प्रिया सत्यभामा की कामनापूर्ति के लिये श्रीकृष्ण इसी नन्दनवन से पारिजात उखाड़ कर द्वारका ले गये थे । श्रीमद्भागवत 3-23-40 , मत्स्य0 38-18 तथा वायु0 36-11/69-236 आदि में नन्दनवन का अत्यंत विस्तृत वर्णन है । पारिजात को कामतरू , कल्पतरू , कल्पद्रुम आदि भी कहा गया है। वह भी कामधेनु की ही तरह समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति में समर्थ है। उत्तरमेघ में कालिदास ने लिखा है कि अलकापुरी में यक्षिणियों द्वारा आकांक्षित समस्त भोग-सामग्री अकेला कल्पवृक्ष ही उपस्थित कर देता था ।[1] इसकी आयु एक कल्प मानी गई है ।

---

1. वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
   पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
   लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यञ्च यस्या-
   मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ।। उत्तरमेघ श्लोक-।।

अप्सराओं की उत्पत्ति जल से मानी गई है - अद्भ्यः सरन्ति प्रभवन्ति इत्यप्सरसः । उर्वशी मेनका , रम्भा तथा घृताची आदि अप्सराएँ देवराज इन्द्र की सभा की नर्तकियाँ है । इन अप्सराओं ने समय-समय पर देवराज इन्द्र की अद्भुत सेवा की है ऋषियों-महर्षियों के उग्र तपस् को विघ्नित करके। ज्यों ही इन्द्र किसी श्रेष्ठ राजर्षि को सौवाँ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करता हुआ देखता अथवा किसी महर्षि को घोरतप में लीन देखता तो वह उसके शतक्रतुत्व अथवा पुण्य-संचय से भयभीत हो उठता। उस स्थिति में उसका एकमात्र प्रयत्न होता - राजर्षि का अश्वमेध-यज्ञ विघ्नित कर देना या उग्र-तपस् को भंग कर देना ।[1] इन्द्र के इस दुरभियान में काम तथा वसन्त के साथ-साथ अप्सराएँ सहायक होतीं ।

उर्वशी पुरूरवा जैसे चन्द्रवंशी नरेश की प्रेयसी रही तथा उसने आयु को जन्म दिया ।[2] मेनका ने महर्षि विश्वामित्र का तपोभंग किया तथा शकुन्तला को जन्म दिया ।[3] दुष्यन्त तथा शकुन्तला से ही चक्रवर्ती भरत उत्पन्न हुआ । घृताची ने भृगुवंशी महर्षि प्रमति का तपोभंग किया । प्रमति एवं घृताची का ही पुत्र था रूरू जिसने अपनी प्रेयसी प्रमद्वरा के लिये अपनी आयु का अर्धांश दे दिया था ।[4] तिलोत्तमा ने सुन्द एवं उपसुन्द नामक दानव-बन्धुओं का विनाश करा दिया था अपने रूप-सौन्दर्य के ऐन्द्रजालिक आकर्षण से ।[5] रम्भा और मित्रावरूण के सम्पर्क से ब्रह्मर्षि वसिष्ठ एवं अगस्त्य के उदभव का वृत्त वेदों एवं पुराणों में अनेकशः वर्णित किया गया है ।[6] प्रम्लोचा तथा कण्डु ऋषि के सहयोग से उत्पन्न हुई थी मारिषा जिसे वनस्पतियों ने अपनी पुत्री के रूप में पाला । मारिषा का विवाह प्रचेताओं से हुआ है ।[7]

---

1. इन्द्र द्वारा महाराज सगर के अश्वमेध-यज्ञाश्व को चुरा कर महर्षि कपिल के आश्रम में बाँध देने का वर्णन वा० रा० में द्रष्टव्य -
2. महा० आदिपर्व अ० 75
3. वही० " अ० 71,72.
4. महाभारत, आदिपर्व अ० 8
5. वही० आदि० अ० 207-211
6. वाल्मीकि० बाल० सर्ग 63,64,65
7. विष्णुपुराण 1.15.

इन्द्र की समृद्धि के अवान्तर हेतु :

इन्द्र की समृद्धि से जुड़े कुछ अवान्तर तथ्य भी हैं जिन्हें प्रस्तुत सन्दर्भ में उपस्थित कर देना उचित ही होगा -

§1§ ऐन्द्र-व्याकरण

ऐन्द्र व्याकरण की संक्षिप्त चर्चा पहले भी की गई है । वोपदेव ने आठ वय्याकरणों में इन्द्र को सर्वाधिक प्राचीन मानते हुए उसका उल्लेख सर्वप्रथम किया है -

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।।

डॉ0 बर्नेल ने तमिलभाषा के आदि व्याकरणग्रंथ तोल्कापियम् को ऐन्द्र व्याकरण से प्रभावित माना है तो पं0 हर प्रसाद शास्त्री का मत यह है कि कातन्त्र अथवा कलाप व्याकरण का निर्माण ऐन्द्र-सम्प्रदाय के ही अनुसार हुआ था । संभवतः इसी कारण वैदिक मंत्रों में इन्द्र को अनेकशः शिक्षानरः कहकर सम्बोधित किया गया है । इन्द्र के वय्याकरण होने का प्राचीनतम संकेत तैत्ति0 संहिता में उपलब्ध होता है ।[1]

§2§ इन्द्रजाल

इन्द्रजाल का तात्पर्य, परवर्ती संस्कृत वाङ्मय में, माया अथवा जादू से किया गया है । ऐन्द्रजालिक अथवा इन्द्रजालोपजीवी उन कलाकारों को कहते हैं जो जादूगरी दिखाकर पेट पालते हैं । संभवतः यह शब्द इन्द्र के वेदमंत्रोल्लिखित मायानिपुण व्यक्तित्व को इंगित करता है । माया अथवा छल द्वारा मायावी असुरों के विनाश का अनेक प्रसंग ऋग्वेद में आया है जिसकी सप्रमाण व्याख्या यथावसर पहले की जा चुकी है, इन्द्र के वैदिक-स्वरूप को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में । परवर्ती वाङ्मय में इन्द्र का वही मायावी चरित एक विद्या अथवा कलाविशेष के रूप में प्रख्यात हुआ ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - तै0 सं0 6-4-7-3

महाराज हर्षप्रणीत रत्नावली नाटिका में ऐन्द्रजालिक द्वारा आकाश में ब्रह्मा आदि को प्रत्यक्ष दिखाने का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।[1] कालिदास-प्रणीत शाकुन्तल नाटक में भी खोई हुई मुद्रिका को प्राप्त कर, महाराज दुष्यन्त को सहसा विश्वास नहीं हो पाता और वह इसे माया अथवा इन्द्रजाल ही मानते हैं - "स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु" आदि ।

§3§ इन्द्रवाद्य

दुन्दुभि नामक वाद्य को इन्द्रवाद्य कहा गया है । सामान्यतः इसे तुरही अथवा भेरी के रूप में जाना जाता है । अपनी विजय के अवसर पर देवगण दुन्दुभि बजाकर ही अपना हर्ष प्रकट करते थे, फलतः दुन्दुभि को इन्द्रवाद्य कहा गया ।

§4§ इन्द्रध्वज

इन्द्रध्वज का हिन्दू धर्मशास्त्र में विशेष महत्त्व है । इन्द्रध्वज फहराने की व्यवस्था निर्णयसिन्धु में भी दी गई है - ध्वजोत्थानं च वज्रिणः ।" इन्द्रध्वजारोहण का मुहूर्त चैत्र शुक्ल प्रतिपदा अथवा आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को बताया गया है । प्राचीन काल में दिग्विजय-प्रस्थान से पूर्व भूपतियों द्वारा इन्द्रध्वज की अर्चना करके, उसे फहराने की परम्परा थी । इसीप्रकार, प्रत्येक यज्ञ में भी इन्द्रध्वज फहराने की परम्परा का उल्लेख मिलता है ।

इन्द्रध्वज-महोत्सव का विस्तृत एवं रोचक वर्णन आचार्य भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है । जब महर्षि भरत ने ब्रह्मा की आज्ञा से नाट्यवेद-सृष्टि की तब ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर इन्द्रादि देवों को उसी के अनुसार नाट्यमंचन करने का आदेश दिया ।[2] परन्तु इन्द्र ने अपनी असमर्थता प्रकट की । तब भरतमुनि ने शाण्डिल्य,

---

1. रत्नावली, चतुर्थ अंक । "एष ब्रह्मा सरोजे" आदि ।

2. अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ।। नाट्य० 1-55

वात्स्य , कोहल तथा दत्तिल आदि अपने सौ पुत्रों को नाट्यवेद का अध्ययन कराया एवं अभिनय की शिक्षा दी । परन्तु स्त्रीपात्रों की समस्या अभी भी बनी रही । तब भगवान् परमेष्ठी ने मञ्जुकेशी , सुकेशी तथा सुलोचना आदि अप्सराओं की व्यवस्था की । सारी व्यवस्था पूर्ण हो जाने पर "इन्द्रध्वज-महोत्सव" प्रारंभ हुआ ।

महेन्द्रविजय के उपलक्ष्य में प्रस्तुत समुद्रमंथन नामक इस नाट्य में सर्वप्रथम आशीर्वचन-संयुक्ता अष्टपदा नान्दी पढ़ी गई । तदनन्तर दैत्यों पर देवों की विजय का जो दृश्य प्रस्तुत किया गया वह अत्यन्त रोषपूर्ण , भगदड़-मारकाट तथा चुनौतियों से भरा था । उस रोचक अभिनय से प्रसन्न होकर इन्द्र ने अपना ध्वज , ब्रह्मा ने कुटिलक §टेढ़ा डण्डा§ वरूण ने भृङ्गार , सूर्य ने छत्र, विष्णु ने सिंहासन , शिव ने सिद्धि वायु ने व्यजन , कुबेर ने मुकुट तथा यक्षराक्षस-पन्नगों ने नाना प्रकार के आभूषण भरतपुत्रों को प्रदान किये ।[1.]

नाट्यमण्डप में बैठे दैत्य अपनी पराजय के दृश्य से क्षुब्ध हो कर विघ्न उत्पन्न करने लगे । उन्होंने अभिनेताओं की वाणी को भी स्तम्भित कर दिया । तब क्रुद्ध इन्द्र ने अपने ध्वजदण्ड से ही पीट-पीट कर उन्हें "जर्जर" कर दिया । तभी से इन्द्रध्वज को विघ्नविनाशक "जर्जर" की संज्ञा प्राप्त हुई -

> रंगपीठगतान् विघ्नान् असुरांश्चैव देवराट् ।
> जर्जरीकृतदेहांस्तान् अकरोज्जर्जरेण सः ।।
> एवमेवास्त्विति शक्रस्ततः प्रोवाच तान्सुरान् ।
> रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष जर्जरः ।।
>
> - नाट्यशास्त्र , 1-70-75

जर्जर की स्थापना के बाद इन्द्रध्वज-महोत्सव हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ । नाट्य की निर्विघ्न समाप्ति-हेतु आचार्य भरत के आग्रह पर बाद में ब्रह्मा ने विश्वकर्मा से नाट्यशाला बनवाई जिसकी सम्पूर्ण रक्षा का भार पूर्व में इन्द्र को , पश्चिम में वरूण को , दक्षिण में यम को तथा उत्तर में कुबेर को सौंपा गया §नाट्य० 1-84§

---

2. द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र , प्रथम अध्याय श्लोक 56 से 60

§5§ इन्द्रायुध

इन्द्रायुध अथवा इन्द्रास्त्र वज्र को कहते हैं । अमरकोशकार ने इसके दस नाम गिनाए हैं ।[1] यह आयुध , ब्रह्मा के आदेश से त्वष्टा §विश्वकर्मा§ ने महर्षि दधीचि की अस्थियों से बनाया था । इसी आयुध से इन्द्र ने वृत्र का विनाश किया । वज्र-सम्बन्धी अनेक उल्लेख वेदमंत्रों तथा पौराणिक आख्यानों में मिलते हैं । कहीं-कहीं इसे लौह अथवा पाषाणनिर्मित भी बताया गया है । यह इन्द्र का विशेष आयुध है जिसके कारण ही उसे वज्री अथवा वज्रबाहु कहा गया है । वज्र को शतकोटि §सैकड़ो नोकों वाला§ सुवर्णाभ तथा तेजस्विता से ओतप्रोत बताया गया है ।

§6§ इन्द्रसारथी

भूरे रंग वाले दो अश्वों §हरि§ द्वारा खींचे गए रथ में बैठकर §रथेष्ठा§ इन्द्र युद्ध करता है । उसका रथ सुनहरा है जिसका सारथी है मातलि । मातलि की विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है । कुछ वैदिक मंत्रों में कुत्स को भी इन्द्र का सारथी बताया गया है ।

§7§ इन्द्रगुरू §बृहस्पति§

बृहस्पति उचथ्य के अनुज तथा महर्षि अंगिरा के पुत्र हैं । वह इन्द्र के पुरोहित हैं अतः उन्हें देवगुरू भी कहा जाता है । बृहस्पति का पुत्र है कच जिसने दैत्यगुरू शुक्राचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर , उनसे संजीवनी-विद्या सीखी थी । वेद में बृहस्पति को गणपति भी कहा गया है । सुमति केलिये बृहस्पति की प्रार्थना ऋग्वेद 4-40-11 में की गई है । गायों की रक्षा के लिये भी इन्द्र एवं बृहस्पति को सन्नद्ध बताया गया है §ऋग्वेद 1-62-3§

---

1. ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः ।
शतकोटिः स्वरूः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।।
परन्तु अमरकोश 1-6-165 में "इन्द्रायुधं शक्रधनुस्तदेव ऋजुरोहितम्" कह कर जिस इन्द्रायुध की चर्चा की गई है वह प्राकृतिक इन्द्रधनुष है जो प्रकाश एवं वर्षा के योग से मेघों पर कभी-कभी प्रकट होता है । इसकी सृष्टि वामदेव करते हैं । मत्स्य0 4, 29 वायु0 9, 52 तथा ब्रह्माण्ड0 2-8-54 में इसकी विस्तृत चर्चा मिलती है ।

इन्द्र एवं बृहस्पति के विवाद का प्रसंग भी श्रीमद्भागवत में सविस्तर निरूपित हुआ है । बृहस्पति के अभाव में इन्द्र द्वारा विश्वरूप को पुरोहित बनाने , कालान्तर में दैत्यप्रशंसक विश्वरूप का वध करने तथा वृत्र से भयभीत होकर स्वयं पलायन कर जाने की रोचक कथा वर्णित की गई है । इन्द्र की अनुपस्थिति में ही नहुष को इन्द्र बनाया गया , परन्तु पतिव्रता शची के प्रति दुर्भावना-ग्रस्त नहुष , देवगुरू बृहस्पति की ही मंत्रणा से विनष्ट हो गया ।

§8§ इन्द्रानुचर

कामदेव , वसन्त , उर्वशी आदि अप्सराएँ इन्द्र के अनुचर रूप में विख्यात हैं । इन्हीं की सहायता से वह अपने प्रतिस्पर्धी राजर्षियों का अश्वमेध यज्ञ खण्डित करता है । हाहा तथा हूहू नामक गन्धर्वबन्धु उसकी सभा के गायक हैं । चित्ररथ एवं विश्वावसु गन्धर्व उसके अन्तरंग मित्र हैं । चित्ररथ द्वारा दुर्मद दुर्योधन को पराजित करके बांध लेने का वृत्तान्त महाभारत के वनपर्व में वर्णित हुआ है । चित्ररथ से अर्जुन की मैत्री तथा चित्ररथ द्वारा इन्द्र को नृत्य एवं मायायुद्ध की शिक्षा दिये जाने का भी प्रसंग महाभारत में हम पाते हैं ।

इसीप्रकार पुष्कर एवं आवर्तक नामक मेघ भी इन्द्र के सहायक है । कालसंवर्तक नामक मेघों की सहायता से ही क्रुद्ध इन्द्र ने , कृष्ण द्वारा अपनी पूजा बन्द कर दी जाने पर , सम्पूर्ण व्रज-मण्डल को प्लावित कर दिया था ।[1] 49 मरूत भी इन्द्र के अनुचरों अथवा मित्रों में ही आते हैं ।

§9§ इन्द्रदूत

देवशुनी सरमा को इन्द्रदूत अथवा इन्द्रदूती कहा गया है । वह गोधन चुराने वाले पणि नामक असुरों के पास इन्द्र का सन्देश लेकर गई थी जिसका विस्तृत व्याख्यान पणियों के सन्दर्भ में पहले किया जा चुका है ।[2] सरमा के पुत्र ही सारमेय §कुते§ कहे जाते हैं ।

---

1. द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध । पूर्वार्ध ।
2. ऋग्वेद 10-108

§10§ इन्द्रवैद्य

अश्विनीकुमारों को देववैद्य अथवा इन्द्रवैद्य कहा गया है । औषधकर्म के ही कारण इन्हें पहले यज्ञ में सोमपान अथवा पुरोडाश-भक्षण का अधिकार नहीं प्राप्त था । परन्तु वृद्ध महर्षि च्यवन को नवयौवन प्रदान करने पर कृतज्ञ च्यवन ने अपने श्वशुर महाराज शर्याति के यज्ञ में अश्विनीकुमारों को भी यज्ञांश का अधिकारी बनाया ।[1] कहीं-कहीं धन्वन्तरि को भी इन्द्रवैद्य बताया गया है ।

§11§ ऐन्द्रयोग

ज्योतिश्शास्त्र में 27 योगों की बृहद् चर्चा मिलती है । इसी क्रम में 26वें योग को ऐन्द्रयोग कहते हैं । इस कालावधि में उत्पन्न जातक इन्द्र के ही समान गुणों वाला होता है । सामुद्रिककुञ्जिका नामक ग्रंथ में भी मघवा§इन्द्र§ का एक वचन उद्धृत किया गया है - नवसप्तपञ्चत्रिद्विवर्षैः प्रभवति क्लेशः । क्लेशात्परत्वे आनन्दः इति कथयति मघवा । वृष्टिर्यथा काले ।

अर्थात् नौ , सात , पाँच , तीन अथवा दो वर्ष के परिमाण से क्लेश प्रभावी होता है । क्लेश समाप्त हो जाने पर आनन्द आता है - ऐसा इन्द्र का मत है । ठीक वैसे ही सुख आता है जैसे अवसर पर वृष्टि आती है ।

§12§ इन्द्रकेतु

कुण्डिनपुर-नरेश भीष्मक की कन्या रूक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण के विवाह के अवसर पर यादवों की राजधानी द्वारका में राजमार्गों पर जो ध्वजाएँ फहराई गई , उन्हें "इन्द्रकेतु" कहा गया है ।[1]

§13§ इन्द्रकील

हिमालय के ही एक पवित्र शिखर का नाम इन्द्रकील है । पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिये इसी शिखर पर वीर अर्जुन ने घोर तपस्या की थी । मत्स्यपुराण

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - श्रीमद्भागवत (सुकन्या-च्यवन-प्रसंग)

22/53 में इसे पितरों का पवित्र निवास-स्थान बताया गया है । श्रीमद्भागवत 5-19-16 में इस शिखर की विस्तृत चर्चा आई है - भुवनकोश के सन्दर्भ में ।

§14§ इन्द्रद्वीप

पुराणों में इस द्वीप की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है ।[1] जहाँ पावनी नदी समुद्र से मिलती है वहाँ इन्द्रद्वीप की स्थिति बताई गई है । यह विवरण पूर्णतः स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है ।

§15§ इन्द्रनदी

भद्राश्व द्वीप की एक नदी का नाम है - इन्द्रनदी । वायुपुराण 43-26 में इसका उल्लेख प्राप्त होता है ।

§16§ इन्द्रधन्वा

बाणासुर तथा लोहिनी के पुत्र का नाम था इन्द्रधन्वा । ब्रह्माण्डपुराण 3-5-45 में इन्द्रधन्वा का विवरण विस्तारपूर्वक दिया गया है । ज्ञातव्य है कि बाणासुर विष्णुभक्त प्रहलाद का प्रपौत्र , विरोचन का पौत्र तथा बलि का पुत्र था । बाण की ही पुत्री उषा के साथ श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध का विवाह हुआ था जिसकी विस्तृत चर्चा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में आई है ।

§17§ इन्द्रबाधन

महर्षि कश्यप एवं दनु के पुत्रों के ही वंश में उत्पन्न एक दानव का नाम था इन्द्रबाधन । यह मनुष्यों द्वारा सर्वथा अवध्य था । इसका मूल नाम था केशी । सम्भवतः इन्द्र को निरन्तर पीड़ित करने के ही कारण इसे इन्द्रबाधन संज्ञा प्रदान की गई । ब्रह्माण्डपुराण 3-6-16 तथा वायुपुराण 68-15 में इन्द्रबाधन की कथा का विस्तृत प्रसंग मिलता है । मत्स्य0 24-12 में इसे अश्वमुख होने के कारण तुरगदानव भी कहा गया है। इन्द्र ने इसे मारकर चित्रलेखा तथा उर्वशी अप्सराओं को प्राप्त किया था ।

---

1. ब्रह्माण्डपुराण 2-18-58 तथा वायुपुराण 47-55

§18§ इन्द्रपद

भारत के पश्चिमी भाग में अवस्थित एक विशेष जनपद §राज्य§ जहाँ से होकर सिन्धु नदी बहती है । ब्रह्माण्ड0 2-18-48 में इस राज्य की चर्चा आई है । परन्तु सम्प्रति इसका प्रत्यभिज्ञान कर पाना कठिन है । वायुपुराण §109-19§ में उपलब्ध प्रमाणानुसार "इन्द्रपद" गयाक्षेत्र के एक तीर्थ का नाम है । विष्णुपद एवं रुद्रपद के ही साथ इन्द्रपद की भी महिमा का गान किया गया है ।

§19§ इन्द्रकुम्भामृत

अमृतकुम्भ के लिये इन्द्र के साथ पक्षिराज गरूड के भयावह संघर्ष का वर्णन अनेक पुराणों तथा महाभारत में आया है । अपनी माता विनता को , सर्पों की माता कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिये , विनतानन्दन गरूड ने स्वर्गलोक पर आक्रमण करके अमृतकुम्भ को छीन लिया । कद्रू अमृतकुम्भ प्राप्त करके ही विनता को दासता से मुक्ति देने को तैयार थी । देवराज इन्द्र ने अमृतकुम्भ छीनने के लिये गरूड के साथ भीषण युद्ध किया । इस युद्ध में अमृतकुम्भ से जिन-जिन स्थानों पर अमृत गिरा , वहीं वहीं महाकुम्भ-पर्व प्रति 12वें वर्ष एक विशेष ग्रहस्थिति में आयोजित में आयोजित होता है । स्कन्दपुराण में स्पष्टतः कहा गया है -

देवानां द्वादशाहोभिर्मर्त्यैर्द्वादशवत्सरैः ।
जायन्ते कुम्भपर्वाणि तथा द्वादशसंख्यया ।।

महाकुम्भ-पर्व के चार स्थान हैं - हरिद्वार , प्रयाग , नासिक तथा उज्जयिनी । प्रथम दो तीर्थ गंगातट पर स्थित हैं । नासिक्यतीर्थ गोदावरी-तट पर §महाराष्ट्र§ में तथा उज्जयिनी सिप्रातट §मध्यप्रदेश में§ पर है ।

§20§ इन्द्रमन्त्र

जो मनुष्य ज्येष्ठा नक्षत्र में बीमार पड़ते हैं उनके कष्टों के निवारणार्थ इन्द्रमंत्र के जप का विधान शास्त्रों में बताया गया है । ज्येष्ठा नक्षत्र में बीमार व्यक्ति जल्दी नीरोग नहीं होता है और प्रायः उसकी मृत्यु भी हो जाती है । अतएव मृत्युकष्ट से

बचने के लिये "महामृत्युञ्जय" मंत्र की ही तरह इन्द्रमंत्र का जाप भी लाभकर बताया गया है ।

परन्तु ज्येष्ठानक्षत्र का इन्द्रमंत्र से क्या सम्बन्ध है ? यह एक गूढ़ रहस्य है जिसका समाधान भी शास्त्रों में दिया गया है । वस्तुतः ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी है इन्द्र । अतएव ज्येष्ठाजनित दोष की निवृत्ति के लिये नक्षत्र के स्वामी इन्द्र का ही आह्वान किया जाता है ।

"स्वातीन्द्रपूर्वाशिवसार्पके मृतिः" अर्थात् स्वाति , इन्द्रनक्षत्र {ज्येष्ठा} त्रिविध पूर्वा नक्षत्र , शिव-नक्षत्र {आर्द्रा} तथा सार्प नक्षत्र {आश्लेषा} में बीमार व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी होती है । यदि इन नक्षत्रों के साथ शनिवार , भौमवार तथा रविवार का तथा प्रतिपदा , चतुर्थी , नवमी एवं चतुर्दशी तिथियों का भी योग हो जाय – तब तो उस रोगी को त्रिदेव {ब्रह्मा , विष्णु , महेश} भी नहीं बचा पाते हैं ।

ज्येष्ठा नक्षत्र यात्रा में भी गर्हित एवं त्याज्य माना गया है । वेदों में इन्द्र को "ज्येष्ठ" भी कहा गया है क्योंकि यह अपने समस्त भाइयों {द्वादश आदित्य} में ज्येष्ठ है । इन्द्र के इस नक्षत्र में उत्पन्न जातक को भी गण्डान्त मूलोत्पन्न माना गया है । अश्विनी , रेवती , मघा , आश्लेषा , ज्येष्ठा तथा मूल नक्षत्र – ये छ "गण्डान्त" कहे गये हैं । फलतः इन नक्षत्रों में उत्पन्न बालकों केगण्डान्त मूलशान्ति के लिये विशेष पूजाविधान बताया गया है ।

बालक के ही समान इन्द्रनक्षत्र {ज्येष्ठा} में उत्पन्न बालिका भी अपने ज्येष्ठ {पति के अग्रज} के लिये अनिष्टकारिणी होती है ।[1] अतः उसकी भी शान्ति इन्द्रमंत्र द्वारा ही की जाती है ।

---

1. ज्येष्ठजा स्वपतिज्येष्ठं देवरं तु द्विदैवजा ।
   मूलजा श्वशुरं हन्ति सार्पजा श्वशुराङ्गनाम् ।।

बचने के लिये "महामृत्युञ्जय" मंत्र की ही तरह इन्द्रमंत्र का जाप भी लाभकर बताया गया है ।

परन्तु ज्येष्ठानक्षत्र का इन्द्रमंत्र से क्या सम्बन्ध है ? यह एक गूढ रहस्य है जिसका समाधान भी शास्त्रों में दिया गया है । वस्तुतः ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी है इन्द्र । अतएव ज्येष्ठाजनित दोष की निवृत्ति के लिये नक्षत्र के स्वामी इन्द्र का ही आह्वान किया जाता है ।

"स्वातीन्द्रपूर्वाशिवसार्पके मृतिः" अर्थात् स्वाति , इन्द्रनक्षत्र ﴾ज्येष्ठा﴿ त्रिविध पूर्वा नक्षत्र , शिव-नक्षत्र ﴾आर्द्रा﴿ तथा सार्प नक्षत्र ﴾आश्लेषा﴿ में बीमार व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी होती है । यदि इन नक्षत्रों के साथ शनिवार , भौमवार तथा रविवार का तथा प्रतिपदा , चतुर्थी , नवमी एवं चतुर्दशी तिथियों का भी योग हो जाय - तब तो उस रोगी को त्रिदेव ﴾ब्रह्मा , विष्णु , महेश﴿ भी नहीं बचा पाते हैं ।

ज्येष्ठा नक्षत्र यात्रा में भी गर्हित एवं त्याज्य माना गया है । वेदों में इन्द्र को "ज्येष्ठ" भी कहा गया है क्योंकि यह अपने समस्त भाइयों ﴾द्वादश आदित्य﴿ में ज्येष्ठ है । इन्द्र के इस नक्षत्र में उत्पन्न जातक को भी गण्डान्त मूलोत्पन्न माना गया है । अश्विनी , रेवती , मघा , आश्लेषा , ज्येष्ठा तथा मूल नक्षत्र - ये छ "गण्डान्त" कहे गये हैं । फलतः इन नक्षत्रों में उत्पन्न बालकों केगण्डान्त मूलशान्ति के लिये विशेष पूजाविधान बताया गया है ।

बालक के ही समान इन्द्रनक्षत्र ﴾ज्येष्ठा﴿ में उत्पन्न बालिका भी अपने ज्येष्ठ ﴾पति के अग्रज﴿ के लिये अनिष्टकारिणी होती है ।[1] अतः उसकी भी शान्ति इन्द्रमंत्र द्वारा ही की जाती है ।

---

1. ज्येष्ठजा स्वपतिज्येष्ठं देवरं तु द्विदैवजा ।
   मूलजा श्वसुरं हन्ति सार्पजा श्वश्रुराङ्गनाम् ।।

§22§ इन्द्रशैल

वायुपुराण 36-31 के विवरणानुसार यह पर्वत महाभद्र नामक सरोवर से उत्तरदिशा में विद्यमान एक पर्वत-विशेष है । इसका प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाणाभाव में अभी तक नहीं हो सका है ।

§23§ इन्द्रसावर्णि

जैसा कि पुराणों में प्रामाण्य उपलब्ध होता है, 71 चतुर्युगी[1] §कृतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि§ का एक मन्वन्तर तथा 14 मन्वन्तरों का एक कल्प होता है । यही एक कल्प ब्रह्मा की आयु भी होती है जिसके बाद महाप्रलय होती है । सम्प्रति श्वेत-वाराह नामक कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर का 28वाँ कलियुग चल रहा है । पिछले कल्पों के चौदहों मन्वन्तर बीत चुके हैं जिनका विस्तृत विवरण पुराणों में प्राप्त होता है ।

इन्द्रसावर्णि 14वें मन्वन्तर के मनु हैं जो कि ऊरु के पिता थे । उनके मन्वन्तर में शुचि नामक इन्द्र[2] तथा पवित्र एवं चाक्षुष नामक देव थे । अग्नि तथा बाहु आदि सप्तर्षि थे तथा उनके कालखण्ड में बृहद्भानु नामक विष्णु का अवतरण हुआ था ।[3.]

पुराणोल्लिखित इन्द्रतीर्थ

सम्पूर्ण भारतभूमि इन्द्रतीर्थों से समन्वित है जिनके विवरण विभिन्न पुराणग्रंथों में संक्षिप्त अथवा विस्तृत रूप से उपलब्ध होते हैं । अत्यन्त संक्षेप में ही उनका प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

---

1. कृतयुग के 1768000 वर्ष, त्रेता के 1296000 वर्ष, द्वापर के 864000 वर्ष तथा कलियुग के 432000 वर्ष मिलाकर एक चतुर्युग कहे जाते हैं ।
2. जैसे प्रत्येक मन्वन्तर का मनु पृथक् होता है उसीप्रकार इन्द्र भी । चौदह मन्वन्तरों के चौदह इन्द्र भी हैं । विश्वभुक्, विपश्चित्, विभु, प्रभु, शिखी, मनोजव, तेजस्वी, बलि, अद्भुत, त्रिदिव, सुशान्ति, सुकीर्ति, ऋतधाता तथा दिवस्पति ।
3. द्रष्टव्य - श्रीमद्भागवत स्कन्ध 8 अध्याय 13 श्लोक 33-35

बनाने के लिये महाराज कुरू ने यहीं पर शिव से प्राप्त वृषभ एवं यम से प्राप्त महिष को सुवर्ण लांगल- ‡हल‡ में जोत कर कृषिकर्म किया था । इसप्रकार महाराज कुरू की क्षेत्रभूमि ‡कृषिभूमि‡ होने के ही कारण यह तीर्थस्थान कुरूक्षेत्र नाम से विख्यात हुआ । समन्तपंचक क्षेत्र , ब्रह्मसरोवर, व्याससरोवर तथा पृथूदक ‡वर्तमान पिहेवा‡ आदि तीर्थभूमियाँ भी कुरूक्षेत्र की ही परिधि में आती हैं । इसे प्रजापति की "उत्तरवेदी" भी कहते हैं । महा० शल्यपर्व अ० 53 में भी इन्द्र तथा कुरू का प्रसंग एक अन्यरूप में आया है ।

‡3‡ सुनाशीरनाथ

यह इन्द्रतीर्थ उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जनपद हरदोई में अवस्थित है तथा विलग्राम कस्बे से दो मील दक्षिण एक जंगल में है । मल्लवाँ रेलवेस्टेशन से सुनाशीरनाथ के लिये मार्ग जाता है ।

सुनाशीर इन्द्र का ही नाम-विशेष है । पौराणिक साक्ष्यानुसार यहाँ देवराज इन्द्र ने भगवान् शिव की अर्चना की थी । इसीकारण यहाँ स्थापित शिवलिंग को सुनाशीरनाथ ‡महादेव‡ कहा जाता है । शिवरात्रि ‡फाल्गुन‡ तथा श्रावण त्रयोदशी के दिन यहाँ विशाल मेला लगता है ।[1]

‡4‡ इन्द्रमन्दिर

ब्रजभूमि 84 कोस की परिक्रमा-परिधि में इन्द्र का यह मन्दिर कामवन में स्थित है । यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन माना जाता है जिसका सम्बन्ध ब्रजवासियों द्वारा द्वापरयुगीन इन्द्रपूजा से भी संभव है ।[2]

---

1. कल्याण ‡तीर्थाङ्क‡ पृ०-89 , गीताप्रेस , गोरखपुर
2. वही, " पृ०-102 , वही , वही ।

§5§ इन्द्रेश्वर

इन्द्र द्वारा स्थापित शिवलिंग को ही इन्द्रेश्वर कहा जाता है । प्रयाग की अन्तर्वेदी-परिक्रमा के अन्तर्गत, यमुना के बाएँ तट पर मन: कामेश्वर शिवमन्दिर के पास ही देवराज इन्द्र द्वारा स्थापित इन्द्रेश्वर शिवमन्दिर भी है । यह मन्दिर इलाहाबाद के ऐतिहासिक दुर्ग से पश्चिम वर्तमान सरस्वतीघाट के ही समीप अवस्थित है §कल्याण तीर्थाङ्क. पृ0-118§

इन्द्रेश्वर शिव के ही नाम से विख्यात एक और मन्दिर म0 प्र0 के जबलपुर जनपद में नर्मदातट पर अवस्थित है ।[1] यह मन्दिर नर्मदातटवर्ती त्रिशूलघाट से एक मील पश्चिम में स्थित लमेहरी घाट के पास नर्मदा तथा सरस्वती के संगम पर स्थित है । पौराणिक साक्ष्यानुसार यहाँ इन्द्र ने घोर तप किया था । पार्श्ववर्ती शिला पर इन्द्रवाहन ऐरावत के पदचिह्न भी विद्यमान हैं जिनकी भक्तगण श्रद्धा से समर्चना करते हैं §कल्याण : तीर्थाङ्क. पृ0-226§

§6§ इन्द्रायणी

महाराष्ट्र राज्य के प्रख्यात नगर पूना से 13 मील दूर स्थित आलन्दी के पास ही यह नदी विद्यमान है । इसमें स्नान करना अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है §कल्याण तीर्थाङ्क. पृ0 252§

§7§ इन्द्रगुहा

काचीगुडा-मनमाड रेलवे लाइन पर स्थित औरंगाबाद नगर के समीप ही प्रख्यात एलोरा §वेरूल§ गुफाएँ हैं जिनमें एक का नाम है - इन्द्रगुहा । इस गुफा में पौराणिक अवतार-चरित की कलाकृतियाँ विद्यमान हैं §कल्याण तीर्थाङ्क. 267§

---

1. गुजरात राज्य के जूनागढ़ रेलवे स्टेशन से 3 मील दूर एक अन्य इन्द्रेश्वर शिवमन्दिर भी है जिसकी उस क्षेत्र में बड़ी प्रतिष्ठा है । यह शिवलिंग भी इन्द्र द्वारा स्थापित माना जाता है ।

    - कल्याण तीर्थाङ्क. पृ0-422

§8§ स्वर्णपुष्करिणी

मदुरई के विश्वविख्यात मीनाक्षीमन्दिर के परिसर में ही भव्य मण्डपों से घिरे सरोवर को ही "स्वर्णपुष्करिणी" कहा जाता है । तमिलभाषा में इसे "पोतामरै कुलम्" कहा जाता है ।

ऐसा कहा जाता है कि अपने पुरोहित विश्वरूप के वध से उत्पन्न ब्रह्महत्या के पाप से ग्रस्त इन्द्र इसी सरोवर में आकर छिपे थे । गो कि श्रीमद्भागवत के साक्ष्यानुसार इन्द्र मानसरोवर में कमलनाल के भीतर कीट का रूप धारण करके छिपे थे । रक्तकमलों से व्याप्त होने के ही कारण संभवतः इस सरोवर को स्वर्णपुष्करिणी कहा गया ।[1.]

§9§ शुचीन्द्रम्

वाल्मीकिरामायण में विवेकहीन इन्द्र द्वारा महर्षि गौतम की पतिव्रता भार्या अहल्या का शीलभंग करने का सन्दर्भ विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है । महर्षि ने शाप देकर कामुक इन्द्र को "सहस्त्रभग" बना दिया था । इस भयावह शाप से मुक्ति पाने के लिये इन्द्र ने सागरतट पर घोर तप किया और पुनः पापमुक्त हो सका । महर्षि गौतम ने अपने तपः प्रभाव से उसके सहस्त्रभग को सहस्त्रनेत्रों के रूप में परिवर्तित कर दिया तथा शापच्युत वृषणों के स्थान पर मेष-वृषण संयुक्त कर उसे पुनः पौरूष प्रदान किया ।

इन्द्र ने जिस स्थान पर पापमुक्ति के लिये घोर तप किया था और शुचिता प्राप्त की थी , उसी को शुचीन्द्रम् कहा जाता है । यह स्थान दक्षिणभारत में कन्याकुमारी से आठ मील दूर सागरतट पर अवस्थित है ।. इसे ज्ञानवनक्षेत्रम् भी कहा जाता है । इन्द्र को पुनः पवित्र करने के कारण यह शुचीन्द्रम् के रूप में भी विख्यात है ।[2.]

---

1. कल्याण तीर्थाङ्क , पृ0-383 , गीताप्रेस , गोरखपुर ।
2. वही " , पृ0-393 , वही ।

§10§ इन्द्रपुष्करिणी

इस नाम से प्रख्यात दो इन्द्रतीर्थ तमिलनाडु राज्य में स्थित हैं । प्रथम स्थान है , कुड्डलूर - मामवरम् रेलवे मार्ग पर स्थित वैदीश्वरम् कोइल रे0 स्टेशन से उत्तर-पूर्व में चार मील की दूरी पर तिरूनाथूर नामक स्थान में विद्यमान सरोवर । जनश्रुति के अनुसार यहीं देवराज इन्द्र ने दिव्यदेश का साक्षात्कार किया था ।

इन्द्रपुष्करिणी नाम से ही प्रख्यात दूसरा सरोवर तिरूनेलवेली §तिनेवेली§ से 20 मील उत्तर में अवस्थित है ।[1]

§11§ इन्द्रसरोवर

द्वारकाधाम की यात्रा के क्रम में शंखोद्धार-तीर्थ के पास ही यह सरोवर विद्यमान है । स्कन्दपुराण के प्रभास-खण्ड में द्वारका-माहात्म्य §10-1§ के सन्दर्भ में इस सरोवर की महत्ता का विस्तृत-वर्णन उपलब्ध होता है ।

§12§ इन्द्रप्रयाग

टेहरी जनपद में बदरी-केदारनाथ मार्ग पर अलकनन्दा के समीप एक तीर्थस्थान, जिसकी गणना 14 प्रयागों में की गई है । इसे व्यासघाट भी कहा जाता है । वृत्रासुर के भय से डरे हुए इन्द्र ने यहीं पर रहकर भगवान् शिव की उपासना की थी §कल्याण : तीर्थाङ्क , पृ0-53।§ राज्यभ्रष्ट इन्द्र ने यहीं तप करके पुनः अपना ऐश्वर्य प्राप्त किया था ।

§13§ इन्द्रनाथ

वर्तमान बंगलादेश के चटगाँव जनपद में स्थित एक पर्वत , जिसपर बने शिवमन्दिर को इन्द्रनाथ कहा जाता है । जनश्रुति के अनुसार भगवान् विष्णु के चक्र से कट कर मृत सती का दाहिना हाथ यहीं गिरा था । इस मन्दिर के पास ही गीताकुण्ड भी है ।

---

1. कल्याण : तीर्थाङ्क , पृ0-496 तथा 500 गीताप्रेस गोरखपुर ।

§14§ तलैङ्गायर

तमिलभाषा में लिखित पेरियापुराणम् के अनुसार 274 शैवतीर्थों में से एक है - तलैङ्गायर । यह तीर्थ तिरप्पुंगूर से 3 मील पश्चिम-उत्तर में अवस्थित है । पेरियापुराणम् के अनुसार यहाँ देवराज इन्द्र ने देवाधिदेव शिव की उपासना की थी । कल्याण पत्रिका, तीर्थाङ्क , पृ0-453§

§15§ कडम्बूर

तमिलनाडु में ओमम्पुलिन्दूर नामक स्थान से 4 मील दूर उत्तर-पश्चिम में यह तीर्थस्थान है । यहाँ इन्द्र ने अमृत की प्राप्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना की थी §कल्याण : तीर्थाङ्क , पृ0-453§

§16§ इन्नम्बूर

कोट्टैय्यूर से वायुकोण में 2 मील की दूरी पर स्थित इस तीर्थ में इन्द्र तथा ऐरावत ने भगवान् की उपासना की थी §वही , पृ0-453§

§17§ तिरक्कन्नूर कोइल

वैदीश्वरन् कोइल से 3 मील की दूरी पर यह तीर्थ स्थित है । देवराज इन्द्र ने यहाँ §गौतम के§ शाप से मुक्ति पाने के लिये भगवान् शिव की आराधना की थी § § कल्याण : तीर्थाङ्क, पृ0-452§

§18§ कलयार कोइल

तिरूपंडनै से 21 मील पश्चिम में स्थित इसी तीर्थ में इन्द्रवाहन ऐरावत ने भगवान् विष्णु की आराधना की थी ।

§19§ इन्द्रमूर्ति

महाबलिपुरम् §चेगंलिपत§ में स्थित कृष्णमण्डपम् में देवराज इन्द्र §आकाशीय देवता§ की एक मूर्ति है जिसने पशुओं को मरूत् से §वात्यादेवता§ बचाने के लिये , बाएँ हाथ से बादलों को रोक रखा है । उसके पास पशुओं की सेवा का दृश्य शिलोत्कीर्ण है ।

दुग्धदोहन हो रहा है । मूर्ति के दाहिने भाग में एक बछड़े की मूर्ति है जिसका सिर एक तरफ झुका है तथा एक पैर आगे बढ़ा हुआ है (तीर्थाटनप्रदीपिका से प्राप्त विवरण)

इन्द्रतीर्थों से इन्द्रविषयक अनेक वृत्तान्तों का स्पष्टीकरण हो जाता है । अधिकांश इन्द्रतीर्थ देवराज इन्द्र की तपःस्थली के रूप में प्रतिष्ठित है । इन्द्र की तपस्या के मूलतः तीन प्रयोजन दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें पुराणों में सविस्तर विवेचित किया गया है -

1. पुरोहित विश्वरूप की हत्या से मुक्ति पाना ।
2. वृत्रासुर के भय से मुक्ति पाना ।
3. महर्षि गौतम के शाप (सहस्रभगत्व) से मुक्ति पाना ।

अधिकांश तीर्थस्थानों में देवराज इन्द्र को देवाधिदेव शिव की ही आराधना करके आप्तकाम होते दिखाया गया है जिससे भगवान् शिव की महाविभूति एवं ऐश्वर्य का प्रमाण मिलता है । गोस्वामी तुलसीदास की शिवविषयक मान्यता "भाविहुँ मेटि सकैं त्रिपुरारी" इन्द्र की शिवोपासनाओं में साकार दीखती है ।

कुछ इन्द्रतीर्थों का सम्बन्ध देवराज इन्द्र के अन्यान्य चरितों से भी है जैसे अमृतसर में इन्द्र द्वारा लव एवं कुश को अमृत देना, कुरूक्षेत्र में इन्द्र द्वारा महाराज कुरू के प्रश्नों का समाधान करना आदि ।

इन्द्रतीर्थों की भौगोलिक व्यापकता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । भारत के प्रायः समस्त भूक्षेत्रों में इन्द्र की तपःस्थलियाँ होने के कारण इन्द्र के व्यक्तित्व की व्यापकता का बोध होता है । जैसा कि पिछले अध्याय में प्रामाणिक विवेचन किया गया है, इन्द्रतीर्थ भारत में ही नहीं बल्कि बालीद्वीप जैसे सुदूर बृहत्भारत के उपनिवेशों में भी विद्यमान हैं ।

इन्द्रतीर्थों ने भारतीय-समाज की ईश्वरीय आस्था को उत्तरोत्तर सुदृढ किया है । देवराज इन्द्र द्वारा स्थापित शिवलिंग एक असाधारण घटना है । जैसे भगवान् राम द्वारा स्थापित रामेश्वर शिवलिंग का विशेष महत्त्व है, ठीक उसीप्रकार इन्द्र द्वारा स्थापित

शिवलिंगों एवं सरोवरों का विशेष माहात्म्य है । इससे मरणधर्मा मनुष्य को दैवी-सम्बल प्राप्त होता है । इतना ही नहीं , इन तीर्थों ने सामान्य जन-समुदाय को पापकर्म के पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त की भी प्रेरणा प्रदान की है । "जब देवराज इन्द्र जैसे समर्थ देवता को भी ब्रह्महत्या का पाप अथवा व्यभिचार का शाप भोगना ही पड़ा तो फिर हमारे जैसे प्राकृत जनों को क्यों नहीं भोगना होगा ?" साधारण मनुष्य का यह विचार मात्र उसके आत्मिक पुनरूत्थान के लिये पर्याप्त है । इसप्रकार इन्द्रतीर्थ जनता को सद्धर्माचरण में प्रवृत्ति तथा पापकर्म से निवृत्ति का उपदेश देते हैं ।

इन्द्र से सम्बद्ध यौगिक नामावलि

इन्द्र के ऐश्वर्य से जुड़े व्यक्तियों एवं पदार्थों के व्याख्यान-प्रसंग में तथा इन्द्रतीर्थों के विवरण में यद्यपि अनेक ऐसे यौगिक शब्द आये हैं जिनमें "इन्द्र" शब्द भी यथाकथंचित् जुड़ा है जैसे इन्द्रावरजः , उपेन्द्रः , इन्द्रकीलः , इन्द्रायुधः , इन्द्रध्वजः , इन्द्रधनुष् , इन्द्रव्याकरणम् , इन्द्रभवनम् , इन्द्रजालम् आदि । इन शब्दों की विस्तृत प्रामाणिक व्याख्या यथावसर की जा चुकी है ।

परन्तु ऐसे अनेक इन्द्रयुक्त संज्ञापद और हैं जो इन्द्रतीर्थों अथवा इन्द्रैश्वर्यसूचकों की परिधि में नहीं आते , फिर भी वे महत्त्वपूर्ण हैं । ऐसे ही कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची प्रस्तुत की जा रहा है । यह प्रश्न सचमुच विचारणीय है कि इन नामावलियों में इन्द्र शब्द के जुड़ने का मूल कारण क्या हो सकता है ? शोधकर्ता के लिये इस समस्या का समाधान पा सकना कठिन ही नहीं , असंभव भी है । फिर भी विद्वज्जनों के विचारार्थ वे शब्द प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

(1) इन्द्रयवम्

कुटज के वृक्ष को अमरकोशकार ने शक्र तथा उसके फल को "इन्द्रयव" कहा है -

जयोऽथ कुटजः शक्रो वत्सको गिरिमल्लिका ।
एतस्यैव कलिङ्गेन्द्रयवभद्रयवं फले ।।

—अमर0 वनौषधिवर्ग काण्ड-2

§2§ इन्द्रसुरसः तथा इन्द्राणिका

सिन्दुवार §पुष्प§ के पर्यायों में इन्द्रसुरस तथा इन्द्राणिका को गिनाया गया है । लोकभाषा में इसे निर्गुण्डी-पुष्प भी कहते हैं –

सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि ।
– अमर० वनौषधिवर्ग, काण्ड–2.

§3§ इन्द्रारिः

असुरों अथवा दानवों को इन्द्रारि अर्थात् इन्द्र का शत्रु कहा गया है – असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः । अमर० स्वर्गवर्ग, काण्ड–1

§4§ इन्द्रद्रुः

अर्जुन वृक्ष को इन्द्रद्रु §इन्द्र का द्रु अर्थात् वृक्ष§ कहा गया है – नदीसर्जो वीरतरुरिन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः । अमर० वनौषधि० काण्ड–2.

§5§ इन्द्रवारुणी

मोठी कुवंडल को विशाला तथा इन्द्रवारुणी कहा गया है । चित्रा गवाक्षी गोडुम्बा विशाला त्विन्द्रवारुणी । – अमर० वनौषधि० काण्ड–2

§6§ ऐन्द्रिः

अपत्य के अर्थ में इन्द्र शब्द से इ प्रत्यय लगा कर "दाशरथिः" की ही तरह ऐन्द्रिः शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है – इन्द्रस्य अपत्यः पुमान् ऐन्द्रिः अर्थात् इन्द्र का पुत्र ।

पौराणिक वृत्तों से ज्ञात होता है कि जयन्त इन्द्र §एवं शची का§ औरस पुत्र था जबकि वानरराज वाली तथा मध्यम-पाण्डव अर्जुन इन्द्र के क्षेत्रज पुत्र थे । परन्तु अपत्य होने के कारण इन तीनों को ही यथासन्दर्भ ऐन्द्रिः कहा गया है ।

काक रूप धारण करके, इन्द्र-पुत्र जयन्त ने देवी सीता के स्तनों पर पञ्जों से प्रहार किया था, राम की शक्तिपरीक्षा के उद्देश्य से। यह सन्दर्भ वाल्मीकि रामायण में निरूपित हुआ है - वनकाण्ड में। यहाँ जयन्त के लिये कवि ने ऐन्द्रिः शब्द का ही प्रयोग किया है -

"ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः"

§7§ इन्द्रवज्रा

महर्षि पिङ्गलविरचित छन्दशशास्त्र में एक विशेष समवृत्त वार्णिक छन्द को इन्द्रवज्रा कहा गया है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में 11 अक्षर होते हैं जोकि तगण, तगण, जगण तथा दो गुरू अक्षर के रूप में व्यवस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ -

गोष्ठे गिरिं सव्यकरेण धृत्वा
रूष्टेन्द्रवज्राहतिमुक्तवृष्टौ।
यो गोकुलं गोपकुलं च सुस्थं
चक्रे स नो रक्षतु चक्रपाणिः ॥

प्रस्तुत छन्द के प्रत्येक चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण §स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः§ चरितार्थ होता है।

S S I S S I I S I S S
गोष्ठे गिरिं सव्यकरेण धृत्वा

§8§ इन्द्रांश;

यह वास्तुविज्ञान का एक विशिष्ट शब्द है। नूतन गृहनिर्माण के उद्देश्य से किसी भूमि का परीक्षण करने पर जब "इन्द्रांश" उपलब्ध होता है तभी नूतन गृहारम्भ का शुद्ध पिण्ड उतरता है। उस स्थिति में बनाया गया घर निरन्तर धनधान्य से परिपूर्ण रहता है।

§9§ इन्द्रधनुष

इस शब्द की व्याख्या यद्यपि पहले की जा चुकी है फिर भी कुछ नये तथ्य पुनः प्रस्तुत किये जा रहे हैं । सामान्यतः इन्द्रधनुष् एक प्राकृतिक सौन्दर्य है । जलवर्षा के समय सूर्य की किरणें काली घनघटा पर जब धनुषाकार सतरंगी आभा बिखेरती हैं तो उसे इन्द्रधनुष् कहते हैं । संभवतः इस नामकरण का हेतु है इन्द्र का वर्षा का अधिष्ठातृ देवता होना ।

महाकवि कालिदास उत्तरमेघमें इन्द्रधनुषी छटा से ओतप्रोत मेघ का साम्य अलकापुरी के सचित्र राजप्रासादों से स्थापित करते हैं ।[1] महर्षि पाणिनि-प्रणीत §सम्प्रति अनुपलब्ध§ जाम्बवती विजय महाकाव्य में भी "ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण" आदि द्वारा इन्द्रधनुष् के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है ।

परन्तु अनेक सन्दर्भों में इन्द्रधनुष् प्राकृतिक उपादान मात्र न होकर देवराज इन्द्र के आयुध रूप में ही वर्णित किया गया है । ऋग्वेदमें इन्द्र के विविध शस्त्रास्त्रों में उसके धनुष् की भी चर्चा अनेकशः की गई है । एक मंत्र में कहा गया है कि "उत्पन्न होते ही इन्द्र ने हाथ में धनुष-बाण उठा लिया और अपनी माता से पूछा कि कौन-कौन वीर सुने जाते हैं ?

आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद् वि मातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ।।

– ऋग्वेद 8-45-4

वाल्मीकि-रामायण में भगवान् राम द्वारा रावण के वधार्थ इन्द्र-प्रदत्त शरासन §धनुष§ हाथ में ले लेने का सन्दर्भ आया है §जग्राहैन्द्रं शरासनम्§

---

1. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।। उत्तर0।
अन्य सन्दर्भः ऋतुसंहार 2-20, 2-23

§10§ ऐन्द्रास्त्रम्

वज्र का ही दूसरा नाम ऐन्द्रास्त्र भी है ।

§11§ इन्द्रायणम्

एक औषधीय वृक्ष को इन्द्रायण कहा गया है । चरक एवं सुश्रुत संहिता में इस वनस्पति के विशेष गुणों की चर्चा प्राप्त होती है ।

§12§ इन्द्रासनम्

इन्द्र के बैठने के आसन को इन्द्रासन कहा गया है । अनेक पौराणिक सन्दर्भों में देवराज इन्द्र द्वारा अपना उपकार §रणसाहाय्य§ करने वाले पार्थिव नरेशों को अपना आधा आसन §अर्धासन§ प्रदान करने की चर्चा आई है । किसी भी मर्त्यप्राणी के लिये यह देवराज इन्द्र का सर्वश्रेष्ठ अनुग्रह है ।

कालिदास-प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के सप्तमाङ्क में कालनेमिवंशज दुर्जय नामक राक्षसों के संहार में इन्द्र की प्रशंसनीय सहायता करने के कारण इन्द्र द्वारा महाराज दुष्यन्त को अपने आधे आसन पर बैठाकर , उनके गले में स्वयं मन्दारमाला पहनाने का प्रसंग आया है ।[1.]

§13§ इन्द्रप्रस्थ:

वर्तमान दिल्ली महानगर के परिसर में ही महाभारतकाल में पाण्डवों की राजधानी "इन्द्रप्रस्थ" अवस्थित थी जिसका विस्तृत एवं रोचक वर्णन महाभारत के आदिपर्व में प्राप्त होता है । खाण्डववनदाह में उपकृत मय दानव ने इन्द्रप्रस्थ का निर्माण किया था । मयनिर्मित राजप्रासादों में जल में स्थल तथा स्थल में जल की भ्रान्ति होती थी ।[2.]

---

1. अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
   आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ।। अभि0 7-2

2. सविस्तर द्रष्टव्य - महाभारत , आदिपर्व ।

§14§ इन्द्रशत्रुः

वृत्रासुर का पर्याय । पाणिनीय शिक्षा तथा पातञ्जल महाभाष्य में इस शब्द का प्रयोग मिलता है । महर्षि पतञ्जलि ने बताया है कि किसप्रकार स्वराघात § ACCENTUATION § का स्थान परिवर्तित होने से शब्द का अर्थ ही बदल जाता है । इन्द्रशत्रु शब्द यदि आद्युदात्त होगा तो तत्पुरुष-समास होगा और तब प्रधानता होगी इन्द्र के शत्रु §वृत्र§ की । परन्तु इस शब्द के अन्तोदात्त होने पर बहुव्रीहि-समास होगा । उस स्थिति में प्रधानता इन्द्र की होगी - इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः अर्थात् इन्द्र है शत्रु जिसका ।

महाभाष्यकार के प्रमाणानुसार असुरों ने इन्द्र के विनाशार्थ एक यज्ञ किया और "इन्द्रशत्रो! विवर्धस्व" मंत्र के साथ वे अग्निकुण्ड में आहुति प्रदान करने लगे । परन्तु "इन्द्रशत्रु" शब्द का भ्रष्ट उच्चारण §अन्तोदात्त§ करने के कारण इन्द्र की ही शक्ति बढ़ती गई और बलवान् इन्द्र ने वृत्र का विनाश कर डाला ।[1]

§15§ ऐन्द्री

भगवती दुर्गा का एक विशेष रूप । शाक्त-सम्प्रदाय में समस्त देवशक्तियों §वाराही, वैष्णवी, कौमारी, ऐन्द्री आदि§ कोभगवती दुर्गा का ही रूप माना गया है । इन्द्र की जिस शक्ति ने वृत्र का विनाश किया वह भी दुर्गा का ही स्वरूप था । इसीलिये कहा गया है - "वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि ! नारायणि । नमोऽस्तुते ।।" दुर्गासप्त०

§16§ इन्द्राक्षीस्तोत्रम्

भगवती दुर्गा का एक विशिष्ट स्तोत्र ।

---

1. महाभाष्य, पस्पशाह्निक ।

§17§ इन्द्रर्क्षः

27 नक्षत्रों में से एक, जिसे ज्येष्ठा कहा जाता है । इस नक्षत्र का स्वामी इन्द्र है, फलतः इसे इन्द्रर्क्ष भी कहा जाता है । इस नक्षत्र की गणना 6 प्रकार के गण्डान्त मूलों में की गई है । इसका विस्तृत विवेचन "इन्द्रमंत्र" के व्याख्या-प्रसंग में पहले ही किया जा चुका है ।

§18§ इन्द्रजा

इन्द्र की पुत्री जयन्ती का नाम है इन्द्रजा । जयन्ती का विवाह महर्षि शुक्राचार्य से सम्पन्न हुआ था ।[1] इसे देवसेना तथा जयनी भी कहा गया है । वेद में जयन्ती अन्तरिक्ष की माता के रूप में चित्रित किया गया है । श्रीमद्भागवत §5-4-11 तथा 12-2-21§ में, जिस रात्रि में भगवान् कृष्ण का जन्म हुआ था उसे भी जयन्ती कहा गया है ।

§19§ इन्द्रवंशा

यह भी इन्द्रवज्रा की ही तरह एक समवृत्त वार्णिक छन्द है जिसके प्रत्येक चरण में 12 अक्षर होते हैं । वंशस्थ छन्द का ही प्रथमाक्षर दीर्घ होने पर इन्द्रवंशा छन्द होता है । इसका लक्षण है -

तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ ।

उदाहरणार्थ - दैत्येन्द्रवंशाग्निसदीर्णदीधितिः
पीताम्बरोऽसौ जगतां तमोपहः ।
यस्मिन्ममज्जुः शलभा इव स्वयं
ते कंसचाणूरमुखा मखद्विषः ।।

---

1. द्रष्टव्य ब्रह्माण्डपुराण 3-71-205 तथा 3-72-150
वायुपुराण 96-201, मत्स्यपुराण 47-43-48

§20§ इन्द्रपौर्णमासी

भाद्रपद मास की पूर्णिमा को उपवास रखने का विधान बताया गया है। ऐसा करने से मोक्ष-प्राप्ति होती है।[1]

§21§ इन्द्रनीलमणिः

एक विशेष प्रकार का मणि जिसका रंग नीला होता है। इस मणि का वर्णन अनेक साहित्यग्रंथों में यथावसर आया है। महाकवि बाणभट्ट ने शूद्रक की राजसभा में उपस्थित चाण्डालकन्या को 'सञ्चरणशील इन्द्रनीलमणिपुत्रिका' अर्थात् चलती-फिरती इन्द्रनीलमणिनिर्मित पुत्तलिका के रूप में चित्रित किया है।[2] कालिदासप्रणीत मेघदूत के पूर्वभाग में भी इन्द्रनील की चर्चा आई है।[3]

§22§ इन्द्रगोपः

वर्षाऋतु के आने पर उत्पन्न होने वाले एक नयनाभिराम लाल रंग के कीड़े को इन्द्रगोप कहा जाता है। सामान्य जनभाषा में इसे "वीरबहूटी" भी कहते हैं। अनेक उत्कृष्ट खण्डकाव्यों-महाकाव्यों में उपलब्ध प्रकृतिवर्णनों में इन्द्रगोपों का रूचिकर वर्णन प्राप्त होता है।[4]

§23§ इन्द्रजित्

रावण का पुत्र मेघनाद, जिसे इन्द्र पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्द्रजित् कहा गया। वाल्मीकिरामायण में इन्द्रजित् के विषय में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। मेघनाद अन्ततः लक्ष्मण के हाथों मारा गया।

---

1. प्राचीन भारतीय संस्कृति कोष §डॉ० हरदेव बाहरी§ विद्यामन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।
2. द्रष्टव्य - कादम्बरी, शूद्रकवर्णनम्।
3. प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
   रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥ पूर्व० 46
4. विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता
   वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः॥ ऋतु० 2-5

§24§ इन्द्रवर्मा

अवन्ती देश का एक राजा जिसके हाथी का नाम था अश्वत्थामा । इन्द्रवर्मा कौरवपक्ष का योद्धा था । भीम ने इन्द्रवर्मा के हाथी को मारकर यह खबर फैला दी कि "अश्वत्थामा मारा गया ।" यह समाचार सुनते ही गुरू द्रोण को अपने पुत्र अश्वत्थामा के मारे जाने का भ्रम हुआ और उन्होंने अस्त्रत्याग करके प्रायोपवेशन धारण कर लिया । जब वह प्रायोपवेशन में बैठे ही थे कि तभी पाञ्चाल राजकुमार धृष्टद्युम्न ने अपने खड्ग से उनका शीर्षच्छेद कर डाला । महाभारत के द्रोणपर्व में यह कथानक प्रभूत विस्तार के साथ वर्णित किया गया है ।

§25§ इन्द्रवाह:

सूर्यवंशी अयोध्यानरेश खट्वाङ्ग को "इन्द्रवाह: कहा गया है । पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार एक बार देवराज इन्द्र ने देवासुरसंग्राम में महाराज खट्वांग से सहायता की याचना की । खट्वाङ्ग ने इन्द्र के समक्ष यह शर्त रखी कि "यदि आप मुझे अपने ऊपर वहन करें तो मैं आपकी सहायता करूंगा ।"

देवराज इन्द्र ने खट्वाङ्ग की बात मान ली तथा उन्होंने वृषभ का रूप धारण कर महाराज खट्वाङ्ग को अपने ऊपर धारण किया । ककुद §वृषभ की डील§ पर बैठने के ही कारण खट्वाङ्ग को "काकुत्स्थ" की संज्ञा प्राप्त हुई । इन्द्रवाह शब्द भी काकुत्स्थ के ही समकक्ष है । इन्द्रवाह का तात्पर्य है - इन्द्र है वाह §वाहन§ जिनका, ऐसे महाराज खट्वाङ्ग ।[1]

§26§ इन्द्रतापन:

हिरण्यकशिपु की सभा के एक दानव का नाम जिसका विस्तृत वर्णन ब्रह्माण्ड0 3-6-8 तथा मत्स्य 161-81 में आया है ।

§27§ इन्द्रदत्त.

मानव-सरीखे मुख वाले एक किन्नर का नाम §वायुपुराण 69-35§

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - श्रीमद्भागवत पुराण ।

§28§ इन्द्रदमन:

बाणासुर के एक पुत्र का नाम । बाणासुर प्रह्लाद का प्रपौत्र , विरोचन का पौत्र तथा बलि का पुत्र था । वह महान् शिवभक्त था ।

§29§ इन्द्रद्वीपम्

भारतवर्ष के नौ खण्डों में से एक खण्डविशेष जिसका विस्तृत विवरण ब्रह्माण्ड 2-16-9 , वायु0 45-79 तथा मत्स्य0 11-4-8 में उपलब्ध होता है ।

§30§ इन्द्रप्रमद

एक महर्षि का नाम जो शरशय्या पर पड़े भीष्म से मिलने के लिये गये थे । विशेष विवरण द्रष्टव्य - भागवतपुराण 1-9-7

§31§ इन्द्रमनस्

बाणासुर की पत्नी लौहित्य की माता का नाम । वायुपुराण 67-85 में इसका उल्लेख प्राप्त है ।

§32§ इन्द्रप्रमति:

एक महर्षि का नाम , जिन्होंने महर्षि पैल से ऋग्वेदसंहिता का अध्ययन कर माण्डूकेय को उसकी शिक्षा दी थी । विवरण द्रष्टव्य ब्रह्माण्ड0 2-32-105 तथा वायुपुराण 60-25-27.

अब यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है । उपर्युक्त शब्द-व्याख्याओं से इन्द्र की व्यापकता का बोध होता है । भारतीय धर्मसंस्कृति एवं लोकपरम्पराओं के निर्माण में देवराज इन्द्र के बहुरूप व्यक्तित्व का अभूतपूर्व योगदान है ।

§3§ इन्द्र-पद की गरिमा

वैदिकयुग में निरन्तर विकसित होता हुआ देवराज इन्द्र का व्यक्तित्व पुराणयुग तक आते-आते महाप्रभावी बन जाता है । वह अव्यक्त से व्यक्त-स्वरूप धारण

करता है । ऋग्वेद के मंत्रों में जहाँ कुल मिलाकर इन्द्र एक दुर्धर्ष योद्धा , असहायों का सहायक , वर्षा का अधिदेवता तथा सोमपान-प्रणयी एक अधिराट् है , वहीं पुराणों में उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र के हज़ारों पक्ष उजागर दीखते हैं । पौराणिक इन्द्र का व्यक्तित्व, मानव-व्यक्तित्व के समकक्ष दीखता है जिसमें उदात्त गुण हैं तो गर्हणीय अवगुण भी । वह महाप्रभावी , महामहिम होते हुए भी अनेक ऐसे चारित्रिक अन्तर्विरोधों का केन्द्र बन जाता है जो उसे एक देवता की बजाय प्राकृत प्राणी सिद्ध करने लगते हैं । इस सन्दर्भ की विस्तृत समीक्षा अध्यायान्त में की जायेगी ।

वेदमंत्रों में उल्लिखित इन्द्र क्या कोई व्यक्तिविशेष है ? यह प्रश्न प्राचीनकाल से ही गहन चिन्तन एवं समीक्षा का विषय रहा है । जैसाकि प्रारंभ में ही आचार्य यास्क के हवाले से यह बात कही गई है , उनके युग में भी इन्द्र एवं वृत्र सम्बन्धी कथानक की व्याख्या करने के लिये अनेक सम्प्रदाय थे - नैरूक्त , ऐतिहासिक , प्रकृतिवादी आदि । इन सभी सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी अलग-अलग थे । इनमें से कुछ सम्प्रदाय तो इन्द्रादि देवों को तत्तद्गुणाभिमानी व्यक्तिविशेष मानते हैं तो कुछ उनकी पुरूषविधता में पूर्णतः सन्देह करते हैं तथा उनसे जुड़े समस्त वृत्तों को रूपकमात्र अथवा आलंकारिक ही स्वीकार करते हैं । निरूक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग ने बड़ी स्पष्टता से कहा है -

अभिषवे सोमसंयोगमात्रमुपचर्यते ग्राव्णाम् । तस्मादपौरूषविध्यमिति । नहि ग्राव्णां यथाभूतान्यास्यानि भवन्ति यत्संयोगेन च स्तूयन्ते । तद्वत् इन्द्रादीनामपि अयथाभूतैः बाहुमुष्ट्यादिभिः स्तुतिः स्यात् । तस्मादहेतुरयं यत् पौरूषविधिकैरंगैः स्तूयन्त इति । तस्मादपौरूषविधाः । यथो एतत् पौरूषविधिकैः द्रव्यसंयोगैरिति । एतदपि तादृशमेव औपचारिकम् । रूपकमात्रमित्यर्थः ।

आचार्य दुर्ग का कहना है कि सोमरस निचोड़ते समय ग्रावा (सिलबट्टे) का सोम से संयोग होना ही उसका अशन माना जाता है । अतः उनकी अपुरूषविधता (मनुष्य की तरह चेतन प्राणी न होना) ही स्वीकरणीय है । सिलबट्टे का मुंह तो होता नहीं कि वह भक्षण कर सके ? उसीप्रकार इन्द्रादि देवताओं को भी अयथाभूत (अवास्तविक अथवा काल्पनिक) बाहु-मुष्टि आदि अंगों द्वारा स्तुति की जाती है । वस्तुतः यह सब उपचारमात्र है , रूपकमात्र है ।

आचार्य दुर्ग अपनी अवधारणा की पुष्टि यह कह कर करते हैं कि ग्रावा का मुख नहीं होता । बहती हुई नदी रथ पर बैठ नहीं सकती आदि ।[1] जैसा कि नदीस्तुति (ऋग्वेद 8-3-7-4) में कहा गया है -

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं
तेन वाजं स निषदस्मिन्नाजौ ।।

परन्तु आचार्य दुर्ग की यह अवधारणा तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि उन्होंने मूर्त तथा अमूर्त देवों को एक ही तुला पर तौलने का यत्न किया है । वेदों में अनेक ऐसे देवता हैं जो प्राकृतिक उपादान मात्र हैं जैसे नदी , रात्रि , ग्रावा , अरण्यानी , सोमवल्ली आदि । इसीप्रकार अनेक देवता ऐसे हैं जो अमूर्त प्रत्यय मात्र हैं जैसे - मन्यु , श्रद्धा , संज्ञान आदि । प्रो० मैकडानेल इन्हें *Abstract Deities* की संज्ञा देते हैं ।

प्राकृतिक उपादानों तथा अमूर्तप्रत्ययों को मानवीकरण के माध्यम से मूर्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । उनके सारे आचरण पुरूषों के ही समान बताये गये हैं । इन देवताओं को यदि आचार्य दुर्ग "अपुरूषविध" मानते हैं तो एक सीमा तक उचित प्रतीत होता है । क्योंकि मानवीकृत अमूर्त प्रत्ययों अथवा प्रकृति-घटकों का मानवोचित व्यवहार-चित्रण औपचारिक ही होता है । उसे रूपक-मात्र स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है ।

परन्तु इन्द्र , वरूण , रूद्र , विष्णु आदि के विषय में , उनकी अपुरूषविधता को किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है ? गृत्समद जैसा श्रेष्ठ ऋषि जिस इन्द्र के विषय में कह रहा है - "स जनास इन्द्रः" उसकी अभिव्यक्ति को झूठी कैसे मान लिया जाय ? वेदमंत्रों में इन्द्र के व्यक्तित्व , वस्त्राभूषण , वाहन , आयुध , असुर-संहार तथा लोकोपकारादि का इतना विस्तृत तथा प्रामाणिक विवरण प्राप्त होता है कि उसकी "पुरूषविधता" स्वतः सिद्ध हो जाती है । अगले अनुच्छेदों में इस तथ्य पर ससाक्ष्य सविशेष प्रकाश डाला जायेगा ।

---

1 नहि उदकात्मिकाया नद्या वहन्त्या रथेऽवस्थानं सम्भवति ।

- दुर्गाचार्य (निरूक्तटीका 7-2-3)

वस्तुतः इन्द्र की अपुरुषविधता अथवा काल्पनिकता का मूल आधार है इन्द्र पद का पुरुषेतर निर्वचन । इन्द्र को कहीं आत्मा तो कहीं परमात्मा , कहीं इन्द्रिय तो कहीं वायु , कहीं सूर्य तो कहीं मरुत् स्वीकार कर लिया गया है । डॉ० जयदत्त उप्रेती जी ने अपने शोधप्रबन्ध में इस सन्दर्भ का युक्तियुक्त विवेचन किया है । उनके विवेचन के ही आधार पर इन्द्रपद के कुछ निर्वचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

1. प्राण ही इन्द्र है

मानव-शरीर में विद्यमान प्राण ही इन्द्र है क्योंकि वह अन्य प्राणों को इन्द्रियों द्वारा दीप्त करता है । दीपन ही इन्ध है और इन्ध को ही परोक्ष रूप से इन्द्र कहते हैं ।[1.]

2. दक्षिणनेत्र में विद्यमान पुरुष ही इन्द्र है

स होवाच । इन्धो वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव । परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।

-शतपथ० 14-6-10-2

- बृहदारण्यको० 4-2-2

3. पुरुष-ब्रह्म ही इन्द्र है

आत्मा ने पुरुष-ब्रह्म को ही सर्वत्र व्याप्त देखा । "इसको मैंने देखा" इस आशय से ही उस (ब्रह्म) को "इदन्द्र" कहा गया । वही इदन्द्र परोक्षरूप से इन्द्र है , क्योंकि देवता परोक्षप्रिय तथा प्रत्यक्षद्वेषी होते है ।[2.]

---

1. स योऽयं मध्ये प्राणः । एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध । यदैन्ध तस्मादिन्धः। इन्धो ह वैतमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवास्त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । - शतपथ० 6-1-1-2
2. स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् । इदमदर्शमिति तस्मादिदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः । -ऐतरेय आरण्यक 2-4-3

शतपथ-ब्राह्मण , बृहदारण्यकोपनिषद् तथा ऐतरेय-आरण्यक के उपर्युक्त तीन उद्धरण इन्द्र-पद का निर्वचन प्राण , आत्मा तथा परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करते हैं और ये तीनों ही अर्थ अत्यन्त गूढ एवं रहस्यात्मक हैं । ये तीनों आध्यात्मिक तत्त्व पुरूषरूपता से परे हैं क्योंकि इनका कोई रूप सम्भव नहीं है । प्राण , आत्मा तथा ब्रह्म अवाङ्. मनसगोचर हैं ।

सम्भवतः इन्द्रपद के इन्हीं आध्यात्मिक निर्वचनों ने इन्द्र के पुरूषाकृतिक होने में सन्देह पैदा किया ।

परन्तु इन्द्र के मंत्रवर्णित शौर्य-पराक्रम तथा पुरूषोचित व्यवहारों को झुठलाया भी कैसे जाए ? वह अयास्य एवं अंगिरा के गोधन का रक्षक है । कुत्स , अतिथिग्व , दिवोदास , सुदास आदि का संकट-निवारक है । वह अपाला का रोगापहारक है । वह बल , अहि , वृत्र , शम्बर , नमुचि , शुष्ण , कुयव , चुमुरि, रौहिण तथा धनु आदि का संहारक है । वह कभी वामदेव से संघर्ष मोल लेता है तो कभी वृषाकपि से । वह कभी वज्र से प्रहार करता है तो कभी धनुष-वाण से और कभी शक्ति से । वह यज्ञों में पुरोडाश का भक्षण एवं सोमरस का आकण्ठ पान करता है ।

यदि इन्द्र मात्र प्राण , आत्मा अथवा परब्रह्म है तो वेदमंत्रों में सप्रमाण वर्णित ये पुरूषोचित कार्य किसके हैं ? ऐसी स्थिति में इन्द्र की पुरूषाकृति को स्वीकार करना ही होगा ।

अनेक वेदमंत्रों में इन्द्र के पुरूषविध शरीरावयवों , पुरूषविध वीर्यकर्मों तथा पुरूषविध व्यवहारों का वर्णन उपलब्ध होता है ।

उदाहरणार्थ - उरूं नो लोकमनुनेषि विद्वान्
सर्वज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू
उपस्थेयाम शरणं बृहन्ताः ।। ऋग्वेद 4-7-31-3

हे इन्द्र , तुम्हारे दो विशाल बाहू शत्रुसंहारक तथा हमारे लिये शरणभूत हैं जिनके समीप हम रहा करें ।

आद्वाभ्यां हरीभ्यामिन्द्र
याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं
सुतः सुमरवमा मृधस्कः ।। ऋग्वेद 2-6-21-4

हे इन्द्र ! दो अश्वों को रथ में जोत कर आ जाइये । अश्व चाहे चार हों, छः, आठ अथवा दश, उन्हें रथ में जोतकर सोमपान के लिये शीघ्र आ जाइये ।

युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी
उप प्रयाहि दधिषे गभस्त्योः ।
उत त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः
पूषण्वान् वज्रिन् त्समु पत्न्यामदः ।। ऋग्वेद 1-82-6

हे वज्रिन् ! तेरे केशवाले घोड़ों को मैं मंत्रोच्चारणपूर्वक रथ में जोड़ता हूँ । तू घोड़ों की लगाम थाम कर घर जा । सोमरसों ने तुझे तृप्त कर दिया है । अपने घर में पत्नी के साथ सोमपान से तृप्त हो ।

उपर्युक्त समस्त मंत्रों में इन्द्र के पुरूषविध कर्मों (व्यवहारों) का ही वर्णन किया गया है । इन्द्र के पुरूषविध शरीरावयवों का भी वर्णन इन मंत्रों में है । ऐसी स्थिति में, यह स्वीकार करना उचित ही होगा कि वेदोक्त इन्द्र कोई रूपक या कल्पना मात्र नहीं, बल्कि मनुष्य के ही समकक्ष स्वरूप, बल एवं कर्म सम्पन्न एक व्यक्तिविशेष है - देवकोटिक !

निरूक्त 7-2-6 अंश में यह मन्तव्य बड़ी दृढ़ता के साथ व्यक्त किया गया है कि देवता भी पुरूषों के ही समान शरीरधारी हुआ करते हैं । पुरूषों के ही समान उनका भी गुणानुवाद किया जाता है तथा उनके व्यक्तित्व के रूप-सौन्दर्य तथा सौष्ठव की प्रशंसा की जाती है ।[1] जैसा कि डॉ० अप्रेती जी ने संकेत किया है, "इन्द्र के वेदोक्त स्वरूप और आकृति के रहस्य को समझने के लिये हमें निरूक्त तथा बृहद्देवता का आश्रय लेना होगा ।"

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य : यास्कप्रणीत निरूक्त (दैवतकाण्ड)

यदि इन्द्र सचमुच पुरुषाकृतिक है , पुरुषविधकर्मा है - तो उसका व्यक्तित्व क्या है ? यद्यपि इस सन्दर्भ में पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है तथापि इन्द्र के व्यक्तित्व का एक संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित न होगा ।

इन्द्र काल्पनिक नहीं

इन्द्र मध्यलोक [अन्तरिक्ष] का प्रधान देवता है । वह वायु में व्याप्त है तथा रश्मियों से जल के रसों को खींचकर पुनः पृथ्वी पर जलवृष्टि करता है । इसीलिये उसे इन्द्र कहते हैं ।[1]

इन्द्र अत्यन्त सुरूप-सम्पन्न है [सु-संदृशंत्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि - ऋग्वेद 1-82-3] मनुष्य के ही समान इन्द्र का शीश , भुजाएँ तथा चरण हैं । सोम इन्द्र का अभीष्ट पेय है । सोमपूरित इन्द्र के उदर की उपमा ह्रद [तडाग] से दी गई है -

ह्रदा इव कुक्षयः सोमधानाः ।
समी विव्याच सवना पुरूणि ।।
- ऋग्वेद 3-36-8

इन्द्र की ठोढ़ी [चिबुक] सुन्दर है । फलतः उन्हें अनेकशः "सुशिप्रः अथवा शिप्रिन्" कहा गया है -

अस्मे शतं शरदो जीवसे धा
अस्मे वीरान्छश्वत् इन्द्र शिप्रिन् ।।
- ऋग्वेद 3-36-10

सोमपान के अनन्तर इन्द्र जबड़ों को पीसने लगते हैं । वह मदमत्त होकर आगे बढ़ते हैं तो उनकी मूँछें हिलने लगती हैं । उनकी मूँछें , केश तथा शरीर का रंग भी हरित है ।

प्र दोधुवत् श्मश्रुषु प्रीणानो
याहि हरिभ्यां सुतस्य पीतिम् ।। - ऋग्वेद 2-11-17

---

1. रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह ।
वर्षत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः ।। - बृहद्देवता 1-6-8

इन्द्र को हरिकेश तथा हरिश्मश्रु कहा गया है । उसका हृदय भी लोहे के समान दृढ़ है -

हरिश्मश्रारूईरिकेश आयस -
स्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।। - ऋग्वेद 10-96-8

इन्द्र की दो आँखें हरित एवं उज्ज्वल हैं ﴾स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः﴿ उसकी हरितवर्ण दो दाढ़ें सोमपानार्थ स्फुरित होती रहती हैं ﴾शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः﴿

इन्द्र का वज्र भी हरितवर्ण तथा लौहनिर्मित है ﴾सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो﴿ शोभन हनु ﴾दाढी﴿ वाला इन्द्र क्रुद्ध होकर शत्रुओं को बाणों से बींध डालता है ﴾ द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायकः﴿

इन्द्र हरितकेशयुक्त घोड़ों का स्वामी है[1] ﴾पूर्वेभिरिन्द्र ! हरिकेश यज्वभिः﴿ वह हिरण्यबाहु[2] तथा सुवर्णाभूषण धारण करने वाला है ।[3] इन्द्र उग्र वीर, शीघ्रता से शत्रु का पराभव करने वाला तथा मनोऽनुकूल शरीर ﴾रूप﴿ धारण कर लेने में समर्थ है ।[4] इन्द्र के शरीर से सूर्य-सरीखी प्रभा फूटती है ।[5]

इन्द्र के आयुध वज्र का भी विविध वर्णन मंत्रों में प्राप्त होता है । उसे चतुष्कोण ﴾वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन् - ऋग्वेद 4-22-2﴿ शतकोण अथवा शतपर्व ﴾ वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा शिरो बिभेद वृष्णिना - ऋग्वेद 8-6-6﴿ सहस्त्रभृष्टि ﴾अभ्येनं वज्र आयसः सहस्त्रभृष्टिः, ऋग्वेद 1-80-12﴿ तथा निशित बताया गया है । जैसे बलीवर्द अपनी सींगों को रगड़कर तेज करता है उसीप्रकार इन्द्र अपने वज्र को तीक्ष्ण

---

1. उपर्युक्त सभी उद्धरण द्रष्टव्य : ऋग्वेद 10-96
2. आ धूर्ष्वस्मै दधाताश्वानिन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः ।। 7-34-3
3. इन्द्रो वज्री हिरण्ययः । ऋग्वेद 1-7-3
4. उग्रस्तुराषाऽभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एषः ।। ऋग्वेद 3-48-4
5. हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व ।। वही, 10-112-3

बनाता है । वज्र का निर्माण इन्द्र के लिये. त्वष्टा ने किया §ऋग्वेद 1-32-2§ साधारणतः यह अयोमय है, परन्तु कहीं-कहीं इसे हिरण्मय §1-57-2§ तथा हरित §3-44-4§ अथवा अर्जुन §3-44-5§ भी बताया गया है । वज्र के ही कारण इन्द्र को वज्रिन्, वज्रभृत्, वज्रवत् तथा वज्रदक्षिण आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है । कहीं-कहीं वज्र को अश्मन् §पाषाण§ तथा पर्वत जैसा भी बताया गया है ।

वज्र के अतिरिक्त धनुष् एवं बाण भी इन्द्र का आयुध है ।[1] इन्द्र के बाण स्वर्णिम आभा वाले तथा हजारों पंखों वाले हैं ।

इन्द्र के पास एक अंकुश भी है जिससे वह धन वितरित करता है[2] तथा अवसर पड़ने पर उसीसे दुष्टों की शक्ति को भी क्षीण करता है -

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अंकुशं
येनारूजासि मघवन् शफारूजः ।। ऋग्वेद 10-44-9

इन्द्र के पास एक जाल भी है शत्रुओं को बाँधने के लिये जिससे वह उन्हें पराजित कर देता है ।[3]

इन्द्र को "रथेष्ठाः" कहा गया है जिसे दो, चार, छ, आठ, दश, शत, सहस्त्र अथवा ।। सौ अश्व खींचते हैं ।[4] ये घोड़े सूर्यचक्षस् §1-16-1§ हैं । वे अपने जबड़ों को चबाते तथा हिन-हिनाते हैं §1-30-16§ उनके अयालं हवा में लहराते हैं §1-10-3§ उन अयालों का रंग सुनहरा है §8-32-39§ घोड़ों की केशराशियाँ मयूरपिच्छ के समान हैं §3-45-1§ इन्द्र के रथाश्व इन्द्र को यूँ ही ले जाते हैं वेगपूर्वक जैसे श्येन के पंख श्येन को §2-16-3 तथा 8-34-9§

---

1. द्रष्टव्य : ऋग्वेद, 8-45-4
2. वही अथर्व0, 6-82-3
3. वही वही, 8-8-5
4. ऋग्वेद 2-18-4, 2-18-5, 2-18-6, 4-46-3, 6-46-18, 8-1-9 तथा 8-1-24 आदि ।

बलवत्ता में इन्द्र अप्रतिम है । फलतः उसकी उपमा उस वृषभ से दी गई है जिसे सात रश्मियों (रस्सियों) से बाँधकर नियंत्रित किया गया हो (वृषभः सप्तरश्मिः)

उपर्युक्त व्याख्यान से वेदमंत्रों में वर्णित इन्द्र की पुरुषविधता एवं पुरुषविधकर्मता का प्रामाणिक बोध हो जाता है । इतना ही नहीं, वेदमंत्रों में तो इन्द्र के माता-पिता, पत्नी शची तथा उसके मित्रों - सहचरों का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है ।

उत्पन्न होते ही इन्द्र ने हाथ में धनुष-बाण लेकर अपनी माता से पूछा था - पृथ्वी पर कौन-कौन से वीर हैं ?

> आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद् वि मातरम् ।
> क उग्राः के ह शृण्विरे ? ऋग्वेद 8-45-4

जिस दिन इन्द्र का जन्म हुआ उसी दिन उनको माता ने उन्हें सोमपान कराया था - प्रसूतिगृह में ।

> यज्जायथास्तदहरस्य कामें
> शोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम् ।
> तं ते माता परि योषा जनित्री
> महः पितुर्दम आसिञ्चदग्रे ।। ऋग्वेद 3-48-2

इसप्रकार निरुक्तकार आचार्य यास्क ने इन्द्र की जो पुरुषरूपता स्वीकार की है वह वेदमंत्रों से पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है ।[1] इन्द्र की वही वैदिक पुरुषाकृति पुराणों में आकर विविध, व्यापक तथा बृहत्तम बन जाती है । पौराणिक इन्द्र केवल अन्तरिक्ष में सीमित नहीं रहता बल्कि वह अमर्त्य तथा मर्त्य-संस्कृतियों को जोड़ने वाला सेतु बन जाता है । वह पृथ्वी के भूपतियों का परममित्र है तथा शतक्रतु-सम्पादकों का परम वैरी । वह निरन्तर पृथ्वीलोक के सम्पर्क में रहता है तथा अपने प्रतिस्पर्धियों

---

1. आचार्य यास्क इन्द्रादि देवताओं की पुरुषविधता का निषेधात्मक पक्ष भी रखते हैं (निरुक्त 7-7 दैवतकाण्ड) कुछ आचार्यों के मतानुसार देवता पुरुषाकृति नहीं होते । अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा जल (वरुण) में पुरुषरूपता कहाँ है ? अतएव अदृष्ट इन्द्रादि देवों को पुरुषाकृति-भिन्न मानना ही उचित है ।

से सावधान भी । उसे निरन्तर भय है कि कहीं कोई ऋषि अपनी उग्र तपश्चर्या से पुण्यसंचय करके उसका इन्द्रपद न छीन ले अथवा कोई प्रतापी नरेश सौ यज्ञ पूर्ण करके "शतक्रतु" न बन जाय ।

प्रमुख पौराणिक इन्द्रोपाख्यान

जैसा कि पूर्व अनुच्छेदों में कहा गया है वेदमंत्रों का इन्द्र , जो यथार्थ एवं काल्पनिक व्यक्तित्वों के बीच अस्तित्ववान् है , पुराणों के कथाकुञ्ज में पहुंच कर एक महामानव के समकक्ष बहुरंगी चरितों का केन्द्रविन्दु बन जाता है । उसका कौटुम्बिक तथा स्वजन-परिवेश आशातीत ढंग से व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है । कभी वह महाप्रभावी देवराज दीखता है तो कभी चारित्रिक दुर्बलताओं से ओतप्रोत एक विवादास्पद पुरूषविध व्यक्तित्व ।

अठारह पुराणों तथा इतने ही उपपुराणों में वर्णित इन्द्रकथाओं का साकल्येन संकलन तथा विवेचन कर पाना एक कठिन कार्य है । अतएव प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ अतिप्रमुख इन्द्रोपाख्यानों का ही विवरण प्रस्तुत किया जायेगा । विशेष कर ऐसे उपाख्यान जिनसे पौराणिक इन्द्र की चारित्रिक समीक्षा की जा सके ।

परन्तु इन इन्द्रोपाख्यानों पर प्रकाश डालने से पूर्व इन्द्र से सम्बद्ध पुराणपुरूषों का भी संक्षिप्त परिचय दे देना अप्रासंगिक न होगा ।[1]

﴾1﴿ मरूद्

महर्षि कश्यप एवं दिति के 49 पुत्र । दिति के तेजस्वी गर्भ को अपना वैरी जानकर इन्द्र ने उसे 49 खण्डों में काट डाला , फिर भी वे गर्भखण्ड जीवित ही रहे तथा भयवश रोते रहे । तब इन्द्र ने उन्हें "मा रूद" ﴾मत रोओ﴿ कह कर चुप कराया ।

---

1. यह विवरण श्री राणाप्रसाद शर्मा-लिखित पौराणिक-कोश तथा डॉ0 उषापुरी विद्यावाचस्पति-लिखित "भारतीय-मिथक-कोश" के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है । शोधकर्ता एतदर्थ लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करता है ।

फलत: उनका नाम पड़ा – मारूत् । इन्हें आवह , प्रवह आदि सात वातस्कन्धों का निवासी कहा गया है ।[1] इन्द्र ने मरूतों को देवमण्डली में सम्मिलित कर लिया ।[2]
मरूत् अथवा वायुदेव हनुमान् ﴾अञ्जनापुत्र﴿ तथा भीम ﴾कुन्तीपुत्र﴿ के पिता भी हैं ﴾ब्रह्माण्ड0 2-10-43﴿ तारकादि पांच दानव जब युद्ध से भाग कर सागर में जा छिपे तब इन्द्र ने मरूत् एवं अग्नि को समुद्र सुखाने को कहा तथा वैसा न करने पर उन्हें शाप दे दिया मर्त्य बन कर पैदा होने के लिये । अगस्त्य के रूप में दोनो पैदा हुए ﴾ मत्स्य0 61-3-19﴿

﴾2﴿ रम्भा

अप्सरा-विशेष, जिससे इन्द्र ने विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के उद्देश्य से भेजा था । विष्णुपुराण में इस वृत्त का विस्तृत वर्णन है । वा0 रामा0 ﴾बालकाण्ड सर्ग 63 , 64 तथा 65﴿ में भी यह कथा वर्णित की गई है । विश्वामित्र के शाप से रंभा दश हजार वर्षों के लिये पाषाण-प्रतिमा बन गई थी ।

﴾3﴿ उर्वशी

इन्द्र के परम सखा पुरूरवा ने उर्वशी के साथ विवाह किया था । परन्तु कालान्तर में इन्द्र को उर्वशी का वियोग अखरने लगा और उसने छल-छद्म करके उर्वशी को वापस बुला लिया । महाभारत में विस्तृत वर्णन उपलब्ध ﴾महा0 वनपर्व अ0 45 46﴿ मित्र तथा वरूण का वीर्य उर्वशी को देखकर स्खलित हो गया । फलत: वसिष्ठ एवं अगस्त्य का जन्म हुआ ﴾वा0 रामा0 उत्तर0 13-56﴿

﴾4﴿ मेनका

इन्द्र ने मेनका को भेजा था विश्वामित्र का तपोभंग करने के लिये । विश्वामित्र मेनका के प्रणयपाश में बंध गए । मेनका शकुन्तला को जन्म देकर स्वर्गलोक लौट आई । भागवतपुराण ﴾9-20-13﴿ तथा पद्मपुराण एवं महाभारत में विस्तृत-वर्णन ।

---

1. वायु0 101-29

2. मत्स्यपुराण अ0 7 , विष्णुपुराण 1-21

§5§ घृताची

इन्द्र की प्रेरणा से घृताची ने महर्षि प्रमति §च्यवन एवं सुकन्या के पुत्र§ का तपोभंग किया तथा उनके सहयोग से रूरू को जन्म दिया । विस्तृत वर्णन महाभारत §आदिपर्व§ में उपलब्ध । कामासक्त वेदव्यास ने घृताची सेही शुकदेव को उत्पन्न किया । द्रोणाचार्य का जन्म भी घृताची एवं भरद्वाज से ही हुआ ।

§6§ प्रम्लोचा

इन्द्रप्रेषिता प्रम्लोचा महर्षि कण्डु की प्रणयिनी बनी तथा उसने मारिषा को जन्म दिया । वनस्पतियों ने मारिषा का पालन-पोषण किया § विष्णुपुराण 1-15§

§7§ संवर्त

महर्षि अंगिरा के आठ पुत्रों में से एक तथा इन्द्र की सभा के सभासद §महाभारत , सभापर्व 7-19 तथा 11-12§ इन्द्र तथा बृहस्पति के विरोध के बावजूद भी इन्होंने महाराज मरूत का अश्वमेध-यज्ञ कराया था §महा० अश्वमेध पर्व§

§8§ कुबेर

देवराज इन्द्र के धनाध्यक्ष तथा भगवान् शिव के मित्र । श्रीमद्भागवत 9-2-32 , 4-1-37 तथा वायु० 40-8 में विस्तृत-वर्णन ।

§9§ परावसु

गन्धर्वविशेष जिसने नमुचि-विनाश के उपलक्ष्य में इन्द्र की प्रशस्ति गाई थी ।

§10§ बृहस्पति

महर्षि अंगिरा के पुत्र तथा उचथ्य के अनुज । देवराज इन्द्र के कुलपुरोहित । तारकासुरवध में इन्द्र के परामर्शदाता । विस्तृत विवरण - भागवत० 6-7-79 , मत्स्य० 148-62-76 तथा वायु० 2-19

§11§ पुलोमा

कश्यप तथा दनु का पुत्र , इन्द्रपत्नी शची का पिता §मत्स्य० 6-20-1§ रसातल में इन्द्र के साथ पुलोमा के युद्ध का वर्णन भागवत० 6-6-31 , 7-2-5 , वायु० 68-7 तथा विष्णु० 1-21-5 में वर्णित है । पुलोमा इन्द्र के हाथों मारा गया ।

§12§ अनंग

स्त्री एवं पुरूष को परस्पर भोगासक्त कराने वाला देवता । इन्द्र का परम सहायक तथा उन्मादन , शोषण , तापन , सम्मोहन एवं संस्तम्भन नामक पञ्चबाण से समन्वित । गन्धमादन-शिखर पर तपस्यारत धर्मपुत्र विष्णु का तपोभंग करने हेतु इसे इन्द्र ने वसन्त , कोकिल एवं अप्सराओं के साथ भेजा था §मत्स्य0 7-23 , 23-30 आदि तथा वायु0 104-48§ भगवान् शिव का तपोभंग करने के प्रयास में उनकी तृतीय नेत्राग्नि में भस्म होकर अनंगता को प्राप्त §शिव तथा वामनपुराण में विस्तृत वर्णन § रति तथा प्रीति अनंग की पत्नियां हैं ।

§13§ अर्जुन

कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न इन्द्र के क्षेत्रज पुत्र । खाण्डववन-दाह के समय अर्जुन ने इन्द्र को पराजित किया । इन्द्रकील पर्वत पर पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के बाद इन्द्र अर्जुन को स्वर्ग ले गया जहाँ उन्होंने विविध प्रकार के दिव्यास्त्र प्राप्त किये । स्वर्ग में अर्जुन द्वारा निवातकवच का संहार करके इन्द्र का उपकार किया गया । उर्वशी के प्रणयनिवेदन को ठुकराकर अर्जुन वहीं शापग्रस्त भी हुए । अर्जुन के हितार्थ इन्द्र ने उनके प्रतिद्वन्द्वी कर्ण से कवचकुण्डल माँग लिये §सविस्तर द्रष्टव्यः महाभारत तथा श्रीमद्भागवत 10-89-34§

§14§ अदारथी

प्राचीनगर्भ तथा सुवर्चा का पुत्र जो अपने तपोबल से पूर्वजन्म में इन्द्र बन गया था । यह भद्रा का पति तथा दिवंजय का पिता था । विस्तृत वर्णन ब्रह्माण्ड0 2-36-99 तथा वायु0 62-85 में उपलब्ध ।

§15§ गोविन्द

देवराज इन्द्र द्वारा प्रदत्त श्रीकृष्ण का नाम । गोवर्धन-पर्वत धारण कर जब कृष्ण ने व्रजवासियों तथा गौओं की, इन्द्र के कोप से रक्षा की तब प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें गायों का इन्द्र स्वीकार किया था §श्रीमद्भाग0 10-27-23 से 28 तक§

§16§ तक्षक

महर्षि कश्यप एवं कद्रू से उत्पन्न एक विशिष्ट नाग । महर्षि शमीक के पुत्र शृङ्गी के शापवश तक्षक ने हस्तिनापुर-नरेश परीक्षित को डँस कर कालकवलित कर दिया । इस तथ्य को जानकर परीक्षितपुत्र जनमेजय ने भयावह नागयज्ञ प्रारंभ किया । भयभीत तक्षक आत्मरक्षार्थ इन्द्र के आसन में लिपट गया । परन्तु दुर्धर्ष मंत्र के प्रभाववश जब इन्द्रासन-समेत वह यज्ञकुण्ड की ओर आने लगा तब इन्द्र ने उसका साथ छोड़ दिया । अन्ततः महर्षि आस्तीक ने नागयज्ञ को बन्द करवा दिया ।[1]

यह देवाधिदेव शिव की ग्रीवा में लिपटा रहता है ।[2]

§17§ तिलोत्तमा

इन्द्रसभा की अप्सरा जिसका निर्माण ब्रह्मा ने संसार के सौन्दर्य का तिल-तिल एकत्र करके किया था । इन्द्र की प्रेरणा से इसने देववैरी सुन्द तथा उपसुन्द नामक परम-विश्वस्त दो भाइयों के बीच भेद उत्पन्न कर, एक-दूसरे से उनका संहार करा दिया था ।[3]

§18§ हेमा

इन्द्रसभा की सुन्दरी अप्सरा तथा स्वयंप्रभा की प्रिय सखी । मय दानव की यह प्रेयसी थी । इसने मन्दोदरी को जन्म दिया था । इन्द्र ने मय का वध करके हेमा को मुक्त किया था ।[4]

§19§ तारक

कश्यप तथा दनु का पुत्र दानव-विशेष । इसने इन्द्र को बहुत सताया था । यह समुद्र में छिपा रहता था तथा अवसर पाते ही इन्द्र पर प्रहार करता था । इन्द्र तथा बलि के संग्राम में भी यह बलिपक्ष से लड़ा था । भगवान् विष्णु ने अन्ततः क्लीब रूप धारण कर इसका संहार किया ।[5]

---

1. श्रीमद्भागवत० 12-6-16 से 23 तक ।
2. ब्रह्माण्ड० 2-25-88 , मत्स्य० 154-444
3. महाभारत आदि० 211-19
4. वाल्मीकि० किष्किन्धा० 51-14-26
5. ब्रह्माण्ड 3-6-7, भागवत० 8-10-21 मत्स्य० 61-4, 131-22, 136-34 आदि ।

§20§ <u>हरिश्चन्द्र</u>

इक्ष्वाकुवंशी महाराज त्रिशंकु के सत्यव्रती पुत्र तथा अयोध्यानरेश । इन्द्र की सुधर्मा-सभा के सदस्य §महा० सभापर्व 7-13§ इन्द्रप्रेरित विश्वामित्र ने उनके "सत्यव्रत" की कठिन परीक्षा ली । हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिये पत्नी तथा स्वयं को भी चाण्डाल के हाथ बेच दिया । अन्ततः वह इस परीक्षा में खरे उतरे तथा स्वर्ग के अधिकारी बने ।[1]

§21§ <u>सव्य</u>

मंत्रद्रष्टा एक ऋषि , महर्षि अंगिरा का पुत्र । अंगिरा की तपस्या से प्रसन्न हुए इन्द्र ने ही उनके पुत्र-रूप में जन्म लिया जिसका नाम था - सव्य । अर्जुन को सव्यसाची भी कहते हैं, दोनों हाथों से शरसन्धान करने के कारण ।

§22§ <u>सुरावती</u>

महर्षि कश्यप की पत्नी तथा इन्द्र की माता । देवमाता अदिति का ही नामान्तर §विष्णुपुराण§

§23§ <u>सुशान्ति</u>

तीसरे मन्वन्तर का इन्द्र §श्रीमद्भागवत§

§24§<u>मनोजव</u> - छठें मन्वन्तर के इन्द्र का नाम ।

§25§ <u>पुरन्दर</u> - सातवें §वर्तमान§ मन्वन्तर के इन्द्र का नाम ।

§26§ <u>शिवि</u>

महाराज उशीनर के पुत्र शिवि महान् दानशील नरेश थे । इन्द्र तथा अग्नि ने श्येन तथा कपोत रूप धारण कर शिवि की दान परीक्षा ली । दानवीर शिवि ने कपोत की प्राणरक्षा-हेतु उसकी तौल के बराबर अपना मांस काटते-काटते सारा शरीर ही काट डाला । अन्ततः इन्द्र और अग्नि प्रकट हो गये तथा शिवि को उत्तम लोकों की प्राप्ति हुई ।[2]

---

1. ऐतरेय-ब्राह्मण, मार्कण्डेय० तथा महाभारत ।
2. द्रष्टव्य महाभारत, विष्णु० एवं ब्रह्मपुराण ।

§27§ शुकदेव

घृताची अप्सरा एवं वेदव्यास के सम्पर्क से उत्पन्न महायोगी महाभागवत ऋषि जिन्होंने परीक्षित को भागवती-कथा सुनाई थी । शुकदेव का उपनयन संस्कार स्वयं भगवान् शिव ने किया । देवराज इन्द्र ने उन्हें आसन तथा कमण्डलु प्रदान किया ।[1]

§28§ विद्युत्प्रभ

एक तपोधनी जिन्होंने पाप से मुक्ति पाने हेतु इन्द्र से प्रश्न पूछे थे । कालान्तर मे उन्होंने स्वयं इन्द्र को धर्मोपदेश दिया था ।[2]

§29§ मार्कण्डेय

मृकण्डु ऋषि के पुत्र जिन्होंने महाप्रलय-वेला में भी अक्षत रह कर वटपत्र पर शयन करते बालरूप विष्णु के दर्शन किये थे । इन्द्र ने इनके तपोभंग हेतु कामदेव एवं पुञ्जिकस्थली अप्सरा को भेजा था, परन्तु उसकी एक नहीं चली । इनकी पत्नी का नाम धूम्रपत्नी तथा पुत्र का नाम वेदशिरा था । हिमालय की उपत्यका में पुष्पभद्रा नदी के तट पर इनका आश्रम था ।[3]

§30§ महानाम

हिरण्याक्ष के §शकुनि-शम्बरादि§ नौ पुत्रों में से एक, जो वृत्रासुर के साथ इन्द्र से युद्ध करने आया था §भागवत0 6-10-20§ ब्रह्माण्ड0 3-5-31§

§31§ मान्धाता

सूर्यवंशी महाराज युवनाश्व के पुत्र जिन्होंने पुत्रप्राप्ति हेतु महर्षि च्यवन द्वारा अभिमंत्रित जल को पी लेने के कारण तेजस्वी गर्भ को उदर में धारण किया । यथावसर इनकी बाईं कुक्षि को चीर कर, अश्विनीकुमारों से बालक को बाहर निकाला गया । परन्तु माँ के अभाव में यह प्रश्न उठा कि यह क्या पियेगा ? §किं धास्यति§ तब देवराज इन्द्र

---

1. ब्रह्माण्डपुराण 3-10-75 से 80 तक ।
2. महाभारत अनु0 125-45 से 56 तक ।
3. भागवत0 12-8-9 एवं 10, ब्रह्माण्ड0 2-11-7

ने अपनी तर्जनी शिशु के मुंह में डालकर कहा - यह मुझको पियेगा । ﴾मां धाता﴿ इस समाधान-वश ही बालक का नाम पड़ गया मान्धाता , जो आगे चलकर महाप्रतापी नरेश सिद्ध हुए ।[1] इन्द्र ने स्वयं मान्धाता का राज्याभिषेक किया था । लवणासुर ने अपने त्रिशूल से मान्धाता और उनकी सेना को भस्म कर डाला था । ﴾वा० रामा०﴿

﴾32﴿ देवसेना

दक्ष प्रजापति की कन्या तथा दैत्यसेना की छोटी बहन , जिसका अपहरण केशी नामक दानव ने कर लिया था । देवसेना का आर्तनाद सुनकर इन्द्र ने उसकी रक्षा की । देवसेना ने बताया कि केशी उसकी बड़ी बहन का हरण पहले ही कर चुका । आज मानस-पर्वत पर विहार करती देखकर उसे भी केशी ने हरना चाहा ।

इन्द्र ने मौसेरी बहन देवसेना की रक्षा की । अब उसे उसके विवाह की चिन्ता हुई । एतदर्थ वह ब्रह्मा के पास गया । ब्रह्मा ने बताया कि देवाधिदेव शिव का भावी पुत्र कार्त्तिकेय ही देवसेना का पति होगा ।

कालान्तर में कार्त्तिकेय के जन्म लेने पर इन्द्र ने उसे ही देव-सेनापति बनाया तथा प्रजापति की भविष्यवाणी का स्मरण कराते हुए देवसेना का विवाह उसके साथ सम्पन्न किया । देवगुरू बृहस्पति ने इस विवाह में पुरोहित का कार्य किया । देवसेना को लक्ष्मी , कुहू , आशा , सुखप्रदा तथा अपराजिता आदि नामों से भी ख्याति प्राप्त हुई ।[2]

﴾33﴿ भुवनेश्वरी

भुवनेश्वरी ﴾दुर्गा﴿ की कृपा से असुरों पर विजय प्राप्त करते ही देवों को अपने बल-पौरूष का मिथ्या अहंकार हो गया । तब उनका दम्भ विनष्ट करने के लिये भगवती ने स्वयं को एक प्रकाशमान महाकाय यक्ष के रूप में प्रकट किया । देवों को उसका परिचय जानने का कुतूहल हुआ तो सर्वप्रथम उन्होंने अग्नि को तथा बाद में वायु को भेजा।

---

1. महा० वनपर्व अ० 126, देवीभाग० 7-9, विष्णु० 4-1, वा० रामा० उत्तर० सर्ग67
2. महाभारत वनपर्व अध्याय 223 तथा 224

यक्ष ने दोनो से उनका ही परिचय पूछा तो दोनो ने अपने पराक्रम की डींग हाँकी । यक्ष ने एक तिनका दिखाते हुए अग्नि तथा वायु को क्रमशः उसे जलाने तथा उड़ाने के लिये कहा । परन्तु वे कुछ भी नहीं कर सके । तब इन्द्र आगे बढ़ा । उसे आता देख यक्ष उद्भय हो गया और उसके स्थान पर देवी भुवनेश्वरी प्रकट हो गई ।

भगवती को देखते ही इन्द्र-सहित समस्त देवों को रहस्य का बोध हो गया और उन सबका अहंकार टूट गया ।[1.]

§34§ भगदत्त

प्राग्ज्योतिषपुर के अधिपति भगदत्त इन्द्र के परम मित्र थे । दिग्विजयसन्दर्भ में अर्जुन एवं भगदत्त का घोर युद्ध हुआ । इन्द्र के शौर्य-पराक्रम से प्रसन्न होकर भगदत्त में महाराज युधिष्ठिर को कर देना स्वीकार किया । महाभारतयुद्ध में भगदत्त ने दुर्योधन के पक्ष से युद्ध किया था ।[2.]

§35§ प्रमति

प्रमति ने इन्द्र को द्यूतक्रीड़ा में पराजित कर उनसे देवांगना उर्वशी को जीत लिया , इससे उसका मद एवं अहंकार बहुत बढ़ गया । इससे कुपित होकर इन्द्र के प्रिय सखा गन्धर्वराज विश्वावसु के पुत्र चित्रसेन ने प्रमति को द्यूतक्रीडा में हराकर उसे कैद कर लिया ।

जब प्रमति के पुत्र सुमति को महर्षि मधुच्छन्दा से यह सब ज्ञात हुआ तब उसने उपासना-रूपी उपाय से पिता को मुक्त करवाया ।[3.]

§36§ पृथ्वी

द्वापर-युग में कंस , केशी , धेनुक आदि के अत्याचारों से पीड़ित होकर पृथ्वी देवराज इन्द्र के पास पहुंची और बोली कि विष्णु ही मेरी व्यथा के मूल कारण हैं क्योंकि

---

1. देवीभागवत 12-8 , यह कथानक सर्वप्रथम केनोपनिषद् तृतीयखण्ड में आया है ।

2. महाभारतं, सभापर्व अध्याय-26 §श्लोक 8 से 16 तक§

3. ब्रह्मपुराण, अध्याय 17।

वराह रूप धारण कर उन्होंने ही मुझे जल के बाहर निकाला ़ अन्यथा मैं जल में डूबी हुई ही सुरक्षित थी़

पृथ्वी की व्यथा सुनकर इन्द्र उसे साथ लेकर भगवान् प्रजापति के पास पहुँचे । ब्रह्मा ने बताया कि भगवती महामाया ही सम्पूर्ण कार्यों के मूल में है । अतः समाधान हेतु उन्हीं की शरण में चलना चाहिये ।

उन सबकी प्रार्थना से भगवती महेश्वरी ने प्रकट होकर बताया कि भगवान् विष्णु पृथ्वी के भार-हरण हेतु शीघ्र ही कृष्ण के रूप में अवतरित होंगे । अतः देवों को भी उनके अभियान में सहायता देने के लिये पृथ्वी पर जाना चाहिये ।

भगवती का आदेश पाने के बाद ही इन्द्र अर्जुन , वायु भीम, धर्म ़यमराज़ युधिष्ठिर तथा अश्विनीकुमार नकुल-सहदेव के रूप में अवतरित हुए ।[1]

़37़ उपरिचर

अष्ट वसुओं ़धर , ध्रुव , सोम आदि़ में से एक । यह भगवान् विष्णु के परम भक्त थे । इनकी घोर तपस्या से भयभीत होकर इन्द्र ने यथाकथंचित् उन्हें तपोविरत बनाया । इस उपकार के बदले इन्द्र ने उपरिचर को स्फटिक-निर्मित एक विमान , सदैव विजयी रहने के लिये वैजयन्ती माला तथा एक वेत्रयष्टि उपहार रूप में दी । विमान में बैठकर निरन्तर पृथ्वी से ऊपर ही रहने के कारण उन्हें "उपरिचर" संज्ञा प्राप्त हुई ।

वशिष्ठ के शाप से जब अष्ट वसुओं को पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा तब सात वसु तो कम अपराधी होने कारण , भगवती गंगा ़शान्तनु की पत्नी़ द्वारा अपनी धारा में समर्पित कर देने पर , जन्म के अनन्तर ही शापमुक्त हो गये । परन्तु मुख्य अपराधी होने के कारण उपरिचर को चिरकाल तक पृथ्वी पर रहना पड़ा ।

---

1. देवीभागवत 4-18 तथा 19 हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व अ0 52, 53
श्रीमद्भागवत 10-1

गंगापुत्र देवव्रत भीष्म ही उपरिचर वसु के अवतार थे ।[1]

§38§ अवधूतपति

भगवान् शिव के दर्शनार्थ एक बार देवराज इन्द्र विपुल उपहार-सामग्री लेकर चले । परन्तु उनका अहंकार एवं गर्व देख शिव ने भयानक अवधूत का रूप धारण कर लिया ।

इन्द्र ने मार्ग में आते अवधूत से शिव का आवास पूछा परन्तु अवधूत इन्द्र को तिरस्कृत कर , विना कुछ उत्तर दिये आगे निकल गया । क्रोधाभिभूत होकर इन्द्र ने अवधूत पर वज्र से प्रहार कर दिया । परन्तु अवधूत के कण्ठ पर लगते ही वज्र राख बन गया और भगवान् शिव के कण्ठ पर उस भस्म से नीला चिन्ह अंकित हो उठा । एक भयानक ज्वाला देवताओं को जलाने लगी ।

इस विलक्षण घटना के घटते ही देवों ने भगवान् शिव को पहचान लिया और उनसे क्षमा माँगी । प्रसन्न त्रिपुरारि ने दयार्द्र होकर उस अलक्षित ज्वाला को गंगा में फेंक दिया । उसीसे जलन्धर का जन्म हुआ । अवधूत के रूप में यह भगवान् शिव का 75वाँ अवतार था ।[2]

§39§ च्यवन

सूर्यवंशी नरेश शर्याति की परम सुन्दरी कन्या सुकन्या को अपने अपराध के कारण बूढ़े महर्षि च्यवन को पति वरण करना पड़ा । कालान्तर में अश्विनीकुमारों की कृपा से च्यवन को यौवन एवं रूप-सौन्दर्य प्राप्त हुआ ।

इस उपकार के बदले महर्षि च्यवन में अपने श्वसुर महाराज शर्याति के अश्वमेध यज्ञ में अश्विनीकुमारों को सोमपान कराने का वचन दिया । वैद्यक-कर्म करने के कारण इन्द्र अश्विनीकुमारों को सोमपान का अधिकारी नहीं मानता था । फलतः उसने च्यवन

---

1. महा० आदिपर्व अ० 63 श्लोक 1-69, शान्तिपर्व अ० 336 , देवीभागवत, 2-1
2. शिवपुराण 7-3।

के प्रस्ताव का विरोध किया । परन्तु महर्षि च्यवन ने अश्विनों को सोमपान करा ही दिया । क्रुद्ध इन्द्र ने च्यवन पर वज्र से प्रहार किया परन्तु महर्षि च्यवन ने अपने तपोबल से वज्र को, प्रहार से पूर्व ही, स्तम्भित कर दिया और इन्द्र के विनाशार्थ कृत्या {विशालकाय राक्षस} पैदा कर दी । वह राक्षस इन्द्र को निगलने के लिये आगे बढ़ा । भयभीत इन्द्र गुरू बृहस्पति की शरण में भागे । परन्तु बृहस्पति ने, च्यवन के असीम तेज का वर्णन करते हुए, उन्हीं की शरण में जाने का आदेश दिया ।

अन्ततः इन्द्र ने च्यवन का शरणागत बनकर क्षमा मांगी और अश्विनों को भी सदैव अपने साथ सोमपान कराने का वचन दिया ।[1]

{40} रजि

देवासुर-संग्राम छिड़ने पर दानवों ने महाराज रजि से सहायता मांगी । रजि ने कहा कि यदि विजयी बनने पर तुम लोग मुझे इन्द्रपद देने का वचन दो तो मैं तुम्हारे पक्ष से युद्ध करूं । परन्तु दैत्य तो प्रह्लाद को इन्द्र बनाने का संकल्प कर चुके थे ।

देवों ने भी रजि की सहायता चाही और शर्त भी स्वीकार कर ली । परन्तु विजय प्राप्त करने पर मेधावी तथा चतुर शतक्रतु {इन्द्र} ने महाराज रजि के पांव पकड़ लिये और बोला कि "आप तो मेरे पिता तुल्य हैं ।" रजि ने इन्द्र की विनम्रता देखकर अपना हठ त्याग दिया ।

परन्तु रजि के पुत्रों ने अब इन्द्र के साम्राज्य में अपना भाग मांगा क्योंकि इन्द्र के ही वचनानुसार अब स्वर्ग का साम्राज्य महाराज रजि का था जिसमें पुत्र होने के कारण रजि-पुत्रों का भी हिस्सा बनता था । इन्द्र द्वारा हिस्सा न देने पर, रजिपुत्रों ने इन्द्र को युद्ध में परास्त कर साम्राज्य भोगना प्रारंभ कर दिया ।

पराजित इन्द्र गुरू बृहस्पति की शरण में गया । बृहस्पति ने इन्द्र के अभ्युदयार्थ यज्ञ किया तथा अनाचारी रजिपुत्रों के विनाशार्थ अभिचारकर्म । रजिपुत्र इस यज्ञ के प्रभाव से वेदविमुख, अधर्मी तथा दुश्चरित्र हो गये । तेजस्वी इन्द्र ने उनका

---

1. देवीभागवत 7-6-1 से 42 तक । श्रीमद्भागवत 9-3-1 से 26 तक, महाभारत वनपर्व अ0 122 से 124 तक ।

वध कर डाला और स्वर्ग-साम्राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया ।[1]

(41) वज्राङ्ग

जब इन्द्र ने गर्भ में प्रविष्ट होकर दिति के गर्भस्थ शिशु को 49 टुकड़ों में काट डाला और पैदा होने पर उन्हें अपने पक्ष में कर लिया तब क्रोध, अमर्ष तथा बदले की भावना से ओतप्रोत दिति ने महर्षि कश्यप को प्रसन्न करके इन्द्रविनाशक एक दूसरा पुत्र प्राप्त किया जो शस्त्रों से अवध्य था । उस पुत्र का नाम था वज्रांग ।

वज्राङ्ग ने लात-घूंसों से मार-मार कर इन्द्र को अधमरा कर दिया तथा अधीनता स्वीकार करने पर उसने इन्द्र को जीवित छोड़ दिया । ब्रह्मा तथा विष्णु ने वज्राङ्ग को योग में शिक्षित किया तथा वराङ्गी नामक एक सुन्दर कन्या से उसका विवाह भी सम्पन्न करा दिया ।

वज्राङ्ग ने सागर जल में तथा वराङ्गी ने तट पर बैठकर घोर तप किया । इन्द्र ने उन्हें नष्ट करने का भरसक प्रयास किया फिर भी दोनों का तप अखण्डित ही रहा ।[2]

(42) वज्रनाभ

अपने दुर्धर्ष तप से ब्रह्मा को प्रसन्न करके वज्रनाभ नामक असुर ने "अवध्य" होने का वर प्राप्त कर लिया और वायु द्वारा भी दुष्प्रवेश्य वज्रपुर में रहने लगा । उसने त्रैलोक्य का राज्य पाने के लिये, इन्द्र को अधीनता मानने के लिये, प्रस्ताव रखा । परन्तु इन्द्र ने उत्तर दिया कि "देवताओं के पिता महर्षि कश्यप अभी यज्ञानुष्ठान में लगे हैं । अतः यज्ञ की समाप्ति होने पर ही वह उनकी मंत्रणा से वज्रनाभ को उत्तर देंगे । वज्रनाभ प्रतीक्षा करने को राजी हो गया ।

देवराज इन्द्र ने वज्रनाभ से भयभीत होकर वासुदेव कृष्ण के साथ विचार-विमर्श किया । उसने स्वर्ग के हंसों को वज्रनाभ के नगर में भेजा ताकि वे उसकी कन्या के मन में कृष्णपुत्र प्रद्युम्न के प्रति प्रेम पैदा कर सकें । शुचिमुखी नामक हंसिनी ने वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती के मन में प्रद्युम्न के प्रति असीम अनुराग भर दिया ।

1. विष्णुपुराण 4-9, ब्रह्मपुराण 11-1-26

2. शिवपुराण, पूर्वार्ध 2-31

उधर वज्रनाभ ने भद्रनामा नामक नट की प्रशंसा सुनकर उसका कौशल देखने के लिये उसे अपनी पुरी में आमंत्रित किया। कृष्ण ने यह समाचार जानकर प्रद्युम्न आदि यादव कुमारों को भी नट की भूमिका का निर्वाह करने के लिये भद्रनामा के साथ वज्रनाभ के नगर में प्रविष्ट करा दिया। शुचिमुखी ने प्रद्युम्न तथा प्रभावती का संगम करा दिया।

भ्रमर का रूप धारण कर प्रद्युम्न प्रभावती के महल में पहुंच गया। वहीं अग्नि को साक्षी मानकर दोनो विवाह-बन्धन में बंध गए। वज्रनाभ को इन सारी घटनाओं का ज्ञान नहीं हो पाया।

इधर यज्ञ की समाप्ति होने पर महर्षि कश्यप ने वज्रनाभ को इन्द्र से युद्ध न करने का निर्देश दिया। दूसरी ओर इन्द्र तथा कृष्ण को चरों से ज्ञात हो गया कि वज्रनाभ तथा उसके भाई की तीनों कन्यायें प्रद्युम्न तथा अन्य यादव कुमारों की भार्यायें बन चुकी हैं तथा गर्भवती भी हैं। इन्द्र ने वर दिया कि उत्पन्न होते ही शिशु पूर्ण युवक बन जायेंगे।

ऐसा ही हुआ। प्रभावती तथा चन्द्रावती आदि ने पुत्रों को जन्म दिया जोकि जन्म के बाद ही पूर्ण वयस्क हो गये। इस रहस्य का ज्ञान होते ही वज्रनाभ उन्हें मारने दौड़ा। परन्तु तभी मायानिपुण प्रद्युम्न ने उसका वध कर डाला। इसप्रकार देवराज इन्द्र ने अपनी कूटनीति से शत्रु का विनाश करवा दिया।[1]

(43) <u>वत्सनाभ</u>

कठोर तपस्या में रत महर्षि वत्सनाभ के शरीर को दीमकों ने अपनी बाँबी (वल्मीक) से ढंक लिया। वत्सनाभ के उग्र तप से भयभीत होकर, उनका तप खण्डित करने के उद्देश्य से इन्द्र ने प्रलयवर्षा प्रारंभ की। सारी बांबी गलकर बह गई और तपलीन महर्षि वर्षा से पीड़ित हो उठे। तभी धर्म ने महिष रूप धारण कर, उन्हें अपने चारों पैरों के नीचे सुरक्षित बचा लिया। वर्षा समाप्त होने पर महिषरूपधारी धर्म दूर जाकर खड़े हो गये।

---

1. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व अ0 91 से 97 तक।

तपस्या टूटने पर महर्षि वत्सनाभ ने समूची पृथ्वी को जलप्लावित देखा । तभी उनकी दृष्टि महिष पर पड़ी । उन्हें लगा कि निश्चय ही इसी पशु ने मेरी रक्षा की है अन्यथा इस भयावह वर्षा में स्थिर न रह पाता । बह गया होता । महर्षि को पशु मानवों से अधिक श्रेष्ठ प्रतीत हुआ ।

वत्सनाभ को ऐसे ओछे मनुष्यों से भरी-पुरी पृथ्वी से घृणा हो गई और वह सुमेरू-शिखर से कूदकर आत्मघात कर लेने के लिये उद्यत हो उठे । परन्तु तभी धर्म ने महिष रूप त्याग कर उनका हाथ पकड़ लिया और उन्हें आत्मघात करने से बचा लिया और कहा - "महर्षे ! तुम्हारी आयु बहुत लम्बी है । प्रत्येक धर्मात्मा अपने कृत्यों पर इसीप्रकार विचार करता है ।"[1]

§44§ वपुष्टमा

वपुष्टमा काशिराज की कन्या तथा जनमेजय की भार्या थी । जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ किया । यज्ञ में मारे गए अश्व के साथ राजमहिषी वपुष्टमा ने शास्त्रीय विधि से शयन किया ।

देवराज इन्द्र जनमेजय के अश्वमेध-यज्ञ को विफल करना चाहता था अतएव उसने मृत अश्व की देह में प्रवेश करके राजमहिषी का शील नष्ट कर दिया । यह रहस्य ज्ञात होते ही जनमेजय ने रानी का परित्याग कर दिया और प्रतिज्ञा की कि " आगे से कोई भी क्षत्रिय अश्वमेध-यज्ञ में इन्द्र का यजन नहीं करेगा ।"

परन्तु गन्धर्वराज विश्वावसु ने जनमेजय को समझाया कि राजमहिषी वपुष्टमा पवित्र है क्योंकि उसकी देह में प्रविष्ट हुई रम्भा ही इन्द्र से सम्पृक्त हुई थी । विश्वावसु की बात मानकर महाराज जनमेजय ने पुनः वपुष्टमा को स्वीकार करलिया । परन्तु इस घटना से उनका अश्वमेध यज्ञ तो विफल हो ही गया । बस यही इन्द्र का लक्ष्य था ।

---

1. महाभारत , दानपर्व अ0 12
2. हरिवंशपुराण , भविष्यपर्व 2-5

§45§ वपु

इन्द्र-सभा की एक रूपवती अप्सरा जो नारद की प्रेरणा से महर्षि दुर्वासा का तपोभंग करने गई थी । देवराज इन्द्र ने देवर्षि नारद को किसी अप्सरा का संगीत सुनने का निवेदन किया तो देवर्षि ने यह शर्त रखी कि "जो देवाङ्गना दुर्वासा का तपोभंग कर देगी , उसी का संगीत सुनूंगा ।"

सभी अप्सराएँ दुर्वासा के क्रोध से भयभीत होकर मुकर गईं । परन्तु वपु ने साहस किया । वह दुर्वासा के आश्रम से एक कोस की दूरी पर ही रुकी और कोकिल-कण्ठ से गाने लगी । महर्षि दुर्वासा की समाधि टूट गई उस कर्णप्रिय संगीत से और वह सम्मोहित से होकर उसी का अनुसरण करते आगे बढ़े । परन्तु वपु को देखते ही अकस्मात् वह सशंक हो उठे । उन्होंने योगबल से सब कुछ जान लिया तथा क्रोधाविष्ट होकर वपु को शाप दे डाला कि "तुम पक्षी होओगी तथा चार बच्चों को जन्म देने के बाद ही वात्सल्य से वंचित होकर स्वर्गलोक को लौटोगी ।"

वपु को शाप देकर महर्षि दुर्वासा पृथ्वी छोड़कर आकाश-गंगा की ओर चले गए ।[1]

§46§ वामन

विरोचनपुत्र बलि ने इन्द्र को पराजित कर स्वर्ग के साम्राज्य पर अधिकार कर लिया । देवमाता अदिति को अपार व्यथा हुई अपने पुत्रों को ऐश्वर्यच्युत देखकर ।

बलि ने ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिये विशाल यज्ञ प्रारंभ किया तो देवगण भगवान् विष्णु के पास पहुँचे । उन्होंने बलि के यज्ञ को पूर्ण न होने देने की अभ्यर्थना की । भगवान् विष्णु ने देवों को सान्त्वना दी तथा बलि के निग्रहार्थ अवतरित होने का वचन दिया ।

---

1. मार्कण्डेय पुराण , 1-23

महर्षि कश्यप तथा अदिति ने उसी समय सहस्त्र वर्ष में पूर्ण होने वाला अपना महाव्रत सम्पन्न किया था। विष्णु ने प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया तथा उन दोनो की कामना के ही अनुसार उनके पुत्र रूप में (तथा इन्द्र के अनुज उपेन्द्र के रूप में) अवतरित होने का वचन दिया।

विष्णु वामन के रूप में आदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के कल्याणार्थ, बलि के यज्ञ में पहुंचकर साढे तीन पग पृथ्वी दान में मांगी तथा बलि के वचनबद्ध होते ही तीन डगों से ही तीनों लोगों को नाप लिया - विराट् रूप धारण कर। आधा डग पृथ्वी न दे पाने के कारण वामन ने बलि को बांध लिया यज्ञमण्डप में।

बलि का अहंकार नष्ट हो गया। वह भगवान् विष्णु का शरणागत हो गया। वामन ने कृपालु होकर इन्द्र को पुनः स्वर्ग का साम्राज्य दिया साथ ही साथ बलि को भी पाताल-लोक में प्रतिष्ठित कर अपना आशीष प्रदान किया।[1]

(47) शरभंग

महर्षि शरभंग ने अपनी दुर्धर्ष तपश्चर्या से ब्रह्मलोक तथा स्वर्गलोक को भी जीत लिया था। देवराज इन्द्र उन्हें स्वर्ग ले जाने के लिये प्रस्तुत हुए, परन्तु तभी उनके आश्रम में दाशरथि भगवान् राम, पत्नी एवं अनुज के साथ आये। महर्षि शरभंग ने इन्द्र के साथ जाने से अस्वीकार कर दिया। उन्होंने अग्निशाला में यज्ञ सम्पन्न किया तथा योगाग्नि में अपनी देह भस्म कर दी, भगवान् राम के ही समक्ष।[2]

(48) मैनाक

पर्वतराज हिमवान् तथा मेना से मैनाक का जन्म हुआ। जब देवराज इन्द्र ने पर्वतों के पंखों को काट कर उन्हें एक ही स्थान पर स्थिर (अचल) बना दिया तब भयभीत मैनाक उड़ चला। वायुदेव ने कृपापूर्वक उसे उड़ने में सहायता दी। इसप्रकार मैनाक ने सागर की अतल गहराइयों में छिपकर आत्मरक्षा की। वह वायुदेव के प्रति

---

1. वा० रामा० बालकाण्ड सर्ग 29 श्लोक 1-22, महाभारत सभापर्व अ० 38, हरिवंश० भविष्य० अ० 64 से 72 तक। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 5

2. वा० रामा० अरण्यकाण्ड 5-5 से 44 तक।

अत्यन्त कृतज्ञ था । इसीलिये सीतान्वेषण के लिये वायुमार्ग से जाते हनुमान् को वायु का पुत्र जानकर, मैनाक सागरजल से ऊपर निकल आया और अपनी पीठ पर मुहूर्त भर विश्राम करने के लिये हनुमान् से उसने प्रार्थना की ।[1]

§49§ रम्भ-करम्भ

दनु के पुत्र थे रम्भ एवं करम्भ, जिन्होंने शत्रुजयी पुत्र की कामना से घोर तप किया । करम्भ ने जल-निमग्न होकर तथा रम्भ ने वट-वृक्ष का अवलंबन लेकर, अग्नि के लिये । जब इन्द्र को यह सब ज्ञात हुआ तो उसने मगरमच्छ का रूप धारण कर करम्भ को खा डाला । भाई की मृत्यु से व्यथित रम्भ ने केश हाथ में लेकर शीर्षच्छेद करना चाहा तो अग्निदेव ने प्रकट होकर उसे रोका तथा उसे शत्रुविनाशक पुत्र प्राप्त करने का वर प्रदान किया ।

रम्भ ने एक महिषी के संयोग से महिषासुर को उत्पन्न किया तथा पुत्रप्रेम के ही कारण स्वयं अपने पुत्र का पुत्र बन कर उत्पन्न हुआ । उसका नाम था रक्तबीज । जब महिषासुर ने स्वर्ग पर आक्रमण करके इन्द्रादि देवों को ऐश्वर्यच्युत कर दिया तब उनकी प्रार्थना पर सारी देवशक्तियों ने समन्वित होकर महिषासुरमर्दिनी दुर्गा का अवतार लिया । दुर्गा ने ही रक्तबीज, चण्ड-मुण्ड तथा महिषासुर का वध किया ।[2]

§50§ त्रिपुरारि शिव

प्राचीनकाल में असुरों ने आकाश में तीन पुरों का निर्माण किया । लौहनिर्मित पुर का स्वामी विद्युन्माली, रजतनिर्मित पुर का स्वामी तारकाक्ष तथा सुवर्णनिर्मित पुर का स्वामी कमलाक्ष था । इन्द्र ने त्रिपुरविजय के अनेक प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा । अन्ततः उसने देवाधिदेव शिव की शरण ली । भगवान् शिव ने त्रिपुर पर आक्रमण कर उसे छिन्न-भिन्न कर डाला तथा तीनों असुरों का विनाश कर दिया । तभी से उन्हें त्रिपुरारि अथवा पुरारि कहा जाने लगा ।[3]

---

1. वा० रामा० सुन्दरकाण्ड, सर्ग । श्लोक 122-143
2. देवीभागवत 5-2-18 मार्कण्डेय० §दुर्गासप्तशती§
3. महाभारत द्रोणपर्व अ०-202

§51§ पञ्चपाण्डव

एक बार देवगण गंगास्नानार्थ गए तो उन्होंने जल में बहते स्वर्णकमल को देखा । देवराज इन्द्र उस स्वर्णकमल का उद्‌भव स्थान खोजते-खोजते गंगोत्री पहुँचा तो देखा कि एक युवती बैठी रो रही है और उसका आँसू गंगाजल में गिरकर स्वर्णकमल बन रहा है । इन्द्र ने उसके दुःख का कारण पूछा तो युवती इन्द्र को साथ लेकर हिमालय के शिखर की ओर गई जहाँ एक देवपुरूष युवती के साथ क्रीडा कर रहा था ।

इन्द्र ने अहंकारपूर्वक उन दोनों की भर्त्सना की और बताया कि वह सारा क्षेत्र उसके अधिकार में है । तब उस पुरूष ने बताया कि वह रूद्र है । उसने इन्द्र से एक गुफा का द्वार खोलने को कहा । वैसा करने पर इन्द्र ने देखा कि उसके समान चार और इन्द्र गुहा में बन्द हैं ।

क्रुद्ध रूद्र ने कहा कि "तूने अहंकारवश मेरा अपमान किया है अतः इन चारों के साथ ही तू पृथ्वी पर मानवयोनि में जन्म लेगा । यह स्त्री, जोकि लक्ष्मी है , यही तुम पांचों का प्राप्तव्य होगी ।"

रूद्र के उसी शाप-वश पांचों इन्द्र पञ्चपाण्डवों के रूप में तथा लक्ष्मी द्रौपदी के रूप में अवतरित हुई ।[1]

§52§ हिरण्यनाभ

देवर्षि नारद तथा पर्वत परस्पर मामा-भाञ्जे थे । दोनों ने एक-दूसरे को अपना अच्छा-बुरा रहस्य बता देने की सौगन्ध खाई थी । दोनो एक बार राजा संजय के यहां पहुँचे । संजय की रूपवती कन्या को देखकर नारद उसके प्रति आसक्त हो गये परन्तु अपना यह मनोभाव उन्होंने पर्वत को नहीं बताया ।

प्रतिज्ञा भंग करने के कारण क्रुद्ध पर्वत इन्हें अविवाहित रहने तथा वानरमुख हो जाने का शाप दे दिया । नारद ने भी पर्वत को स्वर्गच्युत होने का शाप दे दिया । इस शाप के अनन्तर दोनो ने विदा लेते समय राजा संजय से वर मांगने को कहा । संजय

---

1. म०भा० आदिपर्व अ० 196 श्लोक 1-36, मार्कण्डेयपुराण अ05 में यही कथानक प्रकारान्तर से दिया गया है । विश्वरूप, वृत्रासुर के वध से इन्द्र का तेज धर्म में तथा बल वायु में चला गया । इसीप्रकार अहल्या का शील खण्डित करने के कारण उसका सौन्दर्य भी अश्विनों में चला गया । द्वापर-युग में पुनः उन्हीं देवों के माध्यम से एक ही इन्द्र पांच रूपों में उत्पन्न हुआ '

ने इन्द्र-विजयी पुत्र की कामना की । पर्वत ने राजा की इच्छा पूर्ण की और कहा कि पुत्र इन्द्रजयी तो होगा परन्तु अल्पायु होगा । बाद में नारद का नाम लेने पर लम्बी आयु पायेगा ।

राजा संजय को सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र हुआ । परन्तु उसका जन्मरहस्य जानते ही द्वेषी इन्द्र ने वज्र को उसके विनाशार्थ प्रेरित किया । वज्र ने व्याघ्र रूप धारण कर बच्चे को खा डाला । राजा संजय ने देवर्षि नारद की शरण ली । तब देवर्षि नारद ने इन्द्र को प्रसन्न कर बच्चे को पुनर्जीवन दिया तथा उसका नाम रखा हिरण्यनाभ । नारद ने उसे एक सहस्त्र वर्ष की आयु दी ।[1.]

§53§ भौमासुर §नरकासुर§

वराहरूपधारी विष्णु द्वारा पृथ्वी का उद्धार करते समय विष्णु के संस्पर्श मात्र से पृथ्वी ने भौम नामक पुत्र प्राप्त किया था । भौमासुर को नरकासुर भी कहा जाता था । उसने घोर तपस्या द्वारा इन्द्रपद पाने का यत्न किया तथा देवमाता अदिति के अमृतस्त्रावी कुण्डलों को छीन लिया । तब इन्द्र, भगवान् विष्णु की शरण में गया । विष्णु ने सुदर्शन-चक्र से नरकासुर का वध कर डाला ।[2.]

अन्यान्य पुराणों में कथा का दूसरा रूप प्राप्त होता है । नरकासुर ने अनेक देवों का वध कर डाला था तथा राजाओं को मारकर उनकी सोलह हजार रूपवती कन्याओं को बन्दीगृह में डाल दिया था । इन्द्र की प्रार्थना एवं प्रेरणा से भगवान् कृष्ण ने नरकासुर को मार कर उन कन्याओं तथा बन्दी राजाओं का उद्धार किया । देवमाता के कुण्डल भी कृष्ण ने इन्द्र को दे दिये तथा सभी कन्याओं को , उनकी प्रीति देखकर , अपने अन्तःपुर में प्रवेश दे दिया - पणिग्रहण करके ।[3.]

§54§ नमुचि

नमुचि आततायी तथा यज्ञविध्वंसक था । वह अत्यन्त मायावी भी था । संत्रस्त ऋषियों ने सहायतार्थ इन्द्र की गुहार लगाई । इन्द्र तथा नमुचि के बीच भयानक

---

1. महा० शान्ति० अ० 29, शिवपुराण पूर्वार्ध 2=4, श्रीमद्भागवत० 1-5
2. महाभारत वनपर्व अध्याय 142
3. ब्रह्मपुराण अ० 202, विष्णु० 5-29

संघर्ष छिड़ा । नमुचि ने इन्द्र को जीतने के लिये सुन्दर कामिनियों को प्रकट किया परन्तु इन्द्र ने बिना उनके रूप-जाल में फंसे, उन्हें बांधकर सेना के पीछे भेज दिया । तदनन्तर वीर इन्द्र ने समुद्र के फेन से नमुचि का शीश काट डाला ।[1]

{55} जलन्धर

अवधूतरूपधारी शिव को पहचान न पाने के कारण एक बार इन्द्र ने विवाद छिड़ने पर, वज्र से उन प्रहार कर दिया । परन्तु शिव के कण्ठ से लगते ही वज्र भस्म हो गया और शिव "नीलकण्ठ" बन गया । देवगुरू बृहस्पति की कृपा से इन्द्र ने शिव को पहचानकर अपने अपराध की क्षमा मांगी ।

परन्तु शिव के नेत्र से क्रोधाग्नि तो प्रकट ही हो चुकी थी । अतः कृपालु शिव ने वह ज्वाला सागर-जल में फेंक दी जिससे जलन्धर का जन्म हुआ । उसने जलन्धरी को अपनी राजधानी बनाया । जब जलन्धर को सागरमंथन की घटना ज्ञात हुई तो उसने इन्द्र से अपने पिता की रत्नराशियों को वापस मांगा । इन्द्र ने रत्नों को लौटाने का निषेध किया । फलतः इन्द्र एवं जलन्धर के बीच भयावह युद्ध छिड़ गया ।[2]

{56} गुणकेशी

इन्द्र के सारथि मातलि की कन्या का नाम था गुणकेशी । मातलि ने उसका विवाह सुमुख से निश्चित किया जो वामन का दौहित्र तथा चिकुर नामक नाग का पुत्र था। विवाह तय हो जाने पर सुमुख के पितामह आर्यक ने मातलि को बताया कि नागद्वेषी गरूड ने चिकुर को मार डाला है और वह सुमुख को भी मासान्त तक मार डालेंगे । अतः ऐसे मृत्युमुखपतित वर से विवाह करना उचित नहीं ।

असहाय मातलि कन्या को लिये हुए भगवान् विष्णु तथा इन्द्र के पास पहुंचे विष्णु को कन्या पर बड़ी दया हो आई । उन्होंने इन्द्र को निर्देश दिया कि वह गुणकेशी को अमृतपान करा दें । परन्तु इन्द्र ने ऐसा न करके उसे दीर्घजीवन का वर प्रदान किया ।

---

1. महा० शल्यपर्व अ० 43 तथा शान्तिपर्व अ० 22
2. शिवपुराण पूर्वार्ध 5-10-22

अपने वैरी {नाग} का कल्याण करते देख गरुड को क्रोध हो आया । परन्तु विष्णु ने उनके ऊपर दायाँ हाथ रखकर उन्हें शान्त कर दिया ।[1]

{57} गाधि

महाराज कुशिक {कुशनाभ} सदैव वन में आभीरों के साथ रहते थे । वहीं उन्होंने पुत्रप्राप्ति के हेतु घोर तपश्चर्या की । एक सहस्त्र वर्ष की तपस्या के बाद इन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हें पुत्रप्राप्ति का वर दिया तथा स्वयं "गाधि" {कौशिक} के रूप में कुशिक-पुत्र बनकर अवतरित हुए ।[2]

{58} दशरथ

देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायतार्थ सूर्यवंशी नरेश महाराज दशरथ अपनी राजमहिषी कैकयी के साथ गये थे । दशरथ ने परम मायावी इन्द्र-वैरी शम्बर को युद्ध में परास्त किया था ।[3]

{59} ऋषभदेव

स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्पन्न नाभि के पुत्र थे ऋषभदेव । उनके शरीर पर भगवान् विष्णु के वज्र, अंकुश तथा चक्रादि का चिन्ह था । देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती का विवाह ऋषभदेव से हुआ जिससे उन्हें भरत आदि सौ पुत्र प्राप्त हुए ।

देवराज इन्द्र को अपने जामाता से निरन्तर भय बना रहता था कि कहीं वह इन्द्रपद न छीन लें । मारे ईर्ष्या के एक बार इन्द्र ने ऋषभ के राज्य में वर्षा नहीं की । ऋषभदेव ने इन्द्र की मूर्खता पर हंसते हुए, अपने योगबल से ही वर्षा करा दी । वह अजगर-वृत्ति से जीवनयापन करते थे ।[4]

---

1. महा० उद्योग० अ० 97, 103, 104 तथा 105
2. ब्रह्मपुराण 10-24 से 58 तक ।
3. वा० रामा० अयोध्या० सर्ग 9 तथा 10
4. श्रीमद्भागवत, पंचम स्कन्ध अ० 2 से 6 तक ।

§60§ दाशरथि राम

राम-रावण युद्ध को देखकर किन्नरों ने कहा कि यह युद्ध समरूप नहीं है क्योंकि दशग्रीव रावण तो रथासीन है जबकि राम पदाति ही हैं । यह सुनकर देवराज इन्द्र ने मातलि-सहित अपना रथ राम के लिये भेजा जिसमें इन्द्र का कवच , धनुष-बाण तथा शक्ति आदि आयुध रखेथे । इन्द्र-सारथि मातलि ने विनम्रतापूर्वक राम को रथ में बैठाया । युद्ध की समाप्ति के बाद राम ने इन्द्र का रथ स्वर्ग वापस भेज दिया ।[1]

§61§ दुर्वासा

इन्द्र मदिरापान कर उन्मत्त हो उठे थे तथा एकान्त में सुन्दरी रम्भा के साथ क्रीडा कर रहे थे । तभी महर्षि दुर्वासा आ पहुंचे । इन्द्र ने उनका भरपूर आतिथ्य किया । प्रसन्न दुर्वासा ने इन्द्र को आशीर्वाद-स्वरूप एक पारिजात-पुष्प दिया । इन्द्र ने यह पुष्प ऐरावत को दे दिया और ऐरावत ने उसे सूंड से मसल कर दूर फेंक दिया । यह दृश्य देख दुर्वासा की क्रोधाग्नि भड़की और उन्होंने इन्द्र को श्रीहीन हो जाने का शाप दे दिया । फलतः अमरावतीपुरी नष्ट हो गई और लक्ष्मी सागर में चली गई ।[2]

§62§ आत्रेय

अत्रि के पुत्र महर्षि आत्रेय इन्द्र-सभा का ऐश्वर्य देखकर उद्विग्न हो उठे । अपने तपोबल से उन्होंने त्वष्टा को बुलाकर वैसी ही इन्द्रपुरी का निर्माण कराया तथा स्वयं इन्द्रासन पर बैठे । परन्तु दानवों ने पृथ्वी पर इन्द्र को देखकर , उनपर आक्रमण कर दिया । आत्रेय सन्त्रस्त हो उठे । अब उन्हें अपने अपराध तथा मूर्खता का बोध हुआ । उन्होंने त्वष्टा से माया समेट लेने को कहा तथा देवों से क्षमा-प्रार्थना की ।[3]

§63§ कृपाचार्य

महर्षि गौतम के पुत्र थे शरद्वान् । उनकी घोर तपस्या से भयभीत हुए इन्द्र ने तपोभंग-हेतु जानपदी नामक अप्सरा को भेजा । जानपदी का अद्भुत रूप-लावण्य देखते ही

---

1. वा० रामा० युद्धकाण्ड सर्ग 103
2. देवीभागवत 9-40-41 , विष्णुपुराण प्रथम अंश, अ० 9
3. ब्रह्मपुराण अ० 140

शरद्वान् का वीर्य स्खलित होकर सरकण्डों पर गिरा तथा दो भागों में विभक्त हो गया । उस अमोघ वीर्य से ही कृपाचार्य तथा कृपी (कन्या) का जन्म हुआ । कृपी का विवाह प्रख्यात धनुर्धर द्रोणाचार्य से हुआ था । कृपी तथा द्रोण का ही पुत्र था अश्वत्थामा ।[1]

(64) और्व

भृगुपुत्र महर्षि उर्व ने बिना स्त्री-सहवास के ही , पुत्र की कामना से अपनी जंघा अग्नि को अर्पित कर दी जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें और्व नामक पुत्र प्राप्त हुआ । और्व महाविनाशकारी था । उसकी क्रोधाग्नि में सारा संसार भस्म होने लगा । तब प्रजापति ब्रह्मा के निवेदन पर उर्व ने और्व को जलमय हविष्य का भक्षण करने तथा जल में रहने की आज्ञा दे दी । और्व वाडवाग्नि के रूप में समुद्र का भक्षण करने लगा ।

कालान्तर में दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने महर्षि उर्व को प्रसन्न कर यह वर प्राप्त कर लिया कि "और्वाग्नि तुम्हारे जीवनकाल तक तुम्हारी तथा बाद में तुम्हारे पक्षधरों की रक्षा करेगी ।

जब देवासुर-संग्राम छिड़ा तो मय दानव ने और्वाग्नि की माया प्रकट की जिससे सारी देवसेना भस्म होने लगी । देवराज इन्द्र ने इस माया की शान्ति के लिये वरूण एवं चन्द्र का आवाहन किया । वरूण ने वर्षा से तथा चन्द्रमा ने हिम से मय की और्वाग्नि-माया को शान्त कर दिया ।

तब मय ने पार्वती माया प्रकट की । परन्तु विष्णु ने अग्नि एवं वायु को प्रेरित कर उसे भी नष्ट कर दिया । दानव पराजित होने लगे तो कालनेमि आगे बढ़ा युद्ध करने के लिये । परन्तु विष्णु ने उसका वध कर डाला । इसप्रकार इन्द्र को विजय प्राप्त हुई ।[2]

(65) गायत्री

पद्मपुराण में वर्णित एक सन्दर्भानुसार एक बार ब्रह्मा ने यज्ञानुष्ठान किया जिसमें पत्नी का उपस्थित रहना अनिवार्य था । परन्तु उस अवसर पर उनकी अर्धाङ्गिनी सावित्री कहीं अन्यत्र थीं । अतः उन्हें बुलाने के लिये ब्रह्मा ने इन्द्र को भेजा । परन्तु

---

1. महा० आदि० अ०-128
2. हरिवंशपुराण अ० 44, 45, 46

सावित्री ने इन्द्र से कहा कि "मेरी लक्ष्मी आदि सखियाँ नहीं हैं और मैं अकेली हूँ। उनके साथ ही आऊँगी।"

इन्द्र से यह बात जानकर ब्रह्मा ने यज्ञपूर्ति हेतु किसी अन्य स्त्री को पत्नीरूप में ग्रहण करने का निश्चय किया। यह निर्देश पाकर इन्द्र मृत्युलोक में आये तथा एक ग्वालिन को उठा ले गये। ब्रह्मा ने उसी के साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया तथा उसका नाम रखा - गायत्री। गायत्री के एक हाथ में मृगश्रृंग तथा दूसरे में कमलपुष्प है। इनके वस्त्र रक्तवर्ण के हैं। गले में मौक्तिकमाला, शीश पर मुकुट तथा कानों में कुण्डल विद्यमान हैं।

§66§ मतङ्ग

मतंग का जन्म एक ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। परन्तु वह अपने ब्राह्मण पिता की सन्तान नहीं था। वस्तुतः कामासक्त ब्राह्मणी ने एक नापित §चाण्डाल§ के सहवास से उसे प्राप्त किया था। ब्राह्मण-पत्नी के इस दुष्कर्म से अनभिज्ञ था।

बड़े होने पर, एक दिन ब्राह्मण ने पुत्र मतंग को किसी यजमान का यज्ञ करने भेजा। मतंग गर्दभ-युक्त रथ पर बैठकर चल पड़ा। परन्तु मार्ग में जब गधा थक कर चलने में असमर्थ हो गया तो उसने नृशंसतापूर्वक उसे मार-मार कर घायल कर दिया। यह क्रूरता देख उसकी माता गर्दभी ने समझाया - "पुत्र! शोक मत करो। क्योंकि यह चाण्डाल है, ब्राह्मण नहीं। इसीलिये इसके हृदय में दया नहीं है।"

गर्दभी की मर्मभिदी बात सुनकर मतंग घर लौट आये और माता-पिता से अपने जन्म की सचाई जानकर पश्चात्ताप-ग्रस्त होकर घोर तपश्चर्या में लग गए। देवराज इन्द्र मतंग की तपस्या से भयभीत हो उठे। उन्होंने प्रकट होकर मतंग को समस्त सांसारिक सुख-वैभव प्रदान करने का प्रस्ताव रखा।

परन्तु मतंग नें इन्द्र से "ब्राह्मणत्व" मांगा। इन्द्र ने असमर्थता प्रकट की और कहा "जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, जो पुण्यात्मा नहीं उन्हें ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हो सकता।" यह सुनकर मतंग ने शुद्ध मन से, एक पैर पर खड़े रहकर सौ वर्ष तक घोर

तप किया । अन्ततः इन्द्र ने उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसे ब्राह्मण-क्षत्रिय से भी श्रेष्ठ "छन्दोदेव" होने तथा स्त्रियों द्वारा पूजनीय बनने का वर प्रदान किया ।[1]

§67§ उत्तङ्क

उत्तंक महर्षि गौतम का शिष्य था । कालान्तर में गौतम ने अपनी पुत्री का विवाह भी उत्तंक से कर दिया । जब गुरूदक्षिणा देने की बात आई तो गौतम ने कहा - तुम्हारी गुरूपत्नी §अहल्या§ की इच्छापूर्ति ही तुम्हारी गुरूदक्षिणा है ।

गुरूपत्नी ने अयोध्यानरेश सौदास की पत्नी मदयन्ती के कुण्डल मांगे, जो कि पहनने वाले की इच्छानुसार परिवर्तित हो जाते थे । उत्तंक ने राजमहिषी से कुण्डलों को प्राप्त तो कर लिया परन्तु जब वह मार्ग में, मृगचर्म में बंधी कुण्डलों की पोटली बिल्ववृक्ष में लटका कर, भोजन करने लगा तभी नागराज तक्षक उसे चुरा कर भाग गया ।

उत्तंक ने सहायतार्थ इन्द्र का आवाहन किया । इन्द्र ने वज्र की नोक उत्तंक के दण्डकाष्ठ में आरोपित कर दिया । फलतः उत्तंक उसी दण्ड से पृथ्वी को विदारित कर नागलोक जा पहुंचा । इन्द्र की ही तरह अग्निदेव ने भी अश्वरूप धारण कर महातपस्वी उत्तंक की सहायता की । सारा नागलोक जब अग्नि की ऊष्मा में भस्म होने लगा तब तक्षक ने कुण्डल वापस कर दिये । इसप्रकार इन्द्र की सहायता से उत्तंक गुरूदक्षिणा अर्पित कर पाने में सफल हो सका ।[2]

§68§ हनुमान्

जन्म के अनन्तर ही भूख से पीड़ित हनुमान् बालसूर्य को लाल फल समझकर खाने दौड़े । वह अमावस्या का दिन था । उसी दिन राहु को भी सूर्य को ग्रसना था । परन्तु राहु ने अपने से भी बली हनुमान् को देखकर इन्द्र से निवेदन किया । क्रुद्ध इन्द्र ने वज्र के प्रहार से हनुमान् की ठोढ़ी §दाढ़ी§ ही तोड़ दी । अपने पुत्र की इस दुर्दशा से वायु ने जब अपनी गति ही अवरूद्ध कर दी तब सारा ब्रह्माण्ड व्यग्र हो उठा । अंततः प्रजापति ब्रह्मा ने अपने अमृत-स्पर्श से वायुपुत्र हनुमान् को जीवनदान दिया । समस्त

---

1. महाभारत अनु० अ० 27
2. महाभारत आदि० अ० 3 तथा आश्वमेधिक पर्व अ० 52 से 58 तक ।

देवों ने भी आशीर्वाद दिये । देवराज इन्द्र ने स्वर्णकमल की माला देकर कहा कि आज से यह शिशु हनुमान् कहा जायेगा ।[1]

(69) मेघनाद (इन्द्रजित्)

लंकापति रावण का ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद था जिसने रामभक्त महाबली हनुमान् को भी अपने इन्द्रजाल से बांध लिया था । रावण की दिग्विजय के अवसर पर उसने देवराज इन्द्र को भी जीत लिया था, फलतः उसे इन्द्रजित् कहा गया । राम-रावण युद्ध के अवसर पर उसने अदृश्य होकर रात्रि में कपिसेना पर आक्रमण किया तथा राम-लक्ष्मण को भी बाणवर्षा से मूर्च्छित कर दिया था । बाद में विभीषण ने विशल्या नामक औषधि के प्रयोग से उन्हें पुनः चेतन बनाया । कुबेर की आज्ञा से श्वेतपर्वत से गुह्यक-जल लाकर वानरों को दिया जिससे नेत्र धोते ही वे सभी पुनः चैतन्य हो उठे ।

इन्द्रजित् का वध कुमार लक्ष्मण ने किया ।[2]

(70) माण्डव्य

वृत्रासुर का वध करने के अनन्तर ब्रह्महत्या साकार रूप से इन्द्र का पीछा करने लगी । भयभीत इन्द्र महासागर (अथवा मानसरोवर) में कमलनाल के भीतर जा छिपा । परन्तु ब्रह्महत्या भी सरोवर के तट पर इन्द्र की प्रतीक्षा करने लगी । तभी ब्रह्मा ने देवताओं से इन्द्र की ब्रह्महत्या को निर्दिष्ट स्थान देने तथा इन्द्र को गौतमी नदी में स्नान कर पापमुक्त होने की बात कही । देवों ने ब्रह्मा की आज्ञा का पालन किया ।

परन्तु इन्द्र के दुराचार से क्रुद्ध महर्षि गौतम ने कहा कि "यदि देवों ने गौतमी-स्नात इन्द्र का अभिषेक किया तो वह सबको भस्मसात् कर देंगे ।" भयभीत देवगण महर्षि माण्डव्य की शरण में गये । माण्डव्य ने भी कहा कि जहां कहीं भी इन्द्र का अभिषेक होगा, विघ्न पैदा होंगे । देवों की प्रार्थना पर महर्षि माण्डव्य ने विघ्न-बाधाओं का शमन किया । तब ब्रह्मा ने कमण्डलु के जल से पापमुक्त इन्द्र का अभिषेक किया ।

---

1. वा० रामा० उत्तरकाण्ड अ० 35 श्लोक 14-34
2. महाभारत वनपर्व अ० 288, 289

पुण्या नदी के रूप में कमण्डलु का वह जल गौतमी §गोदावरी§ से जा मिला । इन्द्राभिषेक का वह स्थान ही कालान्तर में "इन्द्रतीर्थ" के रूप में विख्यात हुआ ।[1]

§72§ सगर

सूर्यवंशी नरेश महाराज सगर ने जब सौंवा अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया तब पदच्युति से भयभीत इन्द्र ने उनके यज्ञ का घोड़ा चुराकर उसे महामुनि कपिल के आश्रम में बांध दिया । सगर के 60 हजार पुत्र यज्ञाश्व को खोजते-खोजते कपिलाश्रम पहुंच गये तथा उन्हें चोर समझकर पीड़ित करने लगे । परन्तु कपिल की समाधि टूटते ही वे सब उनकी नेत्राग्नि में जलकर राख हो गये । उनकी मुक्ति के लिये ही सगरवंशी भगीरथ देवनदी गंगा को कपिलाश्रम ले आये ।[2]

§72§ पक्षिराज गरूड

अपनी माता विनता को सपत्नी कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिये विनतानन्दन गरूड ने स्वर्गलोक पर आक्रमण कर अमृतघट छीन लिया । इन्द्र के साथ उनका भीषण युद्ध हुआ जिसमें अमृत-घट से छलकी अमृत की बूंदें पृथ्वी पर गिरीं । जहां-जहां ये बूंदें गिरीं वहीं प्रति 12वें वर्ष महाकुम्भ पर्व होता है ।

क्रुद्ध इन्द्र ने गरूड पर वज्र से प्रहार किया तथापि बली वैनतेय का कुछ नहीं बिगड़ा । उन्होंने महर्षि दधीचि के सम्मान को ध्यान में रखकर , इन्द्र के बल की मखौल उड़ाते हुए , मात्र एक नन्हा सा पंखा नीचे गिरा दिया ।[3]

अब विस्तार-भय से यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है । वस्तुतः ऐसा कोई पौराणिक इतिवृत्त है ही नहीं जिसमें यथाकथंचित् इन्द्र का सहकार न हो । रावण के साथ इन्द्र का संघर्ष, मेघनाद द्वारा इन्द्र की पराजय , रविभक्षी हनुमान् की हनु §दाढ़ी§ पर इन्द्र का वज्रप्रहार, अपाला पर इन्द्र की कृपा, इन्द्र द्वारा विश्वरूप का वध आदि पौराणिक सन्दर्भ भी कुछ कम महत्त्व के नहीं । परन्तु अब इन्हें छोड़कर कुछ अत्यन्त प्रमुख पौराणिक इन्द्रोपाख्यानों की समीक्षा की जा रही है ।

---

1. ब्रह्मपुराण अ0 96
2. श्रीमद्भागवत, पंचम स्कन्ध ।
3. महाभारत आदिपर्व ।

1. इन्द्र एवं नहुष

नहुष चन्द्रवंशी सम्राट् आयु का पुत्र तथा ययाति का पिता था । इन्द्र द्वारा त्वष्टा के पुत्र तथा अपने पुरोहित त्रिशिरूप का वध कर डालने पर, जब इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप से कलंकित हो उठा और त्वष्टा द्वारा उत्पादित वृत्र (वृत्रासुर) से आत्मत्राण पाने के लिये मानसरोवर में कमलनाल के भीतर जा छिपा तब इन्द्र के आसन को रिक्त देखकर देवों ने किसी इन्द्र-सरीखे प्रतापी मर्त्य-नरेश को ही इन्द्र बनाने का संकल्प किया । चन्द्रवंशी सम्राट् नहुष देवताओं को इस पद के सर्वथा उपयुक्त प्रतीत हुए । फलतः देवों ने नहुष को इन्द्र-पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

परन्तु इन्द्र-पद पाते ही नहुष का विवेक नष्ट हो गया । उनकी दृष्टि परम रूपवती पतिव्रता इन्द्राणी (शची) के मादक सौन्दर्य पर पड़ी । नहुष ने कामासक्त होकर शची को यह सन्देश भेजा कि चूंकि अब वह इन्द्रपद पर अभिषिक्त है अतः इन्द्राणी उन्हें इन्द्र के ही समान स्वीकार करे ।

नहुष के इस पापमय प्रस्ताव को सुनते ही पतिव्रता शची भयभीत हो उठी और देवपुरोहित महर्षि बृहस्पति की शरण में पहुंची । बृहस्पति को भी नहुष की पशुता से द्वेष हो गया । उन्होंने शची को मंत्रणा दी कि तुम नहुष को सप्तर्षियों की पालकी पर बैठ कर अपने मन्दिर में आने का आमंत्रण दो । इससे वह स्वयं विनष्ट हो जायेगा । शची ने वैसा ही किया ।

कामासक्त नहुष विवेकहीन तो था ही । शची का प्रस्ताव सुनते ही उसने बिना ऋषियों की महिमा-गरिमा को सोचे-समझे, उन्हें पालकी उठाने का आदेश दिया । सप्तर्षियों ने नहुष की आज्ञा का पालन किया । वे उसे पालकी में बैठा, अनभ्यास के कारण मन्द-मन्द गति से लेकर आगे बढ़े । परन्तु लम्पट नहुष शची से मिलने की त्वरा में उन्हें फटकारता रहा बार-बार -'सर्प-सर्प' अर्थात् और तेज चलो ।

नहुष का यह चारित्रिक पतन महर्षि अगस्त्य से सहा नहीं गया । वह अपना क्रोध संभाल नहीं पाये और शाप दे बैठे - "मूढ नराधम ! तू जो आर्जवशील ऋषियों के कन्धों पर सवार होकर उन्हें "सर्प-सर्प" कह रहा है तो अब तू सर्प ही होगा ।"

शापग्रस्त होते ही नहुष को अपने पाप-कर्म का बोध हुआ । वह सर्प होकर औंधे मुंह नीचे की ओर गिरा । अनन्त काल तक वह अजगर बनकर यमुना-तट पर पड़ा रहा । द्वापर-युग में नन्द का पैर पकड़ने पर भगवान् कृष्ण ने उसका वध करके उसे सर्पयोनि से मुक्त किया । इसप्रकार इन्द्राणी की शीलरक्षा हो सकी ।[1]

2. इन्द्र एवं अहल्या

इन्द्र एवं अहल्या की कथा के विविध रूप वेदों से लेकर पुराणों एवं अनुवर्ती काव्यों तक मिलते हैं । परन्तु उसका सर्वाधिक प्रामाणिक रूप वाल्मीकि-रामायण में उपलब्ध होता है ।[2]

वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में अहल्या का प्रसंग महामुनि विश्वामित्र द्वारा राम एवं लक्ष्मण को बताया गया है । अहल्या महातपोधनी गौतम की भार्या थी । देवराज इन्द्र ने उसके अप्रतिम रूप-लावण्य के वशीभूत होकर , छलपूर्वक उसके साथ रमण किया । वा0 रा0 के प्रामाण्यानुसार गौतम का रूप धारण करने पर भी पतिव्रता अहल्या ने उसको पहचान लिया तथापि देवता के साथ रतिसुख प्राप्त करने के कुतूहलवश उसने इन्द्र का तिरस्कार नहीं किया ।

इस व्यभिचार को प्रत्यक्ष देखते ही क्रोधाविष्ट गौतम ने इन्द्र को सहस्त्रभग हो जाने का शाप दे दिया । गौतम के शाप से इन्द्र के वृषण(अण्डकोष) भी तत्काल च्युत हो पड़े । अहल्या को भी उन्होंने हजारों वर्षों तक वायुमात्र का भक्षण कर राख और पत्थर में पड़ी रहने का शाप दिया ।

क्रोध शान्त होने पर गौतम ने दोनों पर अनुग्रह किया । उनके वरप्रभाव से इन्द्र के सहस्त्र भग नेत्रों के रूप में परिवर्तित हो गये । मेष का वृषण प्रत्यारोपित करने से उसकी षण्ढता भी समाप्त हो गई । अहल्या के लिये उन्होंने कहा कि "त्रेतायुग में राम के दर्शनों से तू पुनः निष्कलंक एवं पापमुक्त होगी ।"

---

1. श्रीमद्भागवत पुराण । महा० आदि० अ० 75.
2. सविस्तर द्रष्टव्य : आनन्दरामायण सारकाण्ड सर्ग 3, अध्यात्म0 बालकाण्ड अ05 नृसिंहपुराण अ0 47, स्कन्दपुराण रेवाखण्ड (अहल्यातीर्थ) ब्रह्मपुराण अ0 18, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ0 56, लिङ्ग पुराण अ0 29, विष्णु0 चतुर्थ अंश अ0 17, ब्रह्मवैवर्त0 श्रीकृष्णजन्मखण्ड अ0 62, देवीभागवत 6-8 तथा महाभारत शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) अ0 342

रामायण के उत्तरकाण्ड में (सर्ग 30 श्लोक 21-35) यही कथा पुनः वर्णित की गई है, तथापि परिवर्तित रूप में। अन्यान्य पुराणों में वर्णित अहल्या के उपाख्यान में भी छोटे-मोटे अनेक परिवर्तन किये गये हैं।[1] गौतम के शाप से अहल्या के पाषाण बनने की कल्पना जानकीहरण, जानकीपरिणय तथा पृथ्वीराजविजय में मिलती है। अन्यान्य ग्रंथों में उसके भस्मशायिनी होने अथवा अन्धतामिस्त्र नरकगामिनी होने का भी प्रसंग मिलता है। आनन्द० में अहल्या के नदी बनने का सन्दर्भ मिलता है -

नदीरूपा जनस्थानेऽहल्या गौतमशापतः।
रामेण भ्रमताऽरण्ये त्वाङ्घ्रिस्पर्शात्समुद्धृता ॥
- सारकाण्ड सर्ग 3-21

पद्मपुराण तथा अन्यान्य पुराणों में भी वाल्मीकि रामायण की ही कथा का समर्थन मिलता है, विशेषकर अहल्या तथा इन्द्र के शाप-सन्दर्भ में। महर्षि गौतम ने कहा -

यत्त्वया चेदृशं कर्म भगार्थं छलसाहसम्
कृतं तस्मात्तवाङ्गेषु सहस्रभगमुत्तमम् ॥ 32
भवत्विह तु पापिष्ठ लिङ्गं ते निपतिष्यति ॥ 33
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
परेणाभिगतासि त्वममेध्या पापचारिणी।
अस्थिचर्मसमाविष्टा निर्मांसा नखवर्जिता।
चिरं चैकामपि त्वां पश्यन्तु जनाः स्त्रियः ॥ 37
- पद्म० सृष्टिखण्ड अ० 56

अहल्योपाख्यान का मूलरूप ऋग्वेद 7-86-7 तथा अथर्ववेद 11-2-17 में उपलब्ध होता है।[2] परन्तु स्वामी दयानन्द तथा अन्यान्य आर्यसमाजी विद्वान् इन मंत्रों की अहल्यापरक व्याख्या को स्वीकार नहीं करते अपनी इतिहासविरोधी दृष्टि के कारण।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्यः इन्द्र-अहल्या उपाख्यान। वास्तविक स्वरूप और महर्षि दयानन्द। डॉ० शिवपूजनसिंह कुशवाह (विश्वज्योति अप्रैल-मई 83 ई० अंक)

2. अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥ ऋग्वेद
सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम्।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ अथर्व०

3. इन्द्र एवं श्रीकृष्ण

इन्द्र एवं श्रीकृष्ण का सन्दर्भ मुख्यत: श्रीमद्‌भागवत (दशम स्कन्ध अ0 24) हरिवंशपुराण (विष्णुपर्व अ0 18 तथा 19) तथा विष्णु0 (पंचम अंश अ0 10) में वर्णित हुआ है । इन तीनों पुराणों में मुख्यत: दो उपाख्यान वर्णित हैं -

1. कृष्ण द्वारा इन्द्रमहोत्सव का तिरस्कार तथा गोवर्धन पूजा का आयोजन । इन्द्र कृष्ण-संघर्ष तथा इन्द्र का पराभव ।
2. सत्यभामा की प्रसन्नता के लिये कृष्ण द्वारा पारिजात का हरण । इन्द्र के साथ कृष्ण का युद्ध तथा बाद में मैत्री ।

ये दोनो प्रसंग मूलग्रंथों से ही उद्धृत कर संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

श्रीमद्‌भागवत में इन्द्र-प्रसङ्ग (इन्द्र एवं भगवान् कृष्ण[1])

श्रीमद्‌भागवत के दशम-स्कन्ध अ0 24 में ऋग्वैदिक काल से चले आ रहे "इन्द्र यज्ञ" के बारे में जब श्रीकृष्ण ने तैयारी होते देखा, तब एक दिन वृन्दावन के गोपों में श्रेष्ठ नन्दबाबा से इन्द्रयज्ञ किये जाने का कारण पूछा कि - नन्द बाबा ! आखिर कौन सी ऐसी बात है जो आप लोग इन्द्र का इतना बड़ा उत्सव करते हैं ? तब वे बोले-बेटा ! भगवान् इन्द्र वर्षा के देवता हैं और ये मेघ उन्हीं के अपने रूप हैं । वे समस्त प्राणियों को तृप्त करते हैं । इसी वर्षा-जल से नदी-नद और सागरों में जल रहता है । इसीसे अन्न पैदा होता है । इसी वर्षा-जल से पेड़-पौधे हरे-भरे रहते हैं और इन्हीं सबसे मनुष्य जीवन-यापन कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जैसे चतु: पुरूषार्थों को प्राप्त करता है । इसीलिए इन्द्र देवता की पूजा परम्परानुसार होती चली आ रही है । जो मनुष्य किसी प्रमाद में आकर ऐसे सहज उत्सव को छोड़ देते हैं उसका कभी मङ्गल नहीं होता ।

यह बात सुनकर कृष्ण बोले - पिता जी, प्राणी अपने कर्मानुसार ही जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है और कर्मानुसार ही उसे सुख-दु:ख, भय और मङ्गल के निमित्तों की प्राप्ति होती है । तब फिर कोई ईश्वर किसी को अतिरिक्त क्या देगा ? क्योंकि

---

1. द्रष्टव्य : हरिवंशपुराण , विष्णुपर्व अ0 18 तथा 19

कर्म न करने वालों पर उसका प्रभुत्व नहीं चलता । इसलिए जब हम अपने-अपने कर्मों का ही फल भोग रहे हैं तो किसी इन्द्र की पूजा करने की क्या आवश्यकता है ? इसप्रकार कर्म-स्वभाव और पूर्व सञ्चित संस्कार के अनुसार ही जीवन चलता है । इसी प्रकार अनेक प्रामाणिक बातें श्रीकृष्ण ने कह कर , वृन्दावन के गोपों के त्याग-तपस्या और प्रेम का वर्णन करते हुए उस गोवर्धन की पूजा करने को कहा जिसके आश्रय में गोप और गोपियाँ तथा उनकी गायें-बछड़े फल-फूल रहे थे । इसप्रकार कृष्ण के कहने पर इन्द्र-यज्ञ की ही सामग्री से गोवर्धन की पूजा की गई । गायों बछड़ों को हरी-हरी घासें खिलायी गई । गोपियों ने सज-धजकर नाच-गान किया और कृष्ण की प्रेरणा से गिरिराज मूर्तिमान् हो उठे तो गोपों के समर्पण और विश्वास की सीमा ही न रही। उन्होंने ब्राह्मणों, वृद्ध गोपों और गायों की यथाविध पूजा की और व्रज लौट आये ।

जब इन्द्र को इस बात का पता चला तब उन्हे नन्दबाबा आदि गोपों पर बड़ा क्रोध आया और अपनी प्रतिष्ठा को जर्जर दीवार की तरह गिरते देख उनसे रहा नहीं गया और उन्होंने अविलम्ब ही प्रलयकारी संवर्तक-मेघों को बुलाया तथा सम्पूर्ण व्रज को वर्षा एवं तूफान से बहाकर तहस-नहस करने का आदेश दिया । इन्द्र का आदेश पाते ही आज्ञाकारी संवर्तक-मेघों ने ऐसी मूसलाधार वर्षा करना प्रारम्भ किया कि व्रज की गायें , गोप और बछड़े जीवन को छोड़ने लगे । मेघों की गर्जना, बिजलियों की चमक से ऐसा लगा कि प्रलय हो जायेगी । आत्मविह्वल गोपों को जब व्रज की रक्षा का उपाय नहीं सूझा तब वे सब मिलकर कृष्ण की दुहाई देने लगे और भगवान् कृष्ण , जो इन्द्र के मानमर्दन का बीज अपने हृदय में अंकुरित कर चुके थे , दयाभाव से उठे और सम्पूर्ण बल के साथ गोवर्धन-पर्वत को अपनी कनिष्ठिका पर सात दिन तक लगातार धारण कर सम्पूर्ण व्रज को वैसे ही ढंक लिया जैसे छाता आदमी को ढंक लेता है । ऐसा हो जाने पर संवर्तकों का भी मानभङ्ग हो गया और वे निराश होकर इन्द्र के पास लौट गये । इन्द्र बहुत चिन्तित हुए । क्योंकि अचानक उनके सम्मान में एक कमी आयी थी । इधर कृष्ण इस विपत्ति से गोपों को बचाकर बड़ों के आशीर्वाद , वयस्कों के प्रेम और अन्यों के आदर को भरपूर प्राप्त कर रहे थे । कोई उन्हें हृदय से लगा रहा था कोई उन्हें चूम रहा था। अद्भुत दृश्य था ।

इस घटना के बाद नन्दबाबा ने कृष्ण के दिव्य कर्मों - पूतनावध, उलूखल लेकर भागना, कालिया नाग का विनाश, धेनुकासुर-प्रलम्बासुर आदि का बध जैसी विभिन्न घटनाओं को बताया। तब इंद्र-लोक से इन्द्र साक्षात् भगवान् विष्णु की लीला समझकर, कृष्ण के पास आये और सूर्य के समान तेजस्वी मुकुट से उनके चरणों का स्पर्श किया और विभिन्न स्तोत्रों से कृष्ण की पूजा कर उन्हें गौ और गोकुल के स्वामी के रूप में 'गोविन्द' नाम से अभिषिक्त किया। सारे गन्धर्व और देवता प्रसन्न हो गये, अप्सरायें मारे खुशी से नाचने लगीं। चारों ओर सम्पन्नता आ गई।

विष्णु-पुराण में इन्द्र-प्रसङ्ग

विष्णु-पुराण अध्याय 10 पञ्चम अंशमें शरद्वर्णन के प्रसङ्ग में, जब श्री कृष्ण ने व्रजमण्डल में व्रज-वासियों को इन्द्रोत्सव मनाने की तैयारी करते देखा तब कुतूहलवश अपने बूढ़ों से पूछा। तब नन्दगोप बोले - मेघ और जल का स्वामी देवराज इन्द्र है।[1] उसकी प्रेरणा से ही मेघगण जलरूप रस की वर्षा करते हैं। हम और अन्य समस्त देहधारी उस वर्षा से अन्न को ही वर्तते हैं तथा उसीको उपयोग में लाते हुए देवताओं को भी तृप्त करते हैं। वर्षा की बढ़ी हुई घास से ही गौयें पुष्ट और तुष्ट होकर वत्सवती एवं दूध देने वाली होती हैं। जिस भूमि पर बरसने वाले मेघ दिखायी देते हैं उस पर कभी अन्न और तृण का अभाव नहीं होता और न कभी वहां के लोग भूखे ही रहते दिखायी देते हैं। यह पर्जन्यदेव (इन्द्र) पृथिवी के जल को सूर्य किरणों द्वारा खींचकर सम्पूर्ण प्राणियों की वृद्धि के लिए उसे मेघों द्वारा पृथिवी पर बरसा देते हैं।[2] इसलिए वर्षा ऋतु में समस्त राजा लोग, हम और अन्य मनुष्यगण देवराज इन्द्र की, यज्ञों द्वारा प्रसन्नता-पूर्वक पूजा किया करते हैं।

इसप्रकार इन्द्र की पूजा का कारण सुनकर दामोदर श्रीकृष्ण, देवराज को क्रोधित करने के लिए ही इसप्रकार कहने लगे।

---

1. द्रष्टव्य विष्णुपुराण 5/10/19
   मेघानां पयसां चेशो देवराजश्शतक्रतुः।
   तेन सञ्चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बुमयं रसम्॥ 19
2. भौममेतत्पयो दुग्धं गोभिः सूर्यस्य वारिदैः।
   पर्जन्यस्सर्वलोकस्योद्भवाय भुवि वर्षति॥ 23

हे तात ! हम न तो कृषक हैं और न व्यापारी, हमारी देवता तो गौएं ही हैं, क्योंकि हम लोग वनचर हैं। आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) त्रयी (कर्मकाण्ड) दण्डनीति और वार्ता - ये चार विद्यायें हैं, इनमेंसे केवल वार्ता के विवरण सुनो। हे महाभाग! वार्ता नाम की यह एक विद्या ही कृषि, वाणिज्य और पशुपालन इन तीन वृत्तियों की आश्रयभूता है। वार्ता के इन तीनों भेदों मेंसे कृषि किसानों की, वाणिज्य व्यापारियों की और गोपालन हम लोगों की उत्तम वृत्ति है। जो व्यक्ति जिस विद्या से युक्त है उसकी वही इष्ट देवता है, वही पूजा-अर्चा के योग्य है और वही परम उपकारिणी है। जो पुरूष एक व्यक्ति से फल-लाभ करके अन्य की पूजा करता है उसका इहलोक अथवा परलोक, कहीं भी शुभ नहीं होता।

खेतों के अन्त में सीमा है, सीमा के अन्त में वन हैं और वनों के अन्त में समस्त पर्वत हैं, वे पर्वत ही हमारी परमगति हैं। हम लोग न तो किवाड़ तथा भित्ति के अन्दर रहने वाले हैं और न निश्चित गृह अथवा खेतवाले किसान ही हैं। हम लोग तो चक्रधारी मुनियों की भांति समस्त जनसमुदाय में सुखी हैं।

सुना जाता है कि इस वन के पर्वतगण कामरूपी (इच्छानुसार रूप धारण करने वाले) हैं वे मनोवाञ्छित रूप धारण करके अपने-अपने शिखरों पर विहार किया करते हैं। जब कभी वनवासीगण इन गिरिदेवों को किसी तरह की बाधा पहुंचाते हैं तो वे सिंहादिरूप धारण कर उन्हें मार डालते हैं। अतः आज से इन्द्र-यज्ञ के स्थान पर गिरियज्ञ होगा। हमें इन्द्र से क्या प्रयोजन ? हमारी देवता तो गौएं और पर्वत ही हैं। ब्राह्मण लोग मंत्र-यज्ञ तथा कृषकगण सीरयज्ञ (हल का पूजन) करते हैं। अतः पर्वत और वनों में रहने वाले हम लोगों को गिरियज्ञ और गोयज्ञ करने चाहिए। अतएव आप लोग विधि पूर्वक मेध्य पशुओं की बलि देकर विविध सामग्रियों से गोवर्धनपर्वत की पूजा करें। आज सम्पूर्ण व्रज का दूध एकत्रित कर लो और उससे ब्राह्मणों तथा अन्यान्य याचकों को भोजन कराओ। इस विषय में और अधिक सोच-विचार मत करो। गोवर्धन की पूजा होम और ब्राह्मण-भोजन समाप्त होने पर शरद-ऋतु के पुष्पों से सजे हुए मस्तक वाली गौएं गिरिराज की प्रदक्षिणा करें। हे गोपगण ! आप लोग यदि प्रीति-पूर्वक मेरी इस सम्मति के अनुसार कार्य करेंगे तो इससे गौओं को, गिरिराज को और मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी।

कृष्ण के इन वाक्यों को सुनकर सब लोगों ने इन्द्र की पूजा का त्याग कर गिरिराज गोवर्धन की पूजा किया , ब्राह्मणों को भोजन कराया , साँड़ों ने गिरिराज की परिक्रमा की और अन्त में कृष्ण ने स्वयं को गिरिराज के रूप में प्रकट किया जिससे व्रजवासियों की श्रद्धा गोवर्धन के प्रति और बढ़ गई। किन्तु अपने होने वाले सन्मान को न पाकर इन्द्र क्रोधान्ध हो गये और तूफानी संवर्तक मेघों को बुलाकर सम्पूर्ण व्रज को जलधारा में बहा देने को कहा । मेघों ने ठीक वैसा ही किया जिससे गायें-गोप सब कांपने लगे और विवश होकर प्राण छोड़ने लगे और सब कृष्ण से 'रक्षा करो, रक्षा करो' ऐसा कहने लगे । तब श्रीधर ने विचारा और इन्द्र का मान भंग करने के लिए गोवर्धन पर्वत को ही उखाड़कर अपने एक हाथ में छत्र के समान धारण कर लिया। अब सारे गोप-गौएं सब उसके नीचे सुखपूर्वक आकर रहने लगे ।

इसप्रकार सात दिन तक लगातार घोर आंधी-वर्षा के पश्चात् भी व्रज का जब कुछ नहीं बिगड़ा तब इन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा को व्यर्थ मानकर मेघों को बरसने से रोक दिया और कृष्ण ने भी पर्वत को पुनः उखाड़े गये स्थान पर रख दिया ।'

इसप्रकार गोवर्धन धारण और गोकुल की रक्षा हो जाने पर पाकशासन (इन्द्र) को कृष्ण का दर्शन करने की इच्छा हुई । अतः शत्रुजित् देवराज गजराज ऐरावत पर चढ़कर गोवर्धन पर्वत पर आये और वहां सम्पूर्ण जगत् के रक्षक गोपवेषधारी महाबलवान् श्रीकृष्ण चन्द्र को ग्वालबालों के साथ गौएं चराते देखा कि पक्षिश्रेष्ठ गरूड़ अदृश्यभाव से उनके ऊपर रहकर अपने पङ्खों से उनकी छाया कर रहे हैं। तब वे ऐरावत से उतर पड़े और एकान्त में श्रीमधुसूदन की ओर प्रीतिपूर्वक दृष्टि फैलाते हुए मुस्करा कर बोले -

हे श्री कृष्णचन्द्र ! मैं जिसलिए आपके पास आया हूँ , वह सुनिये - हे महाबाहो ! आप इसे अन्यथा न समझें । हे अखिलाधार परमेश्वर ! आपने पृथिवी का भार उतारने के लिए ही पृथिवी पर अवतार लिया है । यज्ञ-भङ्ग से विरोध मानकर ही मैंने गोकुल को नष्ट करने के लिए महामेघों को आज्ञा दी थी , उन्होंने ही यह संहार मचाया था । किन्तु आपने पर्वत को उखाड़कर गौओं को बचा लिया । हे वीर! आपके इस अद्भुत कर्म से मैं अतिप्रसन्न हूँ । हे कृष्ण! आपने जो एक हाथ पर गोवर्धन धारण किया है इससे मैं देवताओं का प्रयोजन सिद्ध हुआ समझता हूँ । हे कृष्ण! आपने गौओं की रक्षा की

है अतः उनके वाक्यानुसार ही मैं आपका उपेन्द्र पद पर अभिषेक करूंगा तथा आप गौवों के स्वामी होने के नाते 'गोविन्द' होंगे । इसप्रकार ढेर सारी बातें कर इन्द्र कृष्ण-चन्द्र का आलिङ्गन कर ऐरावत पर चढ़कर स्वर्गलोक चले आये ।

पारिजातहरणोपाख्यान ﴾विष्णु० पंचमांश अ० 30﴿

विष्णुपुराण में पारिजात-हरण का प्रसंग तब आता है जब किसी समय भगवान् चक्रपाणि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए वराह रूप धारण किये थे। उसी समय उनके स्पर्श से पृथ्वी को नरकासुर नामक पुत्र हुआ था जो बहुत प्रतापी था और प्राग्ज्योतिषपुर का स्वामी बनकर अनेक राजाओं की कन्याओं , वरूण के जल बरसाने वाले छत्र , अदिति के अमृतस्त्रावी दो कुण्डल , मन्दराचल का मणिपर्वत नामक शिखर हरण कर, इन्द्र के वाहन भूत ऐरावत पर दृष्टि गड़ाये था, जिससे परेशान होकर इन्द्र ने कृष्ण से नरकासुर के वध की प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार कर उसका वध किया। तब पृथ्वी ने अदिति के दोनो कुण्डल भगवान् को प्रदान किये और भगवान् कृष्णनेउसके अन्तःपुर से 16 हजार एक सौ कन्याओं को मुक्त कराकर, चारदांत वाले छः हजार हाथी, इक्कीस लाख कम्बोजदेशीय घोड़े द्वारकापुरी पहुंचवा दिये । इसके बाद वरूण का छत्र , अदिति का कुण्डल, मन्दराचल का शिखर सब गरूड़ पर रखकर सत्यभामा के साथ स्वर्गलोक को गये । वहां स्वर्ग के द्वार पर पहुंचकर अपना शंख बजाया , तब श्री जनार्दन का देवमाता अदिति ने विधिवत् सत्कार और अर्चना की और उन्हें सम्पूर्ण जड़-चेतन का स्वामी बताया । भगवान् भी देवमाता के द्वारा पूजा पाकर बोले - हे देवि ! तुम तो हमारी माता हो , तुम प्रसन्न होकर हमें वरदायिनी होवो । तब अदिति ने उन्हें सम्पूर्ण मर्त्यलोक में सुरासुरों पर विजयी होने का और सत्यभामा को सदा स्थिर-यौवन का आशीर्वाद दिया ।

तदनन्तर माता अदिति की आज्ञा से देवराज ने श्रीकृष्ण-चन्द्र का आदर-सत्कार किया । किन्तु कल्प-वृक्ष के पुष्पों से अलंकृत इन्द्राणी ने सत्यभामा को मानुषी समझकर वे पुष्प नहीं दिये । तदनन्तर श्रीकृष्ण ने देवताओं के नन्दनवन को देखा। वहां सुगन्ध से पूर्ण मञ्जरी-पुञ्जधारी , नित्याह्लादकारी ताम्रवर्ण वाले बाल पत्तों से सुशोभित अमृतमंथन के समय प्रकट हुआ, सुनहरी छाल वालापारिजात-वृक्ष था । सत्यभामा ने उसे देखते ही कृष्ण को अपनी प्रेमभरी चितवन से देखा और अपने प्रेम को इस शर्त पर ले आकर खड़ा कर दिया कि यदि आप मुझ से प्रेम करते हैं तो इस पारिजात को, जो इन्द्राणी

केवल इन्द्र के बाहुबल के मद में अपना मान बैठी है, द्वारकापुरी ले चलिये । मैं इसके फूलों को अपनी वेणी में गूंथकर सपत्नियों में सर्वोच्च होना चाहती हूँ । सत्यभामा के ऐसा कहने पर कृष्ण ने सत्यभामा का समर्थन किया और उन्होंने मालियों को ललकार कर पारिजात को ले लिया । इसका समाचार जब इन्द्राणी को मिला तब उनके उकसाने पर इन्द्रनेकृष्ण के पूर्व उपकारों को भूलकर, कृष्ण पर वज्र उठा लिया|भयंकर युद्ध हुआ और इन्द्र हार गये|तब सत्यभामा ने पारिजात को लौटा दिया और कहा कि इन्द्राणी ने मुझे मानवी समझकर कल्पवृक्ष के पुष्प नहीं दिये थे अतः उसके मानमर्दन के लिए ही मैंने ऐसा किया । इन्द्र ने भी अपनी पराजय में कोई संकोच नहीं किया और कहा कि - हे प्रभो ! आप ही संसार की उत्पत्ति, पालन और विनाश के कर्ता हैं फिर आप से पराजित होने में कैसी लज्जा, कैसा अपमान ? इन्द्र के इस प्रकार समर्पण से कृष्ण भी अति विनम्र होकर बोले - हे जगत्पते, आप इन्द्र हैं और हम मरणधर्मा मनुष्य हैं । हमसे जो कुछ भी आपका अपकार हुआ है उसे क्षमा करें और यह पारिजात भी स्वर्ग का है इसे वहीं उसकी जगह पर स्थापित करें । इसप्रकार इन्द्र का प्रसंग विष्णु पुराण में आता है ।

हरिवंश-पुराण में इन्द्रोपाख्यान

अन्य सर्वमान्य पुराणों की भांति हरिवंशपुराण में भी प्रथमतः इन्द्र सम्बन्धी आख्यान का श्रीगणेश देवासुर-संग्राम के मध्य से ही प्रारम्भ होता है|जब देवगण दैत्यों से युद्ध करते-करते और और्वाग्नि में जलते-जलते शक्तिहीन होने लगे तब वरूण ने इन्द्र को उसकी विशेषता बतायी|तत्पश्चात् देवराजइन्द्र ने देवों के सुख एवं शान्ति के लिए चन्द्रमा से वरूण की सहायता के लिए कहा और चन्द्रमा ने युद्ध-भूमि में जाकर हिम-वर्षा किया तथा वरूण ने अपने पाश से प्रहार कर दैत्य-सेना को संग्रामस्थल से प्लावित कर दिया|परन्तु यह देख मयदानव युद्धार्थ आ गया|लेकिन उसकी पर्वतीय माया अग्नि और वायु के समक्ष चल न सकी और अन्त में इन्द्र विजयी हुए । सम्पूर्ण दिशाएं शुद्ध हो गईं। सबकी धर्म में प्रवृत्ति हो गई और पृथिवी का भार मिट गया ।[1]

---

1. जये दशशताक्षस्य मयस्य च पराजये ।
   दिक्षु सर्वासु शुद्धास्तु प्रवृत्ते धर्मसंस्तरे ।।

इसीप्रकार श्रीकृष्ण और इन्द्र का युद्ध-विषयक आख्यान भी विचारणीय है, जहाँ भगवान् कृष्ण अपनी प्रियतमा सत्यभामा के मान की रक्षा के लिए इन्द्रोद्यान पर आक्रमण करते हैं । क्योंकि उन्हें पारिजात का वह पुष्प प्राप्त करना है जिसके वृक्ष उत्पन्नकरने का श्रेय, देवमाता अदिति की प्रार्थना और महर्षि काश्यप की स्वीकृति तथा आशीर्वाद को है । परन्तु कृष्ण को भी, आक्रमण करना आवश्यक था । अतः उस देवोद्यान में उन्होंने स्थापित पारिजात-वृक्ष को प्राप्त-उखाड़कर गरूड पर रख लिया, जबकि दुर्धर्ष देवसेना आश्चर्यचकित होकर ठगी-ठगी सी खड़ी रही और मारे भय के पारिजात खुद मूर्तिमान् हो उठा। कृष्ण ने उसे समझा-बुझाकर आश्वस्त किया तत्पश्चात् अमरावती पुरी की प्रदक्षिणा करने लगे। इसी बीच उद्यानरक्षकों ने इन्द्र को इसकी सूचना दे दी ।[1] तब देवराज युद्धोद्देश्य से ऐरावत पर चढ़कर अपने पुत्र जयन्त के साथ उनके पीछे-पीछे चल पड़े ।[2] जब वह नगरी के पूर्व द्वार पर पहुँचे तब उन्होंने श्रीकृष्ण को वहां देखा और उनसे बोले कि हे मधुसूदन, आपने यह कार्य क्यों किया ? तब श्रीकृष्ण ने इन्द्र को प्रणाम करके कहा – हे सुरेन्द्र, आपकी भ्रातृवधू का पुण्यकार्य सम्पन्न करने के निमित्त इस पारिजात की आवश्यकता है, इसीलिए इसे ले जा रहा हूँ। तब इन्द्र ने कहा – हे पद्माक्ष! इस पारिजात को आप सहजही नहीं ले जा सकते हैं। इसके लिए आपको युद्ध करना पड़ेगा । फलतः इन्द्र, कृष्ण और जयन्त प्रद्युम्न में घोर संग्राम हुआ। परन्तु इन्द्र की सैन्य-शक्ति के आगे कृष्ण सफल न हो सके। तब उन्होंने शिव की आराधना की और भगवान् शंकर का आशीर्वाद लेकर उनकी बताई हुई नीति से चलकर इन्द्र को पराजित किया और पारिजात लेकर द्वारका आ गये ।

पौराणिक इन्द्र के चरित्र की समीक्षा

प्रस्तुत अध्याय में इन्द्र-सम्बन्धी उपाख्यानों तथा इन्द्र से यथाकथंचित् जुड़े पात्रों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । इस परिचय-संकलन का एक उद्देश्य तो यह है कि पौराणिक-वाङ्मय में इन्द्र-सम्बन्धी चर्चाओं का प्रभूत विस्तार ज्ञात हो सके ।

---

1. ते तुनन्दनगोप्तारः पारिजातो द्रुमोत्तम ।
   ह्रियतीति महेन्द्राय गत्वा नृप शशंसिरे ।।

2. अथैरावतमारूह्य निर्ययौ पाकशासनः ।
   जयन्तेन रथस्थेन पृष्ठतोऽनुगतः प्रभुः ।।

परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है इन उपाख्यानों के माध्यम से इन्द्र के बहुकोटिक चरित्र की समीक्षा प्रस्तुत करना । उपर्युक्त उपाख्यानों के गहन अध्ययन से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य सुस्पष्ट हो जाते हैं -

1. पौराणिक इन्द्र एक मूर्तिमान् व्यक्तित्व है

वेदमंत्रों में जहाँ देवराज इन्द्र की पुरूषविधता के विषय में अनेक संशय व्यक्त किये गये हैं वहीं पुराणों में वर्णित इन्द्र निस्सन्देह एक मूर्तिमान् देवपुरूष है । ऋग्वेद के इन्द्रमंत्रों में वर्णित इन्द्र भी यद्यपि नानाविध पुरूषोचित कर्म करता है तथापि महर्षि यास्क उसके सन्दर्भ में प्रचलित मत-मतान्तरों की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि इन्द्र के चारों ही रूप मान्य हैं - (1) पुरूषविध, (2) अपुरूषविध अथवा प्रतीकात्मक, (3) कर्मात्मक तथा (4) उभयविधता ।

निरुक्त के व्याख्याकार आचार्य दुर्ग तो देवता को सर्वरूपसमर्थ मानते हैं । वह मूर्त, अमूर्त, एकधा, द्विधा तथा बहुधा - सब कुछ हो सकता है अपनी ऐश्वर्यशालिता के कारण। आचार्य यास्क का कहना है कि यदि देवताओं को कर्मात्मक-मात्र मान लिया जाय तो उनके पुरूषतुल्य होने या न होने का प्रश्न स्वतः हल हो जाता है और संगति में भी बाधा नहीं आती क्योंकि अग्नि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि सभी देवता अपुरूषविध ही हैं । तथापि सबके सब कर्मात्मक हैं दाहकता, शीतलता, प्राणकता, उष्णता तथा आह्लादकता के कारण । इसीप्रकार इन्द्र को भी कर्मात्मक ही मान लेना चाहिए ।[1]

इन्द्र के सन्दर्भ में व्यक्त निरूक्तकार की उपर्युक्त धारणाओं से इन्द्र के निर्विवाद अस्तित्व का पक्ष संशयापन्न सा बन जाता है । परन्तु पुराणों में वर्णित इन्द्र के सन्दर्भ में कोई विसंगति, अनास्था अथवा शंका-सन्देह नहीं है । पुराणों में वर्णित इन्द्र वैदिक इन्द्र की तरह मात्र वर्षा एवं युद्ध का देवता ही नहीं है प्रत्युत वह समूचे त्रैलोक्य का अधिराट् है । वह देवराज होने के साथ ही साथ समस्त देवयोनियों तथा मर्त्य प्राणियों का भी प्रशासक है ।

---

1. अपि वा पुरूषविधानामेव सतां कर्मात्मन एते स्युः यथा यज्ञो यजमानस्य ।
— निरुक्त 7-2-3

2. पौराणिक इन्द्र का वैभव श्रेष्ठतर है

वैदिक इन्द्र का वैभव जहाँ उसके असुर-संहार, वृष्टिकर्म तथा परोपकार में सीमित है वहीं पौराणिक इन्द्र का वैभवं उसके राजोचित ऐश्वर्यों में निहित है। पौराणिक इन्द्र एक देवकोटिक सार्वभौम शासक है। एक प्रतापी नरेश का जितना भी ऐश्वर्य संभव हो सकता है वह सब इन्द्र के पास है। अमरावती उसकी राजधानी है तो नन्दन वन उसका क्रीडोद्यान। दिव्य गजराज ऐरावत उसका वाहन है जो श्वेतवर्ण तथा चतुर्दन्त है। दिव्य उच्चैःश्रवा अश्व भी उसका वाहन है जो पक्षयुक्त है। इन्द्र का आयुध है वज्र जो कि शतकोटि अथवा सहस्त्रकोटि है साथ ही साथ महर्षि दधीचि की अस्थियों से निर्मित एवं अमोघ प्रहार वाला है। एक नरेश की ही तरह, मादक रूप-सौन्दर्य से ओतप्रोत उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा, घृताची - सरीखी देवाङ्गनाएं उसकी सेविकाएं हैं। हाहा-हूहू इन्द्र के सभागायक है और गन्धर्वराज तुम्बुरू उसकी सभा का वीणावादक। देवगुरू बृहस्पति जैसा वर्चस्वी कुलपुरोहित तथा पतिव्रता-शिरोमणि शची जैसी भार्या भी इन्द्र को प्राप्त है। कुबेर, वायु, अग्नि, स्कन्द तथा गणपति आदि समस्त देवता भी इन्द्र के परम सहायक हैं।

इसप्रकार पौराणिक इन्द्र सर्वविध दिव्य एवं मर्त्य ऐश्वर्यों का स्वामी है। वह अवार्यगति है। स्वर्ग, पाताल तथा पृथ्वी सब उसके अधिकार में हैं। अनेक उपाख्यानों से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि इन्द्र की गति सर्वत्र है।

3. पौराणिक इन्द्र पृथ्वीस्थानीय अधिक है

यद्यपि वेदमंत्रों में वर्णित इन्द्र भी पार्थिव नरेशों एवं ऋषियों का सहायक है। वह अयास्य, अत्रि तथा अंगिरा की गायों को पणियों से छीन कर वापस ले आता है। सुदास तथा दिवोदास की, दाशराज्ञ-युद्ध में सहायता करता है। कुत्स, अतिथिग्व आदि की भी सहायता करता है। फिर भी वैदिक इन्द्र कुल मिलाकर अन्तरिक्ष का ही देवता बना रहता है।

परन्तु पौराणिक इन्द्र सर्वात्मना पृथ्वी-स्थानीय प्राणी प्रतीत होता है, मर्त्य-संस्कृति एवं समाज में समरस होने के कारण। इसका बहुत कुछ कारण तो है इन्द्र का मर्त्यलोक में भोग-सम्बन्ध स्थापित करना। एक ओर वह महर्षि गौतम की भार्या अहल्या के रूप-सौन्दर्य से अभिभूत होकर छलपूर्वक उसका उपभोग करता है तो दूसरी ओर राजरानी कुन्ती के गर्भ से अर्जुन को उत्पन्न करता है।

अनेक पार्थिव नरेशों के साथ इन्द्र का प्रगाढ़ सख्यभाव है। वह शिशु युवनाश्वपुत्र मान्धाता को अपनी तर्जनी से अमृत पिलाकर वत्सलता प्रदर्शित करता है। स्वर्गयात्रा पर आये अर्जुन के योगक्षेम के लिये इन्द्र वे सारे उपाय करता है जो एक वत्सल पिता अपने दुलारे पुत्र के भले के लिये कर सकता है। यहाँ तक कि उर्वशी को अपलक निहारते अर्जुन को देखकर वह, अर्जुन के भोग के निमित्त उर्वशी को भी उसकी शय्या पर भेजने में संकोच नहीं करता।

अयोध्यानरेश खट्वांग, दशरथ तथा चन्द्रवंशी दुष्यन्त आदि इन्द्र के परम अन्तरंग मित्र हैं और यथावसर देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता के लिये स्वर्ग तक जाया भी करते हैं। इन्द्र का परमप्रिय पेय सोमरस है जिसे सोमलताओं से बनाया जाता था। इस लता का उद्भव-स्थान भी मुञ्जवान् (पर्वत शिखर-विशेष) है। इसी प्रकार इन्द्र का भक्ष्य पुरोडाश भी ऋषियों-महर्षियों द्वारा यज्ञ के अवसर पर तैयार किया जाता था। इसप्रकार पुराणों का इन्द्र नाम-मात्र का अन्तरिक्षस्थानीय देवता है। वस्तुतः उसके प्रगाढ़ कायिक, वाचिक एवं मानसिक सम्बन्ध पृथ्वीलोक से अधिक हैं। अतएव पुराणों का इन्द्र मानव-समाज का ही एक अविच्छेद्य अंग प्रतीत होता है। वह मानवों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तथा जय-पराजय में समानरूप से भागीदार है।

4. पौराणिक इन्द्र में देवत्व कम, मानवत्व अधिक है

पुराणों में वर्णित इन्द्र में देवत्व उतना नहीं साकार दीखता जितना कि मानवत्व। वह मानवीय दुर्बलताओं से ओतप्रोत दीखता है। वह शतक्रतु होने के ही कारण इन्द्रपद प्राप्त कर सका है अतः एक सामान्य मर्त्य-भूपति की ही तरह वह सदैव अपने अस्तित्व के विषय में चौकन्ना रहता है। 'उग्र तपस्या में रत ऋषि-महर्षि अथवा -

अश्वमेध यज्ञों में जुटे प्रतापी नरेश कहीं "इन्द्रपद" के अधिकारी न बन जाँय' यह चिन्ता इन्द्र को अशान्त बनाए रहती है । फलतः वह अपने मार्गविरोधों को समाप्त करने में उचित-अनुचित का विचार नहीं करता ।

'अपने पुत्र रोहित की बलि देकर महाराज हरिश्चन्द्र कहीं वरूण की कृपा से इन्द्रपद न पा जायें' इस आशंकावश इन्द्र घर लौटते रोहित को कई वर्ष तक सञ्चरण कराता रहा । महाराज सगर के सौवें अश्वमेध यज्ञ को विघ्नित करने के लिए उसने यज्ञाश्व को चुरा कर कपिलाश्रम में बाँध दिया तथा उनके साठ हजार पुत्रों का नाश करा दिया । प्रमति , विश्वामित्र , कण्डु की उग्र तपस्याओं को इन्द्र ने , घृताची, मेनका तथा प्रम्लोचा अप्सरा के माध्यम से विनष्ट करा दिया । सुन्द तथा उपसुन्द का विनाश उसने तिलोत्तमा से करा दिया ।

पौराणिक इन्द्र में वैदिक इन्द्र जैसा दुर्धर्ष पौरूष नहीं । वह बार-बार अपनी सहायता के लिये विष्णु , शिव , भगवती दुर्गा की शरण में जाता है । नृशंस त्रिपुरवधार्थ वह भगवान् शिव की प्रार्थना करता है तो महिषासुर के विनाशार्थ भगवती दुर्गा का आश्रय लेता है । तारकासुर के वधार्थ वह ब्रह्मा से उपाय पूछता है और उपाय जान लेने पर शिव की समाधि तोड़ने के लिये अपने प्रिय मित्र कामदेव को भी मृत्युमुख में ढकेलते उसे तनिक भी संकोच नहीं होता है । पुरूरवा से उपकृत होते हुए भी इन्द्र , छल-छद्म का आश्रय लेकर अपनी प्रेयसी उर्वशी को स्वर्ग लौटा ही लाता है ।

पौराणिक इन्द्र में छल-छद्म , ईर्ष्या-द्वेष जैसे मानवीय दुर्गुण तो हैं ही । परन्तु इनसे भी अधिक जो गर्हित दुर्गुण उसमें है वह है उसकी व्यभिचारपरायणता । अपनी भोगलम्पटता पर उसका नियंत्रण नहीं और अपनी कामतृषा की शान्ति के लिये वह अन्तिम सीमा तक साहस करने की सामर्थ्य रखता है । पतिव्रता अहल्या को भोगने के लिये उसने महर्षि गौतम तक का रूप धारण कर लिया ।

5. पौराणिक इन्द्र भूलोकीय-संस्कृति का निर्माता है

जैसा कि प्रस्तुत अध्याय में इन्द्रतीर्थों का यथासम्भव बृहद् विवेचन किया गया है , उससे सिद्ध हो जाता है कि इन्द्र भूलोकीय-धर्म एवं संस्कृति का निर्माता है ।

सम्पूर्ण भारत में अनेक ऐसे शिवालय , गिरिशिखर , क्षेत्र , सरोवर तथा नदीतट हैं जिनका परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष-सम्बन्ध इन्द्र से रहा है । अधिकांश इन्द्रतीर्थ गौतम के शाप अथवा विश्वरूपवधोत्पन्न ब्रह्महत्या से ग्रस्त कलंकित इन्द्र की तपस्यास्थली के रूप में ख्यातिप्राप्त हैं । इस सन्दर्भ का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है ।

इन्द्रतीर्थों के साथ ही साथ अनेक पर्व तथा व्रतोपवास भी इन्द्र अथवा इन्द्रपरिवार के साथ सम्बद्ध हैं । कोजागरव्रत , रक्षाबन्धन तथा मूलशान्ति के ऐसे ही सन्दर्भ इन्द्र से जुड़े हैं । इसप्रकार हम देखते हैं कि अन्यान्य देवताओं (शिव , विष्णु तथा भगवती महिषासुरमर्दिनी) की ही भांति देवराज इन्द्र भी जनसामान्य की धार्मिक- आस्था का अवलम्बन बना रहा है ।

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि पौराणिक-वाङ्मय में वैष्णव , शैव , शाक्त तथा सौर पुराण तो अधिसंख्य है । परन्तु ऐन्द्रपुराण एक भी नहीं है । फिर भी पौराणिक कथासूत्रों में सर्वाधिक चर्चा इन्द्र की ही हुई है । संभवतः इसका एकमात्र कारण है उसका त्रैलोक्याधिपति होना , देवराज होना । लोकत्रय का शास्ता होने के कारण उसे देव तथा मर्त्य - दोनो ही समाजों के योग-क्षेम की चिन्ता करनी पड़ती है । सृष्टि-रक्षा अथवा पृथ्वीलोक के सुख-शान्ति के लिये विष्णु, शिव अथवा भगवती दुर्गा की प्रार्थना करना भी तो इन्द्र का ही दायित्व है । इसप्रकार इन्द्र का शासकीय दायित्व ही उसके बहुचर्चित होने का मूल कारण प्रतीत होता है ।

-0-0-0-

"चतुर्थ-अध्याय"

लौकिक संस्कृत-साहित्य में इन्द्रसन्दर्भ

-0-0-0-0-

लौकिक संस्कृत-साहित्य में इन्द्रसन्दर्भ

लोक तथा वेद का विभाजन अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है । महर्षि पाणिनि ने वेद में प्रयुक्त भाषा को लोक की भाषा से पृथक् माना है । संस्कृत के लिये वह प्रायः "भाषा"मात्र का प्रयोग करते हैं - "इति भाषायाम् ।" इसका अभिप्राय यही है कि लोक में प्रयुक्त वाणी को वह "भाषा" मानते हैं । यही लोक-प्रयुक्त वेदभाषाभिन्न वाणी आगे चलकर संस्कृत के नाम से प्रख्यात हुई । परवर्ती युग में हम भाषा के दो स्पष्ट रूप पाते हैं - वेदभाषा तथा लोकभाषा/लौकिकभाषा ।

7वीं सती ई0 में काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः लोकप्रयुक्त उसी भाषा को संस्कृत कहा - संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । परन्तु लोक-प्रयुक्त यह संस्कृत भाषा संभवतः रामायणकार वाल्मीकि के युग में ही अस्तित्व में आ चुकी थी । रावण के अशोकवन में बैठी सीता को देखकर हनुमान् मन ही मन सोचते हैं कि "यदि मैं द्विजातियों की तरह संस्कृत वाणी का प्रयोग करूंगा तो सीता मुझे §संस्कृत-पण्डित§ रावण समझकर भयभीत हो उठेगी ।" इस विचार के बाद ही वह सीता से संस्कृतेतर §प्राकृत ?§ भाषा में वार्तालाप करते हैं -

> यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
> रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ।।

वेदों में प्रयुक्त छान्दसी भाषा कब परिवर्तित हुई और कब उसे "संस्कृत" कहा जाने लगा ? यह सप्रमाण बता पाना कठिन है । निश्चय ही यह घटना किसी एक वर्ष या दशक की नहीं है । यह एक लम्बी प्रक्रिया रही होगी जिसमें सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे । परन्तु आज विद्वज्जगत् महर्षि पाणिनि §ई0 पू0 5वीं शती§ को यह श्रेय देता है कि उन्होंने अष्टाध्यायी जैसा सार्वभौम व्याकरण ग्रंथ लिखकर वैदिकी भाषा की विसंगतियों एवं शिथिलताओं को दूर कर, उसे एक सुस्थिर रूप दिया । इस परिमार्जन अथवा संस्कार के ही कारण उसे "संस्कृत" कहा गया ।

महर्षि पाणिनि से पूर्व भी ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न तथा आपिशलि आदि आचार्यों ने व्याकरण-ग्रंथों की रचना कर डाली थी । अष्टाध्यायीकार ने स्वयं भी यथावसर स्फोटायन {अवङ्. स्फोटायनस्य} शाकल्य {लोपः शाकल्यस्य} तथा भागुरि के मतों का उल्लेख किया है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों तथा उद्धृत आचार्यों ने भी भाषा को स्थिर रूप देने में प्रयास किया होगा । परन्तु वे सारे प्रयास अष्टाध्यायी की रचना के साथ ही सार्थक हो सके ।

भाषा की दृष्टि से समीक्षा करने पर समूचा वाङ्मय तीन रूपों में व्यवस्थित प्रतीत होता है -

1. छान्दसी-भाषा {वेदों तथा वेदांगों में प्रयुक्त}
2. आर्ष-संस्कृत {पुराणों तथा रामायण-महाभारत में प्रयुक्त}
3. संस्कृत-भाषा {परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त}

रामायण तथा महाभारत आर्षकाव्य के रूप में जाने जाते हैं । पाश्चात्त्य समीक्षकों ने इन्हें ऐतिहासिक महाकाव्य { EPICS } कहा है जो अत्यन्त भ्रामक संज्ञा है क्योंकि भारतीय परम्परा में महाभारत "इतिहास" तथा रामायण "काव्य" मात्र है {रामायणं चादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् - बालकाण्ड}

रामायण, महाभारत तथा प्राचीन महापुराणों में प्रयुक्त भाषा उस सान्ध्य-काल की भाषा है जब वेदों में प्रयुक्त भाषा "संस्कृत" का रूप ले रही थी । उसका संस्कार हो रहा था । परन्तु तब तक महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी अस्तित्व में नहीं आई थी । फलतः अष्टाध्यायी के भाषानियमों का पालन भी नहीं हो पा रहा था । यही कारण है कि रामायण-महाभारत तथा प्राचीन पुराणों में, भाषा की दृष्टि से पदे-पदे पाणिनीय नियमों की उपेक्षा मिलती है, जिन्हें हम "आर्षप्रयोग" कह कर आदर देते हैं ।

धातु के सोपसर्ग होने पर क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय लगता है - यह पाणिनि की व्यवस्था है । जैसे गम् + क्त्वा = गत्वा , सम् + गम् + ल्यप् = संगम्य आदि । परन्तु वाल्मीकि-रामायण में "प्रबोधयित्वा" जैसे प्रयोग भी मिलते हैं । सन्दृश्य के स्थान पर "सम्पश्य" का भी प्रयोग वाल्मीकि करते हैं । अनेक आत्मनेपद धातुओं का परस्मै-पद प्रयोग भी रामायण में मिलता है ।

शुद्ध पाणिनीय संस्कृत भाषा में साहित्य-संरचना कब से प्रारंभ हुई - यह भी निश्चयपूर्वक कह पाना कठिन है । संभवतः महर्षि पाणिनि स्वयमेव इस भाषा के प्रथम प्रयोक्ता रहे होंगे । आचार्य राजशेखर (दशम शती ई0) के प्रमाणानुसार महर्षि पाणिनि वय्याकरण होने के साथ ही साथ एक श्रेष्ठ सहृदय कवि भी थे और उन्होंने जाम्बवतीविजय नामक एक ललित महाकाव्य भी लिखा था ।[1] इस महाकाव्य का वर्षावर्णनात्मक एक ही श्लोक भाषासौन्दर्य की सिद्धि के लिये पर्याप्त है -

गते ऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत् प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति ।।

"वर्षा में कालमेघ गरज क्या रहे हैं मानो चन्द्रबिम्बरूपी बछड़े को न देख पाने के कारण धेनुसरीखी शर्वरी (काली रात) हुंकार कर रही है ।"

दुर्भाग्यवश पाणिनिप्रणीत वह महाकाव्य नष्ट हो गया । उसके कुछ प्रकीर्ण पद्य ही परवर्ती ग्रंथों में उद्धरणरूप में मिलते हैं[2] । ठीक उसी प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई0 पू0 द्वितीय शती) द्वारा उल्लिखित भैमरथी तथा सुमनोत्तरा जैसी गद्यकृतियां भी अब नहीं मिलतीं । महर्षि व्याडिप्रणीत लक्षश्लोकात्मक संग्रह-ग्रंथ भी अनुपलब्ध है । यदि ये ग्रंथ बच रहे होते तो संभवतः वे ही लौकिक संस्कृतभाषा के प्रारम्भिक साहित्य की बानगी प्रस्तुत करते ।

---

1. नमः पाणिनये तस्मै येन रूद्रप्रसादतः ।
   आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो जाम्बवतीजयम् ।। काव्यमीमांसा ।

2. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
   यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥
   - ध्वन्या० 1 13 की वृत्ति में उद्धृत ।

उपलब्ध साहित्य में महाकवि भास §ई0 पू0 तीसरी-चौथी शती§ तथा कविकुलगुरू कालिदास §ई0 पू0 द्वितीय-प्रथम शती§ की कृतियाँ ही प्राचीनतम हैं - यह तथ्य सर्वसम्मतया स्वीकार करने योग्य है । भास-प्रणीत तेरह नाटकों में तथा कालिदास की सात कृतियों में पाणिनीय संस्कृत-भाषा का प्राञ्जल रूप प्रयुक्त हुआ है जो उत्तरोत्तर परिनिष्ठित तथा जटिल होता गया है ।

भासोत्तर संस्कृत-साहित्य को काव्यशास्त्रियों ने अनेक दृष्टियों से विभाजित किया है - भाषा , विषय तथा शैली आदि की दृष्टि से । परन्तु सौकर्य की दृष्टि से सर्वाधिक सरल तथा वैज्ञानिक विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है -
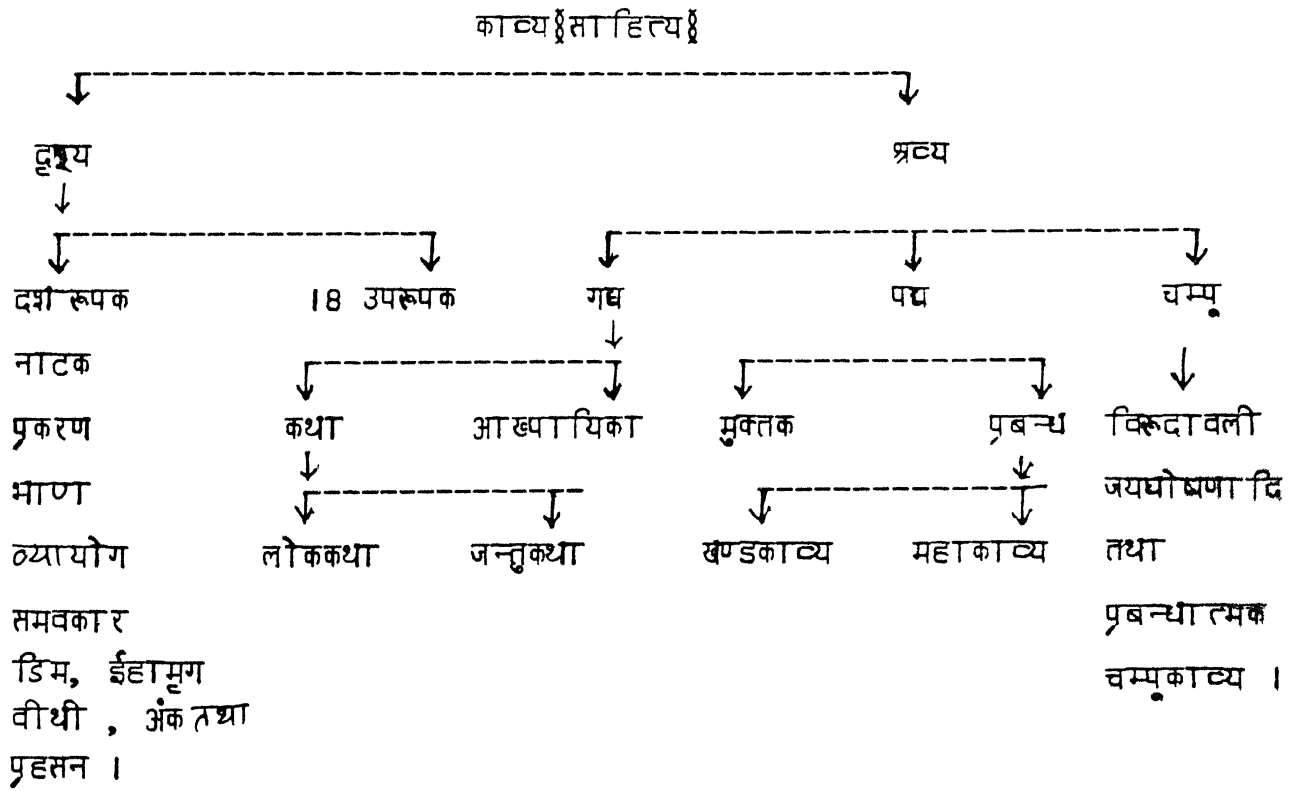
उपर्युक्त विभाजन से संस्कृत-साहित्य की पुष्कलता एवं विशालता का बोध स्वतः हो जाता है । महाकवि भास के युग से आज तक अविच्छिन्न गति से लिखा जा रहा संस्कृत-वाङ्मय वैविध्य एवं विस्तार की दृष्टि से समस्त विश्ववाङ्मय का अतिशायी है ।

इन्द्रसन्दर्भों का संग्रथन उपर्युक्त प्रत्येक साहित्यविधा में हुआ है । परन्तु सबका अशेष रूप से संग्रह एवं समीक्षा कर पाना दुष्कर ही नहीं , एक असंभव कार्य है । अतएव प्रस्तुत अध्याय में मुख्यतः तीन साहित्यविधाओं - काव्य , नाटक तथा कथा - में ही वर्णित इन्द्रसन्दर्भों की समीक्षा की जा रही है ।

परन्तु पृष्ठभूमि के रूप में रामायण तथा महाभारत के प्रमुख इन्द्रसन्दर्भों की एक बार पुनः परिगणना कर लेना अनुचित न होगा । यह इसलिये भी आवश्यक है कि अधिसंख्य विद्वान् रामायण-महाभारत को भी , भाषा की दृष्टि से , लौकिक संस्कृत-साहित्य का ही अंग मानते हैं । चूंकि रामायण-महाभारत के इन्द्रोपाख्यानों का परिचय पूर्व अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है अतएव यहां केवल शीर्षकों के माध्यम से ही उनका संकलन किया जा रहा है ।

रामायण के इन्द्रोपाख्यान

1. देवराज इन्द्र से वानरराज वाली की उत्पत्ति का सन्दर्भ ।[1]
2. इन्द्र द्वारा महाराज सगर के यज्ञाश्व का अपहरण-सन्दर्भ ।[2]
3. सागरमंथन से प्राप्त उच्चैःश्रवा अश्व पर इन्द्र का आधिपत्य ।[3]
4. इन्द्र द्वारा दिति के गर्भस्थ शिशु का विनाश-प्रयास ।

तस्याः शरीरविवरं प्रविवेश पुरन्दरः ।
गर्भञ्च सप्तधा राम चिच्छेद परमात्मवान् ।। 18

न हन्तव्यं न हन्तव्यमित्येवं दितिरब्रवीत् ।
निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ।। 21
- वा० रामायण सर्ग 46

5. राम-रावण युद्ध में इन्द्र द्वारा रथविहीन राम को अपना रथ प्रदान करना ।[4]
6. देवराज इन्द्र द्वारा अमृतवर्षा से , रामरावण-युद्ध में मरे वानरों को पुनर्जीवन ।[5]
7. मरुत् के यज्ञ में रावण से भयभीत इन्द्रादि देवों का पक्षी रूप धारण करना ।[6]

---

1. रामायण , बालकाण्ड 17-10
2. वही , वही सर्ग 39
3. वही , वही सर्ग 45
4. रामायण , युद्धकाण्ड सर्ग 102
5. वही , वही सर्ग 120
6. वही , वही सर्ग 18

इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः ।
कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरूणोऽभवत् ।। 5

हर्षात्तदाऽऽब्रवीदिन्द्रो मयूरं नीलबर्हिणम् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ भुजंगाद्धि न ते भयम् ।।22

इद्र-नेत्रसहस्त्रं तु यत् त्वद्बर्हे भविष्यति ।
वर्षमाणे मयि मुदं प्राप्स्यसे प्रीतिलक्षणाम् ।।23

एवमिन्द्रो वरं प्रादान्मयूरस्य सुरेश्वरः ।। 24

– वा० रामा० उत्तरकाण्ड, सर्ग 18

8. रावण तथा इन्द्र के युद्ध में मेघनाद द्वारा इन्द्र का बांध लिया जाना तथा ब्रह्मा की मध्यस्थता से मुक्त किया जाना ।[1]

एवमस्त्विति तं चाह वाक्यं देवः पितामहः ।
मुक्तश्चेन्द्रजिता शक्रो गताश्च त्रिदिवं सुराः ।।

– वा० रामा० उत्तर० सर्ग 27

9. इन्द्र-हनुमान्-संघर्ष । इन्द्र द्वारा हनुमान् को वज्रप्रहार से मूर्च्छित करना ।[2]

इन्द्रः करीन्द्रमारूह्य राहुं कृत्वा पुरस्सरम् ।
प्रायाद् यत्राभवत् सूर्यः सहानेन हनुमता ।। 28

– बा० रामा० उत्तर० सर्ग 35

महाभारत के इन्द्रोपाख्यान

1. कद्रू {सर्पमाता} की प्रार्थना पर इन्द्र द्वारा जलवृष्टि ।[3]

नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्त्राक्ष शचीपते ।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ।।

– महा० आदि० 25-8

---

1. रामायण , युद्धकाण्ड , सर्ग 27
2. वही , वही , सर्ग 35
3. महाभारत आदि० अ० 25 श्लोक 8 से 27 तक ।

2. गरूड द्वारा अमृतकुम्भ का हरण । गरूड-इन्द्र युद्ध ।[1]

3. इन्द्र द्वारा मेनका को भेजकर महर्षि विश्वामित्र का तप खण्डित करना ।[2]

4. इन्द्र द्वारा जनमेजय के नागयज्ञ में शरणागत तक्षक की रक्षा ।

तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक ।
भयं नागेन्द्र तस्माद्वै सर्पसत्रात्कदाचन ।।

पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत् ।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ।। महा० आस्तीक-पर्व अ०-56

5. ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र द्वारा कर्ण का कवच-कुण्डल मांगने का सन्दर्भ । बदले में इन्द्र द्वारा कर्ण को शत्रुनाशक शक्ति प्रदान करना ।

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत् ।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिम् ।। 27

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रुनिबर्हिणीम् ।
ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ।। 29

– महा० आदि० (सम्भवपर्व) अ० 110
वनपर्व अ० 310

6. पाण्डु द्वारा इन्द्र की तपस्या ।[3]

7. इन्द्र द्वारा खाण्डव-वन में वर्षा ।[4]

8. इन्द्रसभोपाख्यान ।[5]

9. इन्द्रकीलपर्वत पर इन्द्र एवं अर्जुन की भेंट । अर्जुन की स्वर्गयात्रा ।[6]

10. सुरभि (कामधेनु) इन्द्रोपाख्यान ।[7]

11. नलोपाख्यान । नल को सत्यनिष्ठा से प्रभावित इन्द्र का नल को वरदान ।[8]

12. च्यवन पर इन्द्र का कोप तथा च्यवन द्वारा इन्द्र का स्तम्भन ।[9]

---

1. महा० आदि (आस्तीकपर्व) अ० 32, 33
2. वही " " अ० 71
3. वही " (संभवपर्व) अ० 122
4. वही " (खाण्डवदाह पर्व) अ० 225-233 तक ।
5. वही " सभापर्व अ०-7
6. वही वनपर्व (कैरातपर्व) अ० 37
7. वही वनपर्व (आरण्यपर्व) अ० 9
8. वही वनपर्व अ० 54
9. वही वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व) अ० 124

भयात्संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः ।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ।। 2

सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद् वचो विप्र ! प्रसीद मे ।।3

– महा० वनपर्व अ० 125

13. औशीनरोपाख्यान (इन्द्र एवं अग्नि द्वारा शिवि की परीक्षा)[1]

14. इन्द्र द्वारा केशी द्वारा अपहृत देवसेना का उद्धार-प्रसंग ।[2]

15. इन्द्र-वृत्र संघर्ष ।[3]

16. नहुषोपाख्यान । कामासक्त नहुष का सप्तर्षियों से पालकी ढुलवाना तथा अगस्त्य के शाप से सर्पयोनि की प्राप्ति । बृहस्पति के संस्तवन से पुनः इन्द्र का तेजस्वी बनना[4] –

महासुरो हतः शक्रो नमुचिर्दारुणस्त्वया ।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ।। 14

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय ।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान् ।।15

इसप्रकार इन्द्र से सम्बद्ध रामायण में कुल 9 तथा महाभारत में 16 प्रमुख उपाख्यान वर्णित हैं । इनमें से अधिकांश की समीक्षा पिछले अध्याय में की जा चुकी है । अब, आर्षकाव्यों के अनन्तर, अवान्तर लौकिक संस्कृत-वाङ्मय में इन्द्रसन्दर्भों के वर्णन की समीक्षा की जा रही है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि लौकिक संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन खण्डों में विभक्त है – काव्य, नाट्य तथा कथा । सर्वप्रथम काव्यवाङ्मय की चर्चा की जा रही है ।

---

1. महाभारत, वनपर्व अ० 197
2. महाभारत, वनपर्व अ० 223
3. महाभारत, उद्योगपर्व अ० 9 से 13 तक
4. महाभारत, उद्योगपर्व अ० 16

काव्यवाङ्मय में इन्द्रसन्दर्भ

काव्य मुख्यत: दो रूपों में उपलब्ध होता है – महाकाव्य तथा खण्डकाव्य । यहाँ इन दोनो की परिभाषाओं की व्याख्या अभीष्ट नहीं है ।[1] हमारा लक्ष्य है संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों में उपलब्ध इन्द्रचरित की समीक्षा करना । इस दृष्टि से सर्वप्रथम हमारी दृष्टि महाकवि कालिदास प्रणीत महाकाव्यों पर पड़ती है –

1. रघुवंश एवं कुमारसम्भव में इन्द्रसन्दर्भ

रघुवंशम्

कालिदास-प्रणीत रघुवंश महाकाव्य में देवराज इन्द्र के साथ महाराज दिलीप के पुत्र युवराज रघु के संघर्ष का प्रसंग निरूपित किया गया है ।[2] नन्दिनी की कृपा से दिलीप तथा सुदक्षिणा को रघु नामक पुत्र प्राप्त हुआ । रघु गाम्भीर्यमनोहर वपुष् वाला {3-32} था । उसका परिचय कालिदास इन शब्दों में करते हैं –

> युवा युगव्यायतबाहुरंसल:
> कपाटवक्षा: परिणद्धकन्धर: ।
> वपु: प्रकर्षादजयद् गुरूं रघु-
> स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ।। रघु0 3-34

यथावसर रघु को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया गया । महाराज दिलीप ने कुमार को यज्ञाश्व-रक्षक नियुक्त कर अपना सौवां अश्वमेध प्रारंभ किया । परन्तु शतक्रतु इन्द्र ने अदृश्य रहकर यज्ञाश्व को चुरा लिया क्योंकि वह महाराज दिलीप को "शतक्रतु" {इन्द्र} बनता नहीं देखना चाहता था ।[3]

---

1. महाकाव्य , खण्डकाव्य-लक्षण द्रष्टव्य : साहित्यदर्पण षष्ठ परि0
2. द्रष्टव्य – रघुवंशम् सर्ग 3 श्लोक 35 से 70 तक ।
3. तत: परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुन: ।
   धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्र: किल गूढविग्रह: ।। 3-39

जब कुमार ने किसी भी प्रकार अश्व के अपहरणकर्ता को नहीं देखा तभी अकस्मात् उनकी सहायता के लिये नन्दिनी आ गई। उसके अंगजल {स्वेद} को नेत्रों में लगाते ही रघु को दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई और उसने अश्व चुराने वाले इन्द्र को देख लिया। सहस्त्र नेत्रों तथा हरि नामक अश्वों के कारण कुमार रघु ने तत्काल जान लिया कि 'यह इन्द्र ही है'।[1]

कुमार रघु ने कहा – हे शतक्रतो! आप यज्ञांश पाने वाले देवों में प्रथम कहे जाते हैं। तब फिर मेरे पिताश्री के यज्ञ में क्रियाविघात क्यों उत्पन्न कर रहे हैं? आप त्रिलोकनाथ हैं। आपको तो मखद्वेषियों का स्वयं विनाश करना चाहिये। परन्तु आप तो धर्मचारियों के कार्य में स्वयं अन्तराय {विघ्न} बन रहे हैं। आप कृपया महाक्रतु {अश्वमेध} के इस अश्व को मुक्त कर दें। समर्थ लोग निन्दनीय मार्ग नहीं अपनाते।[2]

रघु की प्रगल्भ वाणी सुनकर इन्द्र ने उत्तर देने के लिये अपना रथ लौटाया और कहा – कुमार! तुम्हारा कहना ठीक ही है। परन्तु यशस्वी व्यक्ति को प्रतिस्पर्धियों से अपने यश की रक्षा करनी ही चाहिये। मैं भी अपने "शतक्रतु" होने के पक्ष की रक्षा हेतु ऐसा कर रहा हूँ क्योंकि –

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो
महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं
द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः॥ रघु० 3-49

परन्तु कुमार रघु को इन्द्र के उत्तर से परितोष नहीं हुआ। उसने इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा।[3] दोनों के बीच तुमुल संग्राम छिड़ गया।[4] रघु ने अपने

---

1. शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
   अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव॥ 3-43
2. रघुवंशम् सर्ग 3 श्लोक 44-46
3. ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
   गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥5।
4. तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः।
   बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः॥58

सुवर्णनिर्मित बाण से देवराज की छाती विदीर्ण कर दी । तब अमर्षण इन्द्र ने भी अमोध सायक का सन्धान किया । उस दिव्यबाण ने मानो कुतूहलवश , अनास्वादितपूर्व मानवरक्त पीना प्रारंभ कर दिया ।

परन्तु जब कुमार रघु ने अपने मयूरपत्री शर द्वारा इन्द्र की महाशनि ध्वजा को काट फेंका तथा उसके धनुष की डोरी भी काट दी तब इन्द्र ने कुपित होकर , पर्वतपक्षों को काट देने वाले वज्र को हाथ में उठा लिया ।[1.]

इन्द्र के वज्रप्रहार से रघु पृथ्वी पर गिर पड़े । सारे सैनिक रोने लगे [कुमार को मृत जानकर] परन्तु वज्र की व्यथा को सह कर कुमार दूसरे ही क्षण उठ खड़े हुए । सैनिक हर्षोल्लास से भर उठे ।[2.] कुमार का यह अमोघ पराक्रम देखकर इन्द्र विस्मित हो उठे । उन्होंने प्रसन्न होकर महाराज दिलीप को , बिना सौवां यज्ञ किये ही , उसका सम्पूर्ण फल उन्हें प्रदान किया ।[3.]

महाराज दिलीप ने कुमार रघु के अमोघ पराक्रम से ही शतक्रतु होने का गौरव प्राप्त किया तथा कुमार रघु को राज्यासन पर अधिष्ठित कर स्वयं तपश्चर्या हेतु , पत्नीसहित वन को चले गये ।

मुनिवनतरूच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।। रघुवंशम् 3-70

---

1. स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ।। 60 रघुवंशम् सर्ग-3

2. रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ।।

3. तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ।।

कुमारसंभवम्

कालिदासप्रणीत अष्टसर्गात्मक कुमारसंभव महाकाव्य के द्वितीय-तृतीय सर्गों में इन्द्र का सन्दर्भ निरूपित हुआ है । तारकासुर द्वारा पराजित एवं श्रीहीन बनाये गये समस्त देवगण देवराज इन्द्र को आगे करके भगवान् प्रजापति के पास गये । उन्होंने ब्रह्मा की भावभीनी स्तुति की । ब्रह्मा प्रकट हुए तथा उन्होंने इन्द्रादि देवों की दीनदशा देख कर पूछा -

> किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा ।
> हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ।।
>
> प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
> वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठितश्रीव लक्ष्यते ।।

- कुमार० सर्ग 2 , श्लोक 19, 20

ब्रह्मा का आश्वासन पाकर इन्द्र की प्रार्थना पर देवगुरू बृहस्पति ने उन्हें तारकासुर-जनित संकट का लोमहर्षक विवरण बताया ।[1.] उन्होंने कहा - प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं । देवों की व्यथा आपसे छिपी नहीं है । आप द्वारा प्राप्त वर के कारण उदीर्ण तारकासुर लोकों के विनाशार्थ धूमकेतु की तरह उठ खड़ा हुआ है ।[2.] उसके नगर में सूर्य भी उतना ही आतप बिखेरता है जितने से वापी में कमल के फूल खिल सकें । अपनी समस्त कलाओं के साथ चन्द्रमा भी उसी की सेवा करता है , बस शिव द्वारा आभूषण बनाई गई एक कला (द्वितीया) को छोड़कर ।[3.] देवांगनाओं द्वारा सदय भाव से तोड़े गये पल्लवों वाले नन्दनवन के वृक्षों को तारकासुर ने उच्छिन्न कर दिया है ।[4.] उसने इन्द्र के उच्चैःश्रवा अश्व को भी छीन लिया जो उसका देहबद्ध यश जैसा ही था ।[5.] इसलिये हे प्रभो । हम लोग आपसे एक ऐसा सेनानी प्राप्त करने के लिये आये हैं जो देवराज इन्द्र की अपहृत जयश्री को पुनः लौटा सके ।[6.]

---

1. कुमारसंभव 2-29
2. वही 2-31, 32
3. वही 2-33, 34
4. वही 2-41
5. वही 2-47
6. वही 2-52

देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि आप लोगों की कामना पूर्ण होगी । बस कुछ समय तक प्रतीक्षा करें । मुझसे ऐश्वर्य प्राप्त करने वाला वह दैत्य मुझसे ही विनष्ट नहीं होगा क्योंकि स्वयं लगाए गए विषवृक्ष को भी अपने ही हाथों काटना उचित नहीं । समरांगण में उसका सामना नीललोहित शिव के पुत्र के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता । परन्तु वह सम्प्रति समाधिमग्न हैं । अतः आपलोग उनका संयतमन उमा की ओर प्रेरित करने का यत्न करें जो उनकी प्राप्ति के लिए तप कर रही है । बस एक उमा अथवा मेरी जलमयी मूर्ति ही शम्भु के तेज को धारण करने में समर्थ है ।[1]

ब्रह्मा का आदेश पाते ही देवराज इन्द्र ने अपने सहायक पुष्पधन्वा (काम) का आवाहन किया । काम ने इन्द्र के समक्ष अपने शौर्यपराक्रम की प्रशंसा की और करणीय कार्य के लिये आज्ञा माँगी ।[2] इन्द्र ने काम को देवताओं के संकट का परिचय देते हुए कार्य का निर्देश किया -

> तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां
> यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
> योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः
> सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ।। कुमार० 3-18

इसप्रकार देवराज इन्द्र का निर्देश प्राप्त कर कामदेव भगवान् शिव की समाधि भंग करने तथा उनका मन पर्वतराजपुत्री उमा की ओर उन्मुख करने के लिये गया । यद्यपि इसी प्रयास में उसका विनाश भी हो गया , परन्तु देवताओं का कार्य सम्पन्न हो गया - उमाशिव विवाह के कारण ।

यद्यपि अधिकांश विद्वान् आचार्य मल्लिनाथ की टीका के प्रामाण्यवश कुमारसम्भव को 8 सर्ग की ही कृति मानते हैं । इस मान्यता के अनुसार यह महाकाव्य शिवपार्वती-विवाह तथा उनके भोगवर्णन के ही साथ समाप्त हो जाता है । परन्तु

---

1. कुमारसंभव 2-58 से 61 तक
2. वही 3-3 से 10 तक

कुमारसंभव के 16 सर्ग भी सम्प्रति उपलब्ध हैं । नवें सर्ग में अग्नि , गंगा तथा कृत्तिकाओं द्वारा शिव के अमोघ वीर्य को धारण करने तथा षडानन की उत्पत्ति का वर्णन है । 11वें सर्ग में इन्द्रादि देवों द्वारा , षडानन को सेनापति पद पर नियुक्त करने के लिये , शंकर से प्रार्थना की गई है तथा शेष सर्गों में षडानन तथा तारक के भयावह युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है । तारक-विनाश के बाद देवराज इन्द्र पुनः ऐश्वर्य प्राप्त करता है -

> इति विषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाऽजौ
> त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
> बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य
> व्यजयत् सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादाः ।। कुमार0 17-55

किरातार्जुनीयम्

महाकवि भारवि (634 ई0) ने 18 सर्गों से युक्त किरातार्जुनीय महाकाव्य संभवतः महाभारत के आधार पर लिखा । इसमें किरातवेषधारी शिव के साथ अर्जुन के तुमुल युद्ध का तथा शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त करने का काव्यमय चित्रण है । इसी अवसर पर अर्जुन देवराज इन्द्र के आग्रह पर स्वर्ग की भी यात्रा करते हैं तथा विविध देवों से दिव्यास्त्रों की प्राप्ति करते हैं ।

द्वैतवन में निवास करते हुए पाण्डवों के पास महर्षि वेदव्यास आते हैं और भावी कौरव-पाण्डव युद्ध की संभावना अटल बताते हुए अर्जुन को इन्द्रकील शिखर पर तप करके पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की मंत्रणा देते हैं ।[1] अर्जुन द्रौपदी[2] तथा भाइयों से विदा लेकर चल पड़ते हैं हिमालय की ओर ।

---

1. प्रियेषु यैः पार्थ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः ।
   तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मघवा विघातम् ।। किरात0 3-52

2. तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
   प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमिव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ।। किरात0 3-54

शरद् ऋतु का मनोरम समय था । अर्जुन नानाप्रकार के प्राकृतिक दृश्यों तथा गांव-गिरांव के दृश्यों को देखते[1], पवित्र हिमालय तक पहुंच जाते हैं ।[2] हिमालय तथा कैलाश-शिखर को देखते हुए वीर अर्जुन अन्ततः इन्द्रकील-शिखर तक भी पहुंच जाते हैं तथा तपस्या में लीन हो जाते हैं ।[3] उनकी उग्र तपस्या से सब आश्चर्यचकित हो जाते हैं ।[4] इन्द्रकील-शिखर पर रहने वाले सेवकगण अपने स्वामी इन्द्र को यह विस्मापक समाचार सुनाते हैं -

हे देव ! पवित्र वल्कल से शरीर को आच्छादित कर , सूर्यादि तेजस्वियों में से अन्यतम कोई एक निष्पाप पुरूष आपके इन्द्रकील-शिखर पर संसार को उत्तप्त करता तपस्या कर रहा है ।[5]

देवराज इन्द्र इस समाचार को सुनकर , पुत्र के अभ्युदय से गद्गद हो उठते हैं । परन्तु अपनी प्रसन्नता को छिपाकर[6] लोकापवाद तथा पुत्रमोह के दोष से मुक्त होने के लिये अप्सराओं को भेजते हैं अर्जुन की तपस्या भंग करने के लिये ।[7] परन्तु अप्सराओं की एक न चली[8] और वे खिन्न तथा उदास होकर अमरावती लौट आईं ।[9]

---

1. विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरूहाम्भसः ।
   ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरूपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ।। किरात0 4-2
2. इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः ।
   विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ।। किरात0 4-37
3. प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
   श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ।। किरात0 6-19
4. पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
   स दयालुनेव परिगादकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ।। किरात0 6-27
5. शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः ।
   महते जयाय मघवन्ननघः पुरूषस्तपस्यति तपञ्जगतीम् ।। किराता0 6-31
6. अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
   निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ।। किरात0 6-38
7. द्रष्टव्य - किरातार्जुनीयम् 6-47
8. द्रष्टव्य -किरातार्जुनीयम् 10-58
9. द्रष्टव्य-किरातार्जुनीयम् 10-63

किरातार्जुनीयम् के ।।वें सर्ग में स्वयं देवराज इन्द्र के, अर्जुन के पास आने का विस्तृत वर्णन है । चार श्लोकों में भारवि देवराज इन्द्र के व्यक्तित्व का वर्णन करते हैं ।

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया ।।3

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः ।। 4

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि ।
आघूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ।।5

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ।। 6 किरात० सर्ग ।।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि अर्जुन के समक्ष इन्द्र एक वृद्ध मुनि के रूप में प्रकट हुए । उनके केश चन्द्रकिरणों के समान धवल थे तथा अंग भी दुर्बल थे । वह यष्टि (लाठी) के सहारे चल रहे थे ।

यद्यपि अर्जुन ने इन्द्र को पहचाना नही तथापि वह उन्हें देखते ही स्नेह से परिप्लुत हो उठे क्योंकि बन्धुता के कारण मन में बलात् हर्षोद्रेक हो जाता है ।[1] इन्द्र सर्वज्ञ हैं, फिर भी अर्जुन के मुनिविरोधी वीरवेष को देखकर पूछ बैठते हैं - "तुम तो मुक्ति के अभिलाषी हो । फिर तो तुम्हें किसी के प्रति द्रोहबुद्धि नहीं रखनी चाहिये । यह तूणीर और धनुष तुम्हारी शमवृत्ति का समर्थन नहीं करता है ।"

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता ।
विरुद्धः केवलं वेषः सन्देहयति मे मनः ।।14

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया ?
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ।। 15

- किरात० सर्ग ।।

---

1. अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ।। किरात० ।।-8

देवराज इन्द्र कहते हैं - मुझे तो निश्चय हो रहा है कि तुम शत्रु पर विजयप्राप्ति की अभिलाषा रखते हो । क्योंकि कहां तो क्रोधसूचक शस्त्र और कहां क्षमाशील तपस्वी ?

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः ।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ?? - किरात0 11-18

इन्द्र अर्जुन को युद्धविषयक उद्योग से विरत करने का भूरिशः प्रयास करते हैं और कहते हैं कि यदि तुम्हें जीतने की इच्छा ही है तो अजेय इन्द्रियों को जीतो । उन पर विजय प्राप्त कर तुम सारे संसार पर जय प्राप्त कर लोगे ।[1]

परन्तु वीरपार्थ धैर्यच्युत नहीं होते । अपनी सारगर्भित श्लिष्टवाणी से इन्द्र के समस्त प्रश्नों का उत्तर वह एक ही श्लोक (वाक्य) में प्रस्तुत कर देते हैं, और कहते हैं कि वह क्षत्रिय हैं, दायादों से निर्वासित हैं तथा अपने बड़े भाई के वशवर्ती हैं । महर्षि वेदव्यास की सम्मति से ही वह इन्द्र की कृपा पाने के लिये तप कर रहे हैं -

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः ।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ।। 45
कृष्णद्वैपायनादेशाद् बिभर्मि व्रतमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ।। 46
- किरात0 सर्ग ।।

वीर पार्थ अपना हृदय देवराज के समक्ष खोलकर रख देते हैं । द्यूतक्रीड़ा में वैरियों द्वारा की गई छल-वञ्चना, द्रौपदी का वस्त्रापहरण तथा अपनी घोर अवमानना वह सारी आत्मव्यथा इन्द्र को निवेदित करते हुए[2] अन्ततः अपना निश्चय बताते हैं कि या तो मैं यहीं इन्द्रनीलशिखर पर प्राण दे दूंगा अथवा सहस्त्रनेत्र मघवा की आराधना करके अपना कलंक धो डालूंगा ।

---

1. द्रष्टव्यः किरात0 11-31-32
2. द्रष्टव्यः किरात0 11-47 से 75 तक
   न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचंचलम् ।
   नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ।।66
   प्रमाष्टुर्मयशःपंकमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।।67

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्द्धनि ।
आराध्य वा सहस्त्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे ।। किरात0 11-79

अर्जुन का यह वचन सुनते ही वात्सल्यद्रवित इन्द्र अपने दिव्यरूप में प्रकट हो जाते हैं तथा पुत्र का प्रगाढ आलिंगन कर, ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये जगदुत्पत्तिकारणभूत देवाधिदेव शिव की आराधना करने का निर्देश देते हैं और अर्जुन को सान्त्वना देते हुए कहते हैं कि पिनाकी के प्रसन्न हो जाने पर मैं तुम्हें लोकपालों की आयुधीय शक्तियों के साथ अजेय तथा अप्रतिम बना दूंगा ।[1] -

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै-
र्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषा-
मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ।। किरात0 11-81

शिशुपालवधम् में इन्द्रसन्दर्भ

महाकवि माघ-प्रणीत शिशुपालवध महाकाव्य में प्रथम सर्ग में ही रावणदिग्विजय के वर्णन-सन्दर्भ में अवान्तर रूप से इन्द्र तथा रावण के संघर्ष का वर्णन हम पाते हैं । देवर्षि नारद देवराज इन्द्र का सन्देश लेकर द्वारकापुरी आते हैं श्रीकृष्ण के पास, यह बताने कि त्रेतायुगीन देववैरी रावण ही इस समय शिशुपाल के रूप में अवतरित हुआ है ।[2] देवर्षि नारद कृष्ण को पूर्व जन्मों का स्मरण करते हुए बताते हैं कि सनकादि ऋषियों के शापवश विष्णु के पार्षदों - जय एवं विजय को तीन जन्मों तक राक्षस बनने का शाप प्राप्त हुआ था । इस शाप के कारण ही दोनो भाई प्रथम जन्म में हिरण्यकशिपु तथा

---

1. देवराज इन्द्र के इस वचन की पूर्ति महाकाव्य के अन्त में देखने को मिलती है ।

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै ।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ।।
- किरात0 18-46

2. शिशुपालवधम् 1-41 (तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र.....भवता निशम्यताम्)

हिरण्याक्ष के रूप में उत्पन्न हुए जिन्हें भगवान् विष्णु ने नृसिंह तथा वराह रूप में अवतरित होकर मारा ।[1]

द्वितीय जन्म में जय-विजय रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में पैदा हुए । देवर्षि नारद रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि उसने देवराज इन्द्र के साथ विरोध कर बार-बार अमरावती पर आक्रमण किया, नन्दन वन को उजाड़ डाला, इन्द्र के सारे रत्नों को छीन लिया तथा सारे देवलोक में खलबली मचा दी ।[2]

रावण द्वारा खदेड़े गये इन्द्र ने रणभूमि में न तो ऐरावत के विलासयुक्त मन्दगति की और नहीं उच्चैःश्रवा की विविध क्रीडाभरी चाल की प्रशंसा की । बल्कि उसने अपने वाहनों की मात्र इसलिये प्रशंसा की कि वे उसे रावण से बचा पाने में सफल हुए अपने तीव्र वेग से ।[3]

जैसे सहस्ररश्मि सूर्य को देख पाने में अक्षम उलूक पक्षी दिन में अँधियारी गुफा में पड़ा समय काटता है उसी प्रकार रावण से भयभीत इन्द्र ने भी छिप-छिप कर अपना समय बिताया ।[4]

कामज्वर से सन्तप्त उस रावण का शरीर देवराज इन्द्र की बन्दिनी देवांगनाओं की अत्यन्त उष्ण निःश्वास भरी वायु से जितना शीतल होता था उतना चन्दन-मिश्रित जलकणों से युक्त ताडपत्र से की जाती हुई हवा से भी नहीं ।[5]

---

1. शिशुपालवधम् 1-42 (अभूदभूमिः प्रतिपक्ष....कशिपुं प्रचक्षते)
   वही " 1-47 (सटाच्छटाभिन्न......प्रतिचस्करे नरवैः)
2. पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
   विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ।। शिशु0 1-51
3. सलीलयातानि नभर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
   अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ।। शिशु0 1-52
4. अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
   प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ।। शिशु0 1-53
5. अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
   सचन्दनाम्भः कणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ।। शिशु0 1-65

रावण ने इन्द्र के साथ ही साथ कुबेर , यम, अग्नि, वरूण तथा गणेश को भी समर में पराजित कर दिया । उसने दशरथनन्दन राम को अमानवीय दिव्यगुणों से युक्त तथा अपना भावी निहन्ता जाते हुए भी उनसे वैर ठाना तथा उसकी प्रिया जानकी का अपहरण किया तथा अन्ततः उन्हीं के हाथों मारा गया ।

इसप्रकार रावणतथा इन्द्र के संघर्ष का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन ही शिशुपालवध में प्राप्त होता है । पुराणों में जहां रावण के पुत्र मेघनाद द्वारा इन्द्र को बांध लेने तथा प्रजापति ब्रह्मा के समझाने-बुझाने पर मुक्त कर देने का प्रसंग वर्णित है , महाकवि माघ केवल इन्द्र की दुर्दशा , रणभूमि से पलायन तथा रावण से भयभीत होकर लुकछिप कर समय काटने का काव्यमय वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

नैषधीयचरितम् में इन्द्रसन्दर्भ

काव्यकुब्ज-नरेश जयचन्द्र (12वीं शती ई0) के राजकवि महापण्डित श्रीहर्ष द्वारा पुराणप्रसिद्ध नलोपाख्यान पर आधारित महाकाव्य नैषधीयचरितम् लिखा गया है जिसका "पञ्चनली-प्रसंग"पण्डितवर्ग में सदैव से चर्चा का विषय बना रहा है ।[1.]
पौराणिक प्रसंगानुसार जब अपने भाई पुष्कर से द्यूतक्रीड़ा में हारकर राज्यभ्रष्ट महाराज नल वन में चले गये तब दमयन्ती कीव्यथाओं को न सह पाने के कारण वह उसे सोती छोड़कर चले गये । उन्होंने अयोध्यानरेश ऋतुपर्ण के यहां सारथ्यकर्म स्वीकार कर लिया । दमयन्ती यथाकथञ्चित् पुनः अपने पिता के घर पहुंची ।

महाराज भीम ने नल का पता लगाने के ही उद्देश्य से दमयन्ती का पुनः स्वयंवर आयोजित किया । इन्द्रादि चार देवताओं (इन्द्र, अग्नि , यम तथा वरूण) ने बारी-बारी से नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास अपना प्रणयप्रस्ताव भेजा । नल ने यह जानते हुए भी कि दमयन्ती केवल उसी से प्रेम करती है और यह स्वयंवर भी उन्हींकी पुनः प्राप्ति मात्र के लिये आयोजित है , बड़ी ईमानदारी से इन्द्रादि का सन्देश दमयन्ती तक पहुंचाया ।

----

1. सविस्तर द्रष्टव्यः नैषधीयचरितम् सर्ग-13, श्लोक- 1 से 8 तक ।

स्वयंवर-मण्डप में चारों ही देवगण नल का रूप धारण करके बैठे[1], क्योंकि उन सब को विश्वास था कि दमयन्ती मात्र नल का ही वरण करेगी । दमयन्ती नल सहित चार अन्य नलों को एक साथ देख कर पहले तो विस्मित हो उठी ।[2] परन्तु अपनी सत्यनिष्ठा एवं पतिव्रत के प्रभाव से उसने वास्तविक नल को पहचान लिया तथा इन्द्रादि देवताओं की अर्चना-प्रार्थना कर उनसे आशीर्वाद माँगा । दमयन्ती के पातिव्रत से प्रभावित इन्द्रादि देवगण प्रत्यक्ष प्रकट हो गये तथा उन सबने पुनः नल को उनकी खोई हुई प्रतिष्ठा ऐश्वर्य तथा साम्राज्य वापस करवाया । नल तथा दमयन्ती पुनः सुखी हो गये ।

नैषधीयचरित में उपलब्ध "पञ्चनली" प्रसंग श्लेषालंकार का अद्भुत निदर्शन है । इसमें इन्द्र , अग्नि , यम तथा वरूण के परिचय में देवी सरस्वती द्वारा जितने श्लोक प्रस्तुत किये गये हैं - सब के सब द्वयार्थक हैं । उनका एक अर्थ तो इन्द्रादि देवों पर तथा दूसरा महाराज नल पर चरितार्थ.होता है । दमयन्ती प्रारंभ में तो भ्रान्त अवश्य होती है वाणी तथा रूप की एकता के कारण,परन्तु बाद में वह वास्तविक नल को पहचान लेने में सफल हो जाती है ।

बुद्धचरित

अश्वघोष-प्रणीत बुद्धचरित महाकाव्य ।।वें सर्ग में गौतमबुद्ध की तपश्चर्या के प्रसंग में काम की भरपूर निन्दा की गई है । कामनिन्दा के इसी प्रसंग में कुछ पौराणिक पुराकथाएं भी सांकेतिक रूप से वर्णित की गई हैं । इनमें मान्धाता , नहुष, पुरूरवा, वृत्रासुर तथा बलि का सन्दर्भ प्रमुख है । ये समस्त पात्र देवराज इन्द्र के साथ यथाकथञ्चित्

---

1. देवी सरस्वती ने नलरूपधारी इन्द्र का परिचय इसप्रकार दिया कि वर्णन तो देवराज इन्द्र का प्रस्तुत हुआ परन्तु नल का रूप धारण करने की उसकी माया प्रकाशित नहीं हो पाई । ऊचे यथा स च शचीपतिरभ्यधायि
   प्राकाशि तस्य न च नैषधकायमाया ।। नैषध0 13-2
2. आकर्ण्य तुल्यमखिलां सुदती लगन्तीमाखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।
   रूपं समानमुभयत्र विगाहमाना श्रोत्रान्न निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ।। नैषध0 13-7
   शक्तः किमेष निषधाधिपतिः सतेति दोलायमानमनसे परिभाव्य भैमीम् ।
   निर्दिश्य तत्र मदनस्य सखायमस्यां भूयोऽसृजद्भगवती वचसां स्रजं सा ।। नैषध0 13-8

सम्बद्ध हैं । अश्वघोष ने कहा है कि देवराज इन्द्र द्वारा अर्धासन पर बैठाकर सम्मानित किये गये मान्धाता भी काम से तृप्त नहीं हो पाये । नहुष का भी पतन काम के ही कारण हुआ जोकि इन्द्रासन पर अधिरूढ थे । इन्द्र से सम्बद्ध इन कथाओं की यथावसर पहले व्याख्या की जा चुकी है ।[1]

हरविजय

महाकवि रत्नाकर कश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (नवीं शती ई0) के शासनकाल में थे जिन्होंने 50 सर्गों का बृहत्तम महाकाव्य "हरविजय" लिखा । इसमें अन्धकासुर पर भगवान् शिव की विजय की कथा का अद्भुत आलंकारिक शैली में वर्णन किया गया है । सम्पूर्ण महाकाव्य में देवराज इन्द्र के सन्दर्भ बार-बार आये हैं ।

अन्धकासुर के अत्याचारों से सन्त्रस्त देवगण भगवान् शिव की शरण में जाते हैं । असुर अंधक की अत्याचार-कथा को सुनकर समस्त देवगण क्रोधोद्धुर हो उठते हैं । भगवान् शिव भी भैरव रूप धारण कर लेते हैं । सभाक्षोभणम् नामक सातवें सर्ग में देवराज इन्द्र की भयावह मुद्रा का वर्णन करते हुए कवि कहता है -

केयूरचक्रनिकरैस्त्रिदशाधिपाना-
मंसावमर्दपतितैर्मणिकुट्टिमोर्वी ।
रेजे पुरन्दरकरेरितवज्रपात-
विच्छिन्नपक्षतिपुटैरिव भूधराणाम् ।।
- हरविजय 7-52

महाकाव्य के अन्तिम 50वें सर्ग में अन्धक के साथ हुए देवताओं के भीषण संग्राम का वर्णन किया गया है । प्रायः समस्त देवताओं के अस्त्र-शस्त्र निरर्थक सिद्ध हो चुके । देवराज इन्द्र का वज्र भी अन्धक का कुछ अनिष्ट नहीं कर सका । अतएव भगवान् विष्णु शिव से अन्धक के विनाशार्थ निवेदन करते हैं और अंत में अन्धकासुर देवाधिदेव के हाथों मारा जाता है । इन्द्र के सन्दर्भ में विष्णु कहते हैं -

---

1. द्रष्टव्य : बुद्धचरित सर्ग 11 श्लोक 13 से 16 तक ।

पश्यातातायिकठिनास्थिशिलाविभेद-
कुण्ठीकृतश्रि कुलिशं युधिनिर्जितस्य ।
दैत्यैः करे शतमखस्य भयोदयोत्थ -
घर्माम्बुसिक्तमिव सन्तनुते न तेजः ।। हरविजय 50-4

उपर्युक्त सात प्रमुख महाकाव्यों के अतिरिक्त महाकाव्यकोटिक अन्यान्य कृतियों में भी इन्द्र का सांकेतिक उल्लेख प्राप्त होता है । परन्तु विस्तारभय से अब यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है ।

काव्य का दूसरा भेद है खण्डकाव्य , जिसमें किसी एक पुरुषार्थ (धर्म , अर्थ काम , मोक्ष) का आंशिक वर्णन अथवा किसी लोकनायक के जीवन की किसी घटनामात्र का वर्णन होता है ।[1] खण्डकाव्य को धार्मिक , सामाजिक आदि दृष्टि से , अथवा प्रतिपाद्य-सामग्री की प्रकृति के आधार पर स्तोत्रकाव्य , सन्देशकाव्य , दूतकाव्य तथा गीतकाव्यादि शीर्षकों में बांटा गया है । परन्तु ये सब के सब हैं खण्डकाव्य ही । संस्कृत के प्रमुख खण्डकाव्यों में कालिदासप्रणीत ऋतुसंहार तथा मेघदूत , घटकर्परकृत घटकर्परकाव्य , बिल्हणप्रणीत चौरपंचाशिका , जयदेवप्रणीत गीतगोविन्द , धोयीप्रणीत पवनदूतादि कृतियां आती हैं ।

खण्डकाव्यों में इन्द्र की चर्चा बहुत कम आई है , सम्भवतः कथा के अनुरोधवश । परन्तु कालिदास ऋतुसंहार काव्य में "इन्द्रगोपों" से शोभित पृथ्वी तथा इन्द्रधनुष से सुशोभित बादलों की चर्चा अवश्य करते हैं -

विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता
वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ।। ऋतु0 2-5

तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः
पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।। ऋतु0 2-20

अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः
पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ।। ऋतु0 2-23

---

1. खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारियत् । साहित्य0 परि0 6

इसीप्रकार मेघदूत काव्य में भी परोक्षरूप से कवि सुरपति की चर्चा करता है । पूर्वमेघ के छठे श्लोक में विरही यक्ष मेघ की प्रशंसा करते हुए कहता है कि मैं जानता हूँ कि तुम देवराज इन्द्र के कामरूप प्रकृतिपुरुष हो और पुष्करावर्तक के वंश में उत्पन्न हुए हो ।"[1]

इन्द्रधनुष की मनोहर छवि का चित्रण कालिदास मेघदूत में भी करते हैं । दो सन्दर्भ प्रमुख हैं -

1. रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
   वल्मीकाग्राद् प्रभवति धनुष्खण्डमाखण्डलस्य ।। पूर्व0 15
2. तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
   दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।। उत्तर0 12

नाट्यवाङ्मय में इन्द्र-सन्दर्भ

समुद्रमंथन नामक नाट्य के अभिनय की चर्चा हम आचार्यभरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में पाते हैं । लौकिक संस्कृत-वाङ्मय में प्राचीनतम नाट्यकृतियां महाकवि भास की हैं जिनका अन्वेषण टी0 गणपति शास्त्री ने सर्वप्रथम 1912 ई0 में किया । ये कृतियां चाक्यारों के अभिनय-माध्यम से केरल के रंगमंच पर अत्यधिक लोकप्रिय थीं । इनका प्रारंभ लम्बी भूमिकाओं तथा सूत्रधार के प्रवेश होता है । इन नाट्यकृतियों में नान्दीश्लोक का सर्वथा अभाव है । टी0 गणपति शास्त्री द्वारा ऐसी 13 कृतियों को भासप्रणीत सिद्ध करने के अनन्तर ही विद्वज्जगत् को भास की नाट्यप्रतिभा की वास्तविक जानकारी हुई ।

भास-प्रणीत नाट्यकृतियां मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त हैं -

---

1. जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
   जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।।

1. रामायणमूलक - प्रतिमानाटकम् अभिषेकनाटकम् ।
2. महाभारतमूलक - मध्यमव्यायोगः, दूतवाक्यम् , कर्णभारम्, पञ्चरात्रम्, दूतघटोत्कचम् , बालचरितम् , ऊरुभङ्गम् ।
3. बृहत्कथामूलक - स्वप्नवासवदत्तम् , प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् , दरिद्रचारुदत्तम्
4. कल्पनामूलक - अविमारकम् ।

भास की नाट्यकृतियों में कुछ तो प्रत्यक्षतः इन्द्र-चरित से सम्बद्ध हैं जिनमें दूतवाक्य तथा कर्णभार प्रमुख हैं ।

दूतवाक्यम्

अभिमन्यु तथा उत्तरा का विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद , युद्ध की विभीषिका टालने के उद्देश्य से वासुदेवकृष्ण युधिष्ठिर के दूत बनकर दुर्योधन के पास जाते हैं यह प्रस्ताव लेकर कि दुर्योधन पाण्डवों को उनका आधा राज्य लौटा दें । परन्तु उनका अभियान सफल नहीं होता । दुर्योधन वासुदेव को बांध लेने की योजना बनाता है कि तभी भगवान् कृष्ण सुदर्शन चक्र का आवाहन करते हैं । धृतराष्ट्र की क्षमाप्रार्थना से वह शान्त होकर वापस लौट आते हैं ।

इस एकांकी में परोक्ष रूप से इन्द्र की चर्चा कई बार आती है । विशेषकर अर्जुन के प्रसंग में । कृष्ण के कौरव-सभा में पहुंचते ही दुष्ट दुर्योधन भाइयों का कुशलक्षेम पूछता है परन्तु चचेरे भाई के रूप में नहीं , बल्कि उनके पितृसम्बन्धों के माध्यम से । वह कहता है -

धर्मात्मजो वायुसुतश्च भीमो
भ्रातार्जुनो मे त्रिदशेन्द्रसूनुः ।
- - - - - - - - - - -
सर्वे सभृत्याः कुशलोपपन्नाः ??
- दूतवाक्यम् 1-19

भगवान् कृष्ण अर्जुन के शौर्य-पराक्रम की प्रशंसा करते हुए दुर्योधन को सुलह कर लेने की राय देते हैं । अर्जुन की इस प्रशंसा में खाण्डववनदाह तथा निवातकवच-विनाश का पौराणिक-प्रसंग वर्णित किया गया है । खाण्डववन में अपने मित्र तक्षक की रक्षा के लिये इन्द्र ने मूसलाधार वर्षा की परन्तु अर्जुन ने अपनी बाणवर्षा से वृष्टि को ही स्तंभित कर दिया था । इसीप्रकार इन्द्र के वैरी निवातकवचों का विनाश उन्होंने इन्द्रकील

पर्वत से स्वर्गलोक जाने पर ही किया था ।

कैराते वपुरास्थितः पशुपतिर्युद्धेन सन्तोषितः
वह्नेः खाण्डवमश्नतः सुमहती वृष्टिः शरैश्छादिता ।
देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीताः क्षयं लीलया
नन्वेकेन तदा विराटनगरे भीष्मादयो निर्जिताः ।।

– दूतवाक्यम् ।–32

प्रस्तुत पद्य में निवातकवचों से पीडित देवेन्द्र की प्रत्यक्ष चर्चा महाकवि भास ने की है । खाण्डववन के सन्दर्भ में वर्णित महती वृष्टि भी देवराज इन्द्र द्वारा ही सिरजी गई थी ।

वासुदेव कृष्ण के सन्धिप्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए दुरभिमानी दुर्योधन अन्ततः कहता है –

प्रहरति यदि युद्धे मारुतो भीमकर्मा
प्रहरति यदि साक्षात् पार्थरूपेण शक्रः ।
परुषवचनदक्ष ! त्वद्वचोभिर्न दास्ये
तृणमपि पितृयुक्ते वीर्यगुप्ते स्वराज्ये ।।

– दूतवाक्यम् ।–35

कर्णभारम्

समूचे संस्कृत-नाट्यवाङ्मय में सम्भवतः भासप्रणीत कर्णभारम् प्रथम ऐसी रचना है जिसमें देवराज इन्द्र प्रत्यक्षरूप से पात्र के रूप में चित्रित किये गये हैं । कर्णभार की कथा महाभारत के वनपर्व §अध्याय 300 से 310 तक§ के अन्तर्गत "कुण्डलाहरण" नामक उपपर्व में वर्णित है । कर्ण सूर्य एवं कुन्ती का पुत्र था , जिसे देवी कुन्ती ने विवाह से पूर्व ही उत्पन्न करके लोकलज्जा-वश त्याग दिया था । कालान्तर में युधिष्ठिर , भीम तथा अर्जुन कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए धर्म, वायु तथा इन्द्र के तेज से ।

कर्ण के पिता सूर्य बार-बार उसे इन्द्र के विरूद्ध सावधान करते हैं । इन्द्र अपने पुत्र अर्जुन के हितार्थ , कर्ण का दिव्य कवच-कुण्डल मांगने की ताक में हैं । कर्ण दानशील है । वह सूर्य को बताता है कि यदि देवराज याचक बनकर आते हैं तो वह उन्हें निराश नहीं कर सकेगा । विवश होकर सूर्य कर्ण को इन्द्र से शत्रुसंहारक§"शक्ति§ मांग लेने के लिये राजी कर लेते हैं ।

महाकवि भास ने महाभारत की उक्त कथा में प्रभूत परिवर्तन किया है । मूल कथा में यह घटना युद्ध से बहुत पूर्व ही घटती है । परन्तु कर्णभारम् में यह घटना तब घटती है जब महाबली कर्ण अन्तिम युद्ध के लिये रणभूमि में प्रस्थान कर रहा है । इन्द्र ब्राह्मण रूप धारण कर मार्ग में ही मिलते हैं । कर्ण उन्हें प्रणाम करता है । परन्तु इन्द्र उसे दीर्घायुष्य का आशीर्वाद नहीं देते हैं । क्योंकि कर्ण के दीर्घायु होने से अर्जुन का कल्याण संभव नहीं है । इन्द्र कर्ण को यशस्वी बनने का आशीष देते हैं । इसके अनन्तर वह कर्ण से दान की याचना करते हैं । कर्ण उन्हें क्रमशः गोसहस्त्र , अश्वसहस्त्र, वारणसहस्त्र देने का प्रस्ताव रखता है । परन्तु प्रवञ्चक इन्द्र एक-एक कर सब "नाहीं" करते जाते हैं । अन्त में कर्ण द्वारा प्राणतुल्य कवचकुण्डल देने के प्रस्ताव को इन्द्र स्वीकार कर लेते हैं । दानवीर कर्ण त्वचा से छीलकर कवच तथा कानों का कुण्डल इन्द्र को दे देता है ।

मूल महाभारतकथा में कवचकुण्डल देने के बदले इन्द्र से कर्ण शत्रुसंहारक शक्ति मांगता है । परन्तु कर्णभारम् में दानवीर कर्ण के उत्सर्ग से अभिभूत होकर इन्द्र स्वयं कर्ण को शक्ति देते हैं जिसे स्वाभिमानी कर्ण स्वीकार नहीं करता , दान के कलंकित हो जाने के भय से । परन्तु अन्त में "ब्राह्मण के अपमान" के भय से उसे स्वीकार कर लेता है । सारथी महाराज शल्य कर्ण को समझाते हैं । उन्हें देवराज इन्द्र का यह छल असह्य प्रतीत होता है । परन्तु वदान्य-शिरोमणि कर्ण सब जानते हुए भी इन्द्र को कवच-कुण्डल अर्पित ही कर देता है ।

कर्णभारम् में ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र तथा कर्ण का रोचक संवाद इस प्रकार है -

कर्ण.........प्रणमामि ।

इन्द्र - सूर्य इव चन्द्र इव हिमवानिव सागर इव तिष्ठतु ते यशः ।

कर्णः विहितकनकशृङ्गं गोसहस्त्रं ददामि ।। 18

इन्द्र - गोसहस्त्रमिति मुहूर्तकं क्षीरं पिबामि । नेच्छामि कर्ण नेच्छामि ।

कर्ण - सपदि बहुसहस्त्रं वाजिनां ते ददामि ।। 19

इन्द्र - ....नेच्छामि कर्ण नेच्छामि ।

कर्ण - सितनखदशनानां वारणानामनेकं
रिपुसमरविमर्दं वृन्दमेतद्ददामि ।। 20

इन्द्र – ....नेच्छामि कर्ण, नेच्छामि ।

कर्ण – अङ्गैः सहैव जनितं मम देहरक्षा देवासुरैरपि न भेद्यमिदं सहस्त्रैः ।
देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां प्रीत्या मया भगवते रूचितं यदि स्यात् ।।2।

इन्द्र – ....गृहणामि गृहणामि कर्ण ।

शल्यः – भो अंगराज ! वञ्चितः खलु भवान् ।

कर्णः – केन ?

शल्यः – शक्रेण ।

कर्णः – न खलु । शक्रः मया खलु वञ्चितः । कुतः,

अनेकयज्ञाहुतितर्पितो द्विजैः किरीटवान् दानवसंघमर्दनः ।
सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिर्मया कृतार्थः खलु पाकशासनः ।।

इसप्रकार कर्ण देवराज इन्द्र को अपने दान से विस्मित कर देता है ।

कालिदास-प्रणीत विक्रमोर्वशीयम्

महाकवि कालिदास-प्रणीत नाटकत्रय (मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्) में से दो इन्द्रविषयक सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं । विक्रमोर्वशीयम् में गन्धर्वराज चित्ररथ तथा उर्वशी, चित्रलेखा, सहजन्या, रम्भा एवं मेनका – जो देवराज इन्द्र के ही परिजन हैं, प्रत्यक्षतः पात्र के रूप में आते हैं । इन्द्र, यद्यपि नाटक का कोई पात्र नहीं है तथापि परोक्ष रूप से इस नाटक की कथा की पृष्ठभूमि में विद्यमान है ।

कुबेर के भवन से निकली हुई देवांगना उर्वशी को केशी नामक दैत्य अपहृत कर लेता है । अप्सराओं के आर्तनाद को सुनकर महाराज पुरूरवा उनका उद्धार करते हैं । राजा के यह पूछने पर कि किसका अपहरण हुआ है ?" (उर्वशी की सखी) रम्भा उर्वशी का परिचय बताती हुई कहती है –

"या तपोविशेषशंकितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य ।"

अर्थात् वह उर्वशी जो ऋषियों के उग्र तप से भयभीत महेन्द्र का सुकुमार आयुधभूत है ।

राजा के चले जाने पर रम्भा तथा मेनका परस्पर वार्तालाप करती है । रम्भा दानवों को दुर्जय मानती है तथा पुरूरवा के पौरूषमें शंका करती है । परन्तु मेनका उसे सान्त्वना देती हुई कहती है कि संकट पड़ने पर देवराज इन्द्र भी पुरूरवा को ही मध्यमलोक {पृथ्वी} से सादर ले आकर सेनापति-पद पर नियुक्त करते हैं -

उपस्थितसम्परायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकाद् सबहुमानमानाय्य
तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।

- विक्रमो0 अंक ।

गन्धर्वराज चित्ररथ को उर्वशी के अपहरण का समाचार देवर्षि नारद से मिलता है । परन्तु उसके पहुंचने से पूर्व ही पुरूरवा उर्वशी की रक्षा कर चुके होते हैं । अतः चित्ररथ पुरूरवा की प्रशंसा करते हुए कहता है -

"दिष्टया महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।"

चित्ररथ पुरूरवा से प्रार्थना करता है कि उर्वशी को आगे करके अब आप हमारे साथ ही इन्द्र के पास चलें । आपने सचमुच उनका बहुत उपकार किया है -

स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति ।
महतः खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता ।

पुरूरवा चित्ररथ से कहता है कि यह सारा पराक्रम देवराज इन्द्र का ही है जोकि उसके पक्षधर विजयी होते हैं । परन्तु यह अवसर उनसे मिलने का नहीं । उर्वशी को आप ही इन्द्र के पास पहुंचा दें -

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्
विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।
सखे ! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेनात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

- विक्रमो 0 अंक ।

उपर्युक्त सन्दर्भों में कालिदास ने चन्द्रवंशी पुरूरवा को देवराज इन्द्र का परममित्र तथा युद्धसहायक निरूपित किया है । पुरूरवा अत्यन्त विनम्र नरेश है । वह

अपने शौर्य-पराक्रम को भी शतक्रतु की ही कृपा का परिणाम मानता है । वह श्रेष्ठ देवराज इन्द्र को अपना "प्रभु" (प्रभोरन्तिकं प्रापय) स्वीकार करता है ।

नाटक के द्वितीय अंक में उर्वशी के वियोग में सन्तप्त पुरूरवा से विदूषक (माणवक) कहता है - "भो अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वज्रः सचिवः । उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतः अहम् । द्वावप्यत्रोन्मत्तौ ।"

इस वाक्य द्वारा कालिदास ने पौराणिक अहल्योपाख्यान की ओर संकेत किया है, जो देवराज इन्द्र के व्यभिचार एवं कलंक का स्थायी प्रतीक है । इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या यथावसर पहले की जा चुकी है ।

तृतीय अंक के प्रारंभ में प्रयुक्त मिश्रविष्कम्भक से ज्ञात होता है कि आचार्य भरत द्वारा मञ्चित लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक में उर्वशी लक्ष्मी की भूमिका में थी । परन्तु मेनका द्वारा यह पूछने पर कि "विष्णु आदि देवता तथा सारे लोकपालों में से तुम किसे चाहती हो ?" पुरूरवा के प्रेम में डूबी उर्वशी के मुंह से अचानक "पुरुषोत्तमे" के स्थान पर "पुरूरवसि" निकल गया । उर्वशी की इस धृष्टता से क्रुद्ध होकर आचार्य भरत ने उसे मृत्युलोक में जाने का शाप दे दिया । परन्तु नाटक की समाप्ति पर देवराज इन्द्र ने सान्त्वना देते हुए उर्वशी से कहा कि - "उर्वशी ! जिसके प्रति तुम्हारा प्रेम है वह राजर्षि मेरा रणसहायक है । उसका उपकार मुझे करना ही है । अतः सन्तान प्राप्त होने तक तुम महाराज पुरूरवा की सेवा में रहो ।"[1]

इसप्रकार देवराज इन्द्र की ही प्रेरणा से उर्वशी पुरूरवा के पास आती है । पुराणों में वर्णित इन्द्र का चरित जहाँ द्वेष-मात्सर्य से ओतप्रोत है वहीं विक्रमोर्वशीय में उसे मित्रवत्सल तथा प्रत्युपकारपरायण दिखाया गया है । पुरूरवा इन्द्र का रणसहायक

---

1. महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता- यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम् । तद् तावद् त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावद् स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति ।

है अतः उर्वशी का उसके प्रति अनुराग होना इन्द्र को अच्छा लगता है । वह स्वयं भी उर्वशी के माध्यम से अपने मित्र का प्रिय करना चाहता है । फलतः प्रसन्न होकर उर्वशी को पुरूरवा की अर्धाङ्गिनी बनने तथा उसे सन्तति प्रदान करने की प्रेरणा देता है । शाकुन्तलनायक दुष्यन्त के ही समान, पुराणों में वर्णित ईर्ष्याद्वेषपरायण इन्द्र को भी महाकवि कालिदास ने यहाँ सद्गुणों से मण्डित प्रदर्शित किया है ।

देवराज इन्द्र की सहृदयता की पराकाष्ठा नाटक के अन्तिम अंक में देखने को मिलती है । उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न पुरूरवा के पुत्र आयु को लेकर सत्यवती नामक तापसी च्यवनाश्रम से प्रतिष्ठानपुर आती है । राजा पुत्र का परिचय पाकर प्रसन्न हो उठते हैं परन्तु उर्वशी को इन्द्र का आदेश स्मरण हो उठता है कि "सन्तानोत्पत्ति तक तुम पुरूरवा की सेवा करो ।"

उर्वशी के रोने का कारण जान पुरूरवा भी व्यथित हो उठते हैं और पुत्र आयु का राज्याभिषेक कर , तपस्या के लिये बन को प्रस्थान करने का निश्चय कर लेते हैं । परन्तु तभी देवर्षि नारद आते हैं रम्भा के साथ , देवराज इन्द्र का सन्देश लेकर । इन्द्र ने सन्देश भेजा है कि "महान् देवासुर-संग्राम होने वाला है । आप मेरे रणसहायक हैं । अतः आपको अस्त्रत्याग नहीं करना है । यह उर्वशी भी यावज्जीवन आपकी सहचरी बनी रहेगी ।[1]

इसप्रकार देवराज इन्द्र की परम कृपा एवं सहृदयता के ही कारण पुरूरवा तथा उर्वशी का वियोग नहीं हो पाता । यह कथांश ऋग्वेद तथा महाभारतादि कथांश के सर्वथा विरूद्ध है क्योंकि पुराणों में तो इन्द्र को छल-छद्म का आश्रय लेकर उर्वशी को स्वर्ग लौटा ले जाने की बात कही गई है ।

---

1. महान् सुरासुरसंगरो भावी । भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः । तेन न त्वया शस्त्रं संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुः तब सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

विक्रमो0 अंक 5

अभिज्ञानशाकुन्तल में इन्द्रसन्दर्भ

कविकुलगुरू कालिदासप्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल में भी इन्द्र प्रत्यक्षतः पात्र रूप में नहीं प्रयुक्त हुआ है। परन्तु नाटक का छठा तथा अन्तिम सातवां अंक इन्द्र के ही चरितवर्णन से ओतप्रोत है। धीवर से मुद्रिका प्राप्त होते ही हस्तिनापुर-नरेश दुष्यन्त को कण्वतनया शकुन्तला के साथ सम्पन्न अपने प्रणयप्रसंग की स्मृति हो आती है तथा शकुन्तला के प्रति किये गये अपने अभद्र आचरण को स्मरण करके राजा सन्तप्त हो उठता है। उसकी व्यथा से प्रकृति भी विदीर्ण हो उठती है। वसन्त ऋतु भी पतझर सी प्रतीत होने लगती है क्योंकि दुष्यन्त ने वसन्तोत्सव मनाने का निषेध कर दिया है।[1]

सन्तानविहीन सार्थवाह धनमित्र की मृत्यु नौकादुर्घटना में हो जाती है। उसका समाचार सुनते ही दुष्यन्त को अपनी अनपत्यता का स्मरण होता है। वह भग्नहृदय होकर रोने लगता है यह अनुभव करके कि उसकी मृत्यु के बाद पुरूवंश में भी कोई पुरखों को पिण्ड देने वाला नहीं रह जायेगा।

ऐसी ही विपन्न वेला में देवराज इन्द्र द्वारा प्रेषित उनका सारथी मातलि आता है - देवासुरसंग्राम में इन्द्र की सहायता के लिये दुष्यन्त को ले जाने के लिये। परन्तु दुष्यन्त को व्यथा एवं अश्रु में डूबा देख, उसके शौर्य-पराक्रम को उभारने के लिये वह अलक्षित होकर विदूषक (माढव्य) को मारने लगता है। माढव्य का आर्तनाद सुनते ही राजा की करूणा और व्यथा सचमुच पीछे छूट जाती है और वह क्रोधाविष्ट होकर, धनुष-वाण लेकर मित्र की रक्षा के लिये दौड़ पड़ता है। वैरी को प्रत्यक्ष न देखकर ज्योंही वह शब्दवेधी बाण का सन्धान करता है कि तभी मातलि प्रकट हो जाता है और अपने आचरण की सफाई देता हुआ देवराज इन्द्र का सन्देश प्रस्तुत करता है। इन्द्र ने दुष्यन्त को कालनेमि के वंशज दुर्जय नामक दानवों के वध के लिये आमंत्रित किया है।[2]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6-4
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6-30

दुष्यन्त इन्द्र की इस कृपा से स्वयं को कृतार्थ मानता है तथा माढव्य को सान्त्वना देते हुए, महामात्य आर्यपिशुन को निर्देश देकर अमरावती की ओर चल पड़ता है ।[2]

नाटक के सप्तमांक में दुष्यन्त का मातलि के साथ पृथ्वीलोक लौटने का वर्णन मिलता है । दोनो के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि दुष्यन्त ने इन्द्र का मनोरथ सम्पादित कर दिया । वह देवराज द्वारा दिये गये मानसम्मान से अभिभूत है । मातलि कहता है कि दुष्यन्त ने भी देवराज का कम उपकार नहीं किया है । फिर भी दुष्यन्त इन्द्र के ही स्वागत-सत्कार को अधिक मानता है क्योंकि सारी देवमण्डली के समक्ष ही इन्द्र ने उसे अपने आधे आसन पर बैठाकर अपने ही हाथों मन्दारमाला उसके गले में पहनाई थी ।[3]

पुरूरवा की ही तरह दुष्यन्त भी अपने पौरूष को इन्द्र की कृपा का ही फल स्वीकार करता है ।[4] दुष्यन्त ने वस्तुतः देवराज के दानवकण्टक को उखाड़ फेंका था, ठीक उसी प्रकार जैसे प्राचीनकाल में भगवान् नृसिंह ने उन्हें हिरण्यकशिपु के भय से मुक्त कर दिया था ।[5]

दुष्यन्त तथा इन्द्र के पारस्परिक सख्यभाव तथा उपकार का उदात्तरूप हम महर्षि मारीच के आशीर्वाद में पाते हैं । दुष्यन्त को देखते ही देवराज इन्द्र के पिता

---

1. अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया ।
2. वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद् वचनादमात्य-पिशुनं ब्रूहि - त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयतु प्रजाः ।
   अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ।। 6-32
3. मातले ! मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य -
   अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
   आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ।। अभि0 7-2
4. अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा । पश्य......(श्लोक 7-4)
5. अभि0 7-3

महर्षि मारीच अपनी पत्नी दाक्षायणी (अदिति) को उनका परिचय देते हैं - "दाक्षायणि यह है दुष्यन्त, पृथ्वीलोक के स्वामी और तुम्हारे पुत्र (इन्द्र) के समरांगण में नेतृत्व करने वाले। इनके धनुष ने वह काम कर डाला जो इन्द्र का वज्र भी नहीं कर सकता था। फलतः वज्र तो मघवा का आभूषणमात्र बनकर रह गया।[1]

महर्षि मारीच को पुत्र तथा पत्नी से समन्वित दुष्यन्त में अपने पुत्र इन्द्र की ही समृद्धि दिखाई पड़ती है। तभी तो वह चरणवन्दना करती शकुन्तला को आशीष देते हैं -

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ।।

- अभि० 7-28

महर्षि मारीच दुष्यन्त को "इन्द्र का मित्र" सम्बोधित करते हुए (सख्युराखण्डलस्य रथमारूह्य) आशीर्वाद देते हैं - "तुम्हारी प्रजाओं को इन्द्र प्रभूत वर्षा वितरित करे और तुम भी सुदीर्घ यज्ञों द्वारा वज्रधारी इन्द्र को प्रसन्न करो। इसप्रकार एक-दूसरे का उपकार करते हुए तुम दोनों सैकड़ों युगों तक दोनों ही लोकों (स्वर्ग तथा पृथ्वी) के अनुग्रह से प्रशंसा के पात्र बनो।[2]

इसप्रकार शाकुन्तल नाटक में देवराज इन्द्र तथा दुष्यन्त न केवल परस्पर प्रगाढ मित्र है बल्कि मर्त्य तथा अमर्त्य संस्कृतियों के समन्वय के प्रतीक भी हैं। कालिदास की लेखनी ने दोनों ही नाटकों में देवराज इन्द्र के चरित्र को उदात्त तथा श्लाघनीय अंकित किया है। वह न केवल भूलोक का उपकारक है बल्कि स्वयं भी भूलोक से उपकृत है।

कालिदासोत्तर नाटककारों में शूद्रक, भवभूति, विशाखदत्त, भट्टनारायण, दिङ्नाग, मुरारि, राजशेखरतथा जयदेव आदि आते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में इन्द्र का यत्र-तत्र सांकेतिक उल्लेख ही प्राप्त होता है।

---

1. अभि० 7-26
2. अभि० 7-34

शूद्रक-प्रणीत मृच्छकटिक प्रकरण के पाँचवें अंक में वर्षा का अद्भुत वर्णन मिलता है । ऐसी ही मूसलाधार वर्षा में वसन्तसेना अपने प्रणयी चारूदत्त से अभिसार (एकान्त सम्मिलन) हेतु चल पड़ती है । वह इन्द्र को सम्बोधित करती हुई कहती है -

गर्ज वा वर्ष वा शक्र । मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ।।

प्रस्तुत श्लोक में इन्द्र को वर्षा के देवता के रूप में संबोधित किया गया है ।

समुद्रमथनम्

चन्देलवंशी नरेश परमर्द्दिदेव (1165-1203 ई0 के महामात्य वत्सराज ने जो 6 रूपक लिखे, उनमें समुद्रमथन नामक समवकार भी है । नाट्यशास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार समवकार में अनेक देवता नायक होते हैं । समुद्रमथन में भी मुख्यनायक तो विष्णु है परन्तु अन्य नायकों में ब्रह्मा, महेश, इन्द्र, कुबेर, वायु, बरूण, यम, वासुकि, मन्दराचल, निऋति तथा अग्नि हैं । यह समवकार तीन अंकों का है ।

इसप्रकार समुद्रमथन समवकार में देवराज इन्द्र भी एक नायक हैं । ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश - इन त्रिदेवों के अनन्तर देवराज होने के कारण सर्वाधिक प्रमुखता इन्द्र की ही है । समवकार के प्रथमांक में ही विष्णु तथा इन्द्र सागरमंथन के लिये मन्दराचल के आने की प्रतीक्षा करते हैं । देवगुरू बृहस्पति सागरमंथन के विरूद्ध हैं । उनका इन्द्र से विवाद भी हो जाता है[1] परन्तु विष्णु दोनों को आश्वस्त करते हैं[2] और ब्रह्मा तथा शिव के अनुमोदन से सागरमंथन प्रारंभ हो जाता है । द्वितीय अंक में कामिनीवेषधारी विष्णु द्वारा दानवों को छलपूर्वक अमृतपान से वंचित करने तथा तृतीयांक में विष्णु तथा लक्ष्मी के परिणय का वर्णन है । इन्द्र भगवान् विष्णु के प्रति विनत हो जाते हैं ।[3]

---

1. समुद्रमथन 1-19 (दुरन्तोऽयं मंथः प्रसभमुपहासाय भविता)
   वही 1-21 (तदत्र दुग्धाम्बुधिदीर्धिकायामुत्साहभङ्गः कतमस्तवायम् ?)

2. मालसं कुलिशं शा ॑ न बुद्धिर्विधुरास्ति ते ।
   सर्वं भावि शुभोदर्कं हरौ सहचरे मयि ।। समुद्र0 1-25

3. पादोदकं तव जनार्दन ! जाह्नवी या
   तत्तोयपूर्णजलधेर्मथनं क्रियते ?
   आज्ञाकरैस्त्रिदशदानवमन्दराद्यै-
   राडम्बरव्यतिकरोऽयमहो विनोदः ।। समुद्र0 1-27

अर्वाचीन संस्कृतनाट्यवाङ्मय

अर्वाचीन संस्कृत नाट्य-वाङ्मय में भी यत्र-तत्र इन्द्रचरित का उप[illegible] हुआ । डॉ० हरिनारायणदीक्षित-प्रणीत मेनकाविश्वामित्रम् , एस० बी० बा[illegible] शास्त्री का एकांकीसंग्रह "रूपकपुष्पमाला" तथा श्रद्धेय गुरूवर्य अभिराज डॉ० रा[illegible] मिश्र के एकांकियों में अनेक कृतियां इन्द्रचरित से जुड़ी हैं । यहां डॉ० मिश्र [illegible] एकांकियों का परिचय प्रस्तुत है ।

दास्यापनोदनम्[1] में पक्षिराज गरूड द्वारा देवराज इन्द्र से अमृतकुम्भ प्राप्त कर , उसे नागमाता कद्रू को अर्पित कर अपनी जननी विनता को दासता से मुक्त कराने का पौराणिक वृत्त अत्यन्त सरस तथा मर्मस्पर्शी नाटकीय शैली में वर्णित है ।

प्रस्तुत एकांकी के प्रथम दृश्य में विनता तथा वैनतेय का करूणाभरा वार्तालाप तथा अश्रुकातर नेत्रों वाली विनता द्वारा अपने दास्यभाव की घटना का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है । द्वितीय अंक में अमृतकुम्भ प्राप्त करने के लिये वैनतेय द्वारा अमरावती पर आक्रमण करने का वर्णन है ।

पुरन्दर तथा वैनतेय में सर्वप्रथम आक्षेप-युक्त वाचिक युद्ध होता है । तदनन्तर दोनो के बीच तुमुलयुद्ध प्रारंभ हो जाता है । क्रुद्ध इन्द्र गरूड पर वज्र प्रहार कर देते हैं फिर भी गरूड की कुछ भी हानि नहीं होती । इन्द्र विस्मित हो उठते हैं । तभी नेपथ्य से ब्रह्मा का स्वर सुनाई पड़ता है । वह प्रत्यक्ष प्रकट होकर दोनों के बीच शान्तिस्थापना कराते हैं । नारद द्वारा बताये गये उपाय से विनता अमृतकुम्भ देकर कद्रू की दासता से मुक्त भी हो जाती है तथा नाग अमृत का पान भी नहीं कर पाते हैं ।

---

1. नाट्यपंचामृतम् , अभिराजराजेन्द्रप्रणीत । अक्षयवटप्रकाशन इलाहाबाद, 1977 ई० (प्रथम एकांकी)

युद्धभूमि में अवतीर्ण इन्द्र , एक पक्षी को युद्धार्थ आया देख पहले उपहास करते हैं -

न चासि वृत्रो नमुचिर्बलो वा
न चापि मायानिपुणः पुलोमा ।
पर्णिर्न वा त्वं न च तारकोऽसि
प्लवंगमीभूय रवमेव धत्से ।।

- दास्या० श्लोक 10

परन्तु महाबली गरूड इन्द्र को करारा उत्तर देते हैं यह कह कर कि मेरी चोंच से मारे गये तुम्हारे सारे सैनिक रणभूमि में मरे पड़े हैं ।

पृतनामेव नश्यामि पश्यतस्तव सम्मुखम् ।
अशनिं मुञ्च शक्तिं वा यदि शक्तोऽसि रक्षितुम् ।।

इन्द्र अपने वाहन मदमत्त ऐरावत तथा अमोघ आयुध वज्र की धौंस दिखाते हैं परन्तु गरूड उनका उपहास करते हैं यह कह कर कि युद्ध से भाग कर या तो शची के मन्दिर में भागोगे ,, या मानसरोवर में जा छिपोगे या फिर गुरू बृहस्पति के पास पहुंचोगे - रक्षा का उपाय पूछने ।

{इन्द्रः} युद्धस्थलेषु मदमत्तगजाधिरूढो
दम्भोलिलालितकरोऽल्पकहुंकृतेन ।

{गरूडः} श्रुत्वैव शत्रुबलमाशु शचीनिवासं
संयाति मानसजलं भृगुनन्दनं वा ।। 12

वज्र से आहत होकर भी जब गरूड महर्षि दधीचि के प्रति आदरवश एक नन्हा पंख गिरा कर इन्द्र के बल-पौरूष की हंसी उड़ाते हैं तब उन्हें बड़ा विस्मय होता है । तभी भगवान् प्रजापति युद्ध बन्द करा देते हैं तथा नारायणवाहन गरूड से इन्द्र की मैत्री करा देते हैं ।

गरूड बड़ी विनम्रता से अपनी माँ की व्यथा निवेदित करते हैं[1] इन्द्र को तथा

---

1. न गर्वितः स्वार्थगतो न वैरितो न युद्धलिप्सुर्न च रोषकर्षितः ।
असह्यधात्रीपरिभूतिभर्त्सितस्त्वया सहाजौ समुपागतोऽस्म्यहम् ।। 25

अमृतकुम्भ की याचना करते हैं । देवराज इन्द्र आदरपूर्वक उन्हें अमृतघट दे देते हैं ।[1] अन्त में इन्द्र पक्षिराज गरूड को यह आशीर्वाद भी देते हैं कि जो भी व्यक्ति भय-संकट में , सर्प-सन्दर्भ में अथवा शत्रुसम्मर्द में तुम्हारा स्मरण करेगा उसका तिल भर भी अनिष्ट नहीं होगा । वह सर्पभय से सदैव मुक्त रहेगा -

यस्त्वां स्मरिष्यति नरो सहजं त्रिसन्ध्यं
यद्वा भये परिगते भुजगैरिते वा ।
तस्याहितं न तृणकं विदधत्यशिष्टाः
कद्रूसुताः सशपथं नियमं करोमि ।। दास्या0 ।7

अर्जुनोर्वशीयम्[2] एकांकी में वीर पार्थ के प्रति देवांगना उर्वशी के प्रणयनिवेदन-प्रसंग को अत्यन्त नवीनता के साथ , संगीत शैली में उपन्यस्त किया गया है । एकांकी के प्रथम दृश्य में , स्वर्गलोक में पहुँचे हुए महाधनुर्धर अर्जुन द्वारा देवपीडक कालकेयों के विनाश के उपलक्ष्य में आयोजित , उनके अभिनन्दन-समारोह का रसमय दृश्यांकन है । देवांगना उर्वशी , उस समारोह में अर्जुन के वीरवेष का अद्भुत अभिनय करती है । अर्जुन मंत्रमुग्ध होकर उर्वशी को देखते रह जाते हैं ।

यह दृश्य देखकर देवराज इन्द्र को ऐसा प्रतीत होता है मानो अर्जुन उर्वशी के रूप-लावण्य पर निछावर हो उठे हैं । फलतः वह उर्वशी को पार्थ की सेवा में प्रस्तुत होने का निर्देश देते हैं । उर्वशी स्वयं पार्थ के व्यक्तित्व के सम्मोहन में बंधी है अतः सहर्ष इस प्रस्ताव को मान लेती है ।

एकांकी के द्वितीय दृश्य में उर्वशी के प्रणयनिवेदन तथा पार्थ द्वारा उसके तिरस्कार का वर्णन है । क्षुब्ध तथा कदर्थित उर्वशी अर्जुन को वर्षभर षण्ढवृत्ति प्राप्त होने का शाप दे देती है ।

---

1. सुधाकुम्भमिमं दत्वा मातरं विशदां कुरू ।
   यदिच्छामि शुभं भूयाद् भूयाद्दास्यापनोदनम् ।। 24
2. नाट्यपंचामृतम् में संकलित । अभिराजराजेन्द्रप्रणीत । अक्षयवटप्रकाशन इलाहाबाद । प्रथमसंस्करण ।977 ई0 ।

एकांकी के प्रथम दृश्य में इन्द्र का चित्रण है । वह अभिनन्दनसमारोह में सिंहासनासीन हैं । पार्थ के प्रति उनका असीम वात्सल्य है क्षेत्रज पुत्र होने के कारण । अभिनन्दन से पूर्व ही तुम्बुरू तथा रम्भा आदि मिलकर इन्द्र की प्रशस्ति का गीत गाते हैं और वह परितुष्ट होकर उन्हें कलाईसेनिकालकर मणिखचित वलय प्रदान करते हैं । इससे देवराज इन्द्र की संगीतप्रियता तथा सेवकानुग्रहभाव प्रकट होता है । उर्वशी की नृत्यकला की इन्द्र भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तथा स्वयं को उसकी प्रशंसा में असमर्थ पाते हैं -

> कलयतियदि भानुः पद्मिनीनां प्रशंसां
> प्रभवति न विशेषस्तेन तस्याः कदाचित् ।
> विगलितयुगभावे प्रीतिबन्धे विरूढे
> भवति हृदयमेव व्यक्तवाग्वै न जिह्वा ।। अर्जुनो0 ।।

देवराज इन्द्र का अर्जुन के प्रति असीम अनुराग है । वह हर प्रकार से पार्थ को परितुष्ट करना चाहते हैं । इसी पुत्रप्रेम के कारण, उन्हें उर्वशी के प्रति अर्जुन को आसक्ति का भ्रम भी हो जाता है -

अये नागरसीमन्तिनीरूपमाधुरीमथितहृदयो ग्रामटिका-बटुक इव यदयं वत्सो मेऽभिभूतचेतनालेशं निपुणमवेक्षते वृन्दारकवधूटीम् उर्वशीं तेन स्पष्टं विज्ञायतेऽस्यानुराग एतस्याम् । भवतु, उपायं चिन्तयिष्याम्यनयोस्संगमस्य ।" - अर्जुनो0 प्रथमदृश्यम् ।

यद्यपि उर्वशी इन्द्र की प्रीतिपात्री है । अतएव उसे पार्थ की सेवा में भेजते एक बार उन्हें द्वैध का अनुभव होता है । परन्तु वह उर्वशी के अप्सराभाव को दृष्टि में रखकर उस द्वैध को भूल जाते हैं और उसे व्यभिचारजन्य वचनीयता से मुक्त मानते हैं । वीर पार्थ को भी वह शुभकामनाएं अर्पित करते हैं इसी भाव से -

> एषा ते शुभरात्रिर्भवतु मनोज्ञा प्रियाङ्कसुखदात्री ।
> सुरपुरवसतिसुखानां पात्रं भव कौन्तेय ! निशीथे ।। ।2

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' शीर्षक एकांकी में, एक ही द्रौपदी के साथ पञ्च पाण्डवबन्धुओं का विवाह युक्तियुक्त बताते हुए महर्षि वेदव्यास द्वारा कुन्ती तथा द्रुपद आदि को दिव्यदृष्टि देकर, उन्हें इन्द्र के विवादास्पद चरित्रों का प्रत्यक्ष-दर्शन

कराया गया है । वस्तुतः पांचों पाण्डव देवराज इन्द्र के ही पञ्चधा विभक्त अंशावतार हैं तथा द्रौपदी इन्द्र की पतिव्रता पत्नी शची है ।

देवराज इन्द्र के अनियंत्रित कामाचार से देवगुरू बृहस्पति रूष्ट हैं तथा उससे पृथक् हो चले हैं । इन्द्र त्वष्टापुत्र विश्वरूप को नया पुरोहित बनाते हैं परन्तु बाद मेंअसुरप्रशंसक तथा इन्द्रनिन्दक होने के कारण वह उसका वध कर देते हैं । इस ब्रह्महत्या के कारण "धर्म" इन्द्र का व्यक्तित्व त्यागकर धर्मराज के पास चला जाता है ।

पुत्रवध से क्षुब्ध त्वष्टा इन्द्रविनाशार्थ वृत्रासुर को उत्पन्न करते हैं । इन्द्र वृत्र से भयभीत हो उठते हैं । दोनों में घोर संग्राम होता है परन्तु भगवान् प्रजापति दोनों में मैत्री करा देते हैं । फिर भी भयभीत इन्द्र , सागरतट पर सन्ध्या करते वृत्र को वज्रप्रहार से मार डालते हैं । इस नृशंस हत्या के कारण "पराक्रम" इन्द्र का साथ छोड़कर "वायु" में लीन हो जाता है ।

लज्जित तथा हतप्रभ इन्द्र मातलि के साथ पृथ्वीलोक पर पहुंचते हैं महर्षि गौतम के आश्रम में । ऋषिभार्या अहल्या का अप्रतिम रूप-लावण्य देखकर वह अपना धैर्य-संयम खो देते हैं तथा व्यभिचार करने पर उद्यत हो जाते हैं । परन्तु तभी अहल्या उनका दुस्संकल्प भांप लेती है और उन्हें भर्त्सित करती है । महर्षि गौतम भी तभी आ पहुंचते हैं और इन्द्र का दुष्कर्म देख उन्हें "सहस्त्रयोनि" बन जाने का शाप दे देते हैं । बाद में इन्द्र द्वारा क्षमायाचना करने पर वह उन्हें "सहस्त्राक्ष" बनने का वर प्रदान करते हैं । परन्तु इन्द्र के इस दुष्कर्म के कारण उनका रूपसौन्दर्य-तत्त्व भी उनसे पृथक् होकर अश्विनी-कुमारों के पास चला जाता है । अब इन्द्र के शरीर में मात्र ऐश्वर्य-तत्त्व ही बच रहता है ।

इन्द्र के इस अधर्म , अपराक्रम तथा असुन्दर कर्मों को देख भगवान् प्रजापति उन्हें शाप दे देते हैं मर्त्यलोक में अवतरित होने के लिये । फलतः इन्द्र धर्म, वायु अश्विनीकुमारों तथा अपने व्यक्तिगत अंश से क्रमशः युधिष्ठिर , भीम, नकुल-सहदेव तथा अर्जुन के रूप में अवतरित होता है । पतिव्रता शची भी द्रौपदी के रूप में अवतीर्ण होती है ।

इसप्रकार एक ही ⟨अभिशप्त⟩ इन्द्र पाँच रूपों में विभक्त होकर पाण्डव-बन्धुओं के रूप में अवतीर्ण होता है । इस दृष्टि से प्रस्तुत एकांकी का शीर्षक "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" एकदम सार्थक प्रतीत होता है ।[1.]

स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत नाट्यवाङ्मय के सर्वाधिक चर्चित नाट्यकार, अद्यावधि 53 एकांकियों के कुशल स्रष्टा अभिराज डॉ0 राजेन्द्रमिश्र ने जिस नाटकीय कुशलता के साथ इतने बड़े कथानक को एक लघु एकांकी में समाहित कर दिया है वह अपने आप में एक विलक्षण तथ्य है । नाट्यकार इन्द्र के जीवन से जुड़ी सारी घटनाओं को पूर्वोन्मेष ⟨ FLASH BACK ⟩ के माध्यम से प्रदर्शित करता जो आज के चलचित्र-जगत् की एक लोकप्रिय तकनीक ⟨ व्यवस्था ⟩ है ।

एक ही एकांकी में तीन अन्य एकांकी गर्भित हैं जिनमें इन्द्र के जीवन की तीन प्रमुख घटनाएं हैं - विश्वरूपवध, वृत्रवध तथा अहल्याभिगम । ये तीनों ही घटनाएं, मूल एकांकी के पात्रों द्वारा प्रत्यक्ष देखी जा रही हैं । इनमें इन्द्र के चरित की मानवोचित दुर्बलताएं प्रदर्शित की गई हैं ।

बृहस्पति, इन्द्र के अमर्यादित कामाचार के कारण रूष्ट हैं फलतः इन्द्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाते हैं । परन्तु विश्वरूप त्रिशिरस् है । वह मद्यप, दैत्यप्रशंसक तथा इन्द्र का उपहासक भी है । वह इन्द्र की प्रशस्तिपरक वेद की ऋचा को अन्यथा पढ़ता है तथा इन्द्र को कामकीट सिद्ध करता है ।[2.]

विधाता ने यम से धर्म, विष्णु से ऐश्वर्य, मरूत् से बल तथा अश्विनीकुमारों से रूप-तत्त्व लेकर ही परमैश्वर्यशाली देवराज इन्द्र का व्यक्तित्व गढ़ा था ।[3] परन्तु अवध्य ब्राह्मण तथा गुरू के वध के कारण वह धर्मच्युत हो उठा ।[4.]

---

1. रूपरूद्रीयम् ⟨एकांकी-संग्रह का अन्तिम ।। वां एकांकी⟩ अभिराजराजेन्द्र-प्रणीत । वैजयन्त प्रकाशन इलाहाबाद, 1986 ई0 ।
2. य उर्वशीं रूपसुधैककुम्भां कुम्भस्तनीं सेवते निश्शशोकः ।
   बृहस्पतेरवमन्ता विलासी श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ।। एकं सद्0 श्लोक 7
3. द्रष्टव्य : एकं सद् विप्रा0 श्लोक 8
4. यस्माद्धतो गुरूर्विप्रो मघोना वेदवित्तमः ।
   धर्महीनं विहायैति तस्माद्धर्मो यमं प्रति ।। एकं सद्0 श्लोक 9

वृत्रवध के प्रसंग में भी इन्द्र का चरित्र अत्यन्त निन्द्य तथा कदर्य है । वह छल तथा वंचना का आश्रय लेकर समाधिमग्नमित्रकल्प वृत्र का वध करता है । उसके इस हेय आचरण की निन्दा मातलि भी करता है ।[1]

प्रस्तुत एकांकी में इन्द्र को परम लम्पट तथा इन्द्रियलिप्सा का क्रीतदास निरूपित किया गया है । अहल्या का मादक रूप देखते ही वह पराभूत हो उठता है । उसे अपने पाप , व्यभिचारवृत्ति तथा लम्पटता का पूर्ण ज्ञान है , फिर भी वह बिना परिणाम की चिन्ता किये साहस कर बैठता है और महर्षि गौतम का शापभाजन बनता है -

"कायलम्पट ! अहं त्वां भस्मसात्करोमि । त्रिलोकीमीशानोऽपि खण्डितवृत्तोऽसि ? शचीं सम्प्राप्यापि कामकीटायसे ? गच्छ दुर्वृत्त ! इतः प्रभृति त्वच्छरीरं सहस्त्रयोनिसम्पन्नं भविष्यति ।"

अपने इन्हीं दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिये इन्द्र को खण्डितव्यक्तित्वों के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है ।

कथावाङ्मय में इन्द्र-सन्दर्भ

संस्कृत का कथा-वाङ्मय अत्यन्त विशाल है । गद्य के दो प्रमुख भेदों में कथा एवं आख्यायिका आते हैं । ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित गद्यकृति को आखायिका तथा प्रबन्धकल्पना को कथा कहते हैं । बाणप्रणीत हर्षचरित , वामनभट्ट बाणप्रणीत वेमभूपालचरित तथा अम्बिकादत्तव्यास-प्रणीत शिवराजविजय आख्ययिका के उदाहरण हैं । कथासाहित्य भी लोककथा एवं जन्तुकथा (अथवा नीतिकथा) के रूप में द्विधा विभक्त है । लोककथाएं गद्य के साथ ही साथ पद्य में भी हैं । पद्यमय लोककथाओं में गुणाढ्य की बृहत्कथा , क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी, सोमदेव का कथासरित्सागर तथा बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह आते हैं ।

---

1. सख्यं नापेक्षितं हन्त धातृवाक्यं न सम्मतम् ।
शौर्यं कलंकितं वृत्रं वञ्चयित्वा घ्नता त्वया ।। एकं सद्0 श्लोक ।।

गद्यात्मक लोककथाओं में बाणप्रणीत-कादम्बरी , सुबन्धुप्रणीत वासवदत्ता, दण्डीप्रणीत दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरीकथा , सोड्ढलकृत उदयसुन्दरीकथा धनपालकृत तिलकमंजरी आदि आती हैं ।

जंतुकथा अथवा नीतिकथा में पंचतंत्र §विष्णुशर्मा§ हितोपदेश §नारायण§ शुकसप्तति , सिंहासनद्वात्रिंशिका , भरटकद्वात्रिंशिका तथा पुरुषपरीक्षा आदि ग्रंथ आते हैं ।

पंञ्चतंत्र के मित्रभेद-खण्ड में वर्णित देवशर्मा की कथा के प्रसंग में इन्द्र का उल्लेख एक श्लोक में इसप्रकार आया है -

स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पादशौचेन पितरः अर्घाच्छम्भुस्तथातिथेः ।।

अर्थात् अतिथि के स्वागत से अग्नि , आसन प्रदान करने से शतक्रतु §इन्द्र§ पादप्रक्षालन से पितर तथा अर्घ्य देने से शिव प्रसन्न होते हैं ।

मित्रभेद की ही सातवीं बककर्कटक कथा में बक बारहवर्षीय अनावृष्टि का योग समझाते हुए कहता है कि शनैश्चर रोहिणी के शकट का भेद करके जब मंगल और शुक्र से योग करता है तो अनावृष्टि होती है । अपनी बात के समर्थन में बक आचार्य वराहमिहिर का एक वाक्य उद्धृत करता है -

यदि भिन्ते सूर्यसुतो रोहिण्याः शकटमिह लोके ।
द्वादशवर्षाणि तदा नहि वर्षति वासवो भूमौ ।।

इस श्लोक में वासव अर्थात् इन्द्र के अवर्षण-योग की चर्चा की गई है ।

पंचतंत्र के मित्रसम्प्राप्ति खण्ड में वृत्रासुर के साथ किये गये इन्द्र के वञ्चनापूर्ण व्यवहार की चर्चा की गई है । चित्रग्रीव नामक कपोत का मित्र हिरण्यक नामक चूहा लघुपतनक §कौवा§ से कहता है कि तुम्हारी शपथ पर मेरा विश्वास नहीं है(क्योंकि) शपथपूर्वक मित्रता करने वाले शत्रु का भी कभी विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि इन्द्र ने शपथ करने के बाद भी वृत्र को मार डाला था । इतना ही नहीं , इन्द्र ने विश्वास पैदा करके ही विमाता दिति के गर्भ को नष्ट कर डाला था -

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ।। 41

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितिगर्भो विदारितः ।। 42

– पंचतंत्र {मित्रसम्प्राप्ति}

मित्रसम्प्राप्ति खण्ड की छठीं कथा {वृषभानुगशृगाल} में "निश्चय" के सन्दर्भ में चातक तथा इन्द्र के सम्बन्ध को निरूपित किया गया है –

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते ।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ।। 149

– पंचतंत्र {मित्रसम्प्राप्ति}

इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचतंत्र की कथाओं में इन्द्र को विविध आदर्शों के रूप में स्मरण किया गया है । कहीं वह आचारसंहिता { *Code of Conduct* } का प्रतिमान है तो कहीं शरणागतरक्षा का । कहीं ज्यौतिषीय दुर्योग का प्रमुख अंग है तो कहीं उदग्र राजनीति का । पंचतंत्रकार इन्द्र के इन स्वरूपों को पुराणों तथा स्मृतियों में वर्णित इन्द्रसम्बन्धी पुराकथाओं से ही उद्धृत करते हैं , यह विशेषता है ।

जैसाकि प्रारंभ में ही संकेत किया जा चुका है , महाकवि गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा ही समस्त संस्कृत कथावाङ्मय का मूलस्त्रोत है । बृहत्कथा तो आज दुर्लभ है परन्तु बुधस्वामी , क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव द्वारा विरचित उस कथा के तीन रूपान्तर सौभाग्य से उपलब्ध हैं । प्राकृत में भी जैनकवि संघदासगणी ने "वसुदेवहिण्डी" नाम से एक संस्करण तैयार किया । अतः बृहत्कथा के मूलरूप की कल्पना इन ग्रंथों के आधार पर की जा सकती है ।

सोमदेवप्रणीत कथासरित्सागर के नवमलम्बक के षष्ठ-तरंग में नल-दमयन्ती की पुराणप्रसिद्ध कथा {श्लोक 237 से 416 तक} वर्णित है जिसमें इन्द्र का भी सन्दर्भ आया है । नल-दमयन्ती के प्रणय-स्वयंवर का समाचार इन्द्रादि लोकपाल देवर्षि नारद से सुनते हैं तथा पांचों {इन्द्र, वायु , यम, अग्नि तथा वरुण} नल से मिलकर अपना सन्देश दमयन्ती के पास प्रेषित कराते हैं कि तुम पांच लोकपालों में से किसी एक का वरण कर लो । मानवयोनि में उत्पन्न नल से तुम्हारा क्या प्रयोजन ?1.

---

1. पञ्चानां वरयैकं नः किं मर्त्येन नलेन ते ?

देवों की कृपा से अदृश्य शरीर नल दमयन्ती के पास जाकर उनका सन्देश यथावत् कह देता है । देवों का सन्देश सुनकर पतिव्रता दमयन्ती ने भी उत्तर दिया - "देवता भले ही अमर हों , परन्तु मेरा पति तो नल ही होगा । मुझे देवताओं से क्या प्रयोजन ?"[1]

नल ने दमयन्ती का भी सन्देश लोकपालों को यथावत् सुना दिया । नल की सत्यवादिता से प्रभावित लोकपालों ने उसे वर दिया कि "हे सत्यवादिन् ! हम तेरे वश में हैं । तू जब भी स्मरण करेगा , हम तेरे समीप आयेंगे ।"[2]

जब पाँचों लोकपाल नल का रूप धारण कर नल के ही साथ स्वयंवर में बैठ गए तब उन्हें देखकर दमयन्ती विस्मित हो उठी । परन्तु उसने तभी पवित्र मन से कहा - "हे लोकपालों ! यदि स्वप्न में भी मेरा मन , नल को छोड़कर किसी अन्य पुरूष में आसक्त न हुआ हो तो तुम्हें मेरे सत्य की सौगन्ध है , अपना स्वरूप मुझे दिखाओ !" दमयन्ती का यह वचन सुनते ही इन्द्रादि स्वरूपतः प्रकट हो गये तथा उसने वास्तविक नल का वरण कर लिया ।

प्रकीर्णकोटिक इन्द्रोल्लेख

प्रकीर्ण का अर्थ है बिखरा हुआ । प्रकीर्णकोटिक इन्द्रोल्लेख का तात्पर्य है देवस्तुतियों तथा अन्यापदेशादि संग्रहों में यत्र-तत्र बिखरे हुए इन्द्र-सम्बन्धी सन्दर्भ । वस्तुतः इन्द्रसन्दर्भों का यह स्वरूप बड़े महत्त्व का है क्योंकि इनमें इन्द्र को विविध

---

1. सा तं श्रुत्वाऽब्रवीत्साध्वी देवास्ते सन्तु तादृशाः ।
   तथापि मे नलो भर्ता न कार्यं त्रिदशैर्मम ।। कथा0 9-6-265

2. वश्या वयमिदानीं ते स्मृतमात्रोपगामिनः ।
   तथ्यवादिन्निति च ते तुष्टास्तस्मै ददुर्वरान् ।। कथा0 9-6-267

3. भो लोकपालाः स्वप्नेऽपि नलादन्यत्र चेन्न मे ।
   मनस्तत्तेन सत्येन स्वं दर्शयत मे वपुः ।। कथा0 9-6-274

प्रतिमानों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । नीतिशास्त्रीय स्फुट पद्यों में भी इन्द्र को नानाविध संवेदनात्मक अनुभूतियों का प्रतिमान बनाया गया है । उदाहरणार्थ -

इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।

अर्थात् अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने पर तो देवराज इन्द्र भी छोटा हो जाता है ।" यहां इन्द्र को महत्ता एवं गुरुता का प्रतीक मानकर ही यह बात कही गई है । क्षेमेन्द्र तथा नीलकण्ठदीक्षित की व्यंग्यपरक रचनाओं में इन्द्रपरक ऐसी अनेक उक्तियां विद्यमान हैं । इन सबका क्रमिक विवेचन किया जा रहा है ।

पण्डितराज जगन्नाथ-प्रणीत अन्योक्तियों में इन्द्र से जुड़े सन्दर्भ अनेक बार आये हैं । भ्रमर की दुरवस्था का चित्रण करते हुए कवि बार-बार कहता है कि कहां तो नन्दन-वन में विहार करने वाला भ्रमर और कहां उसकी कुटज आदि पुष्पों में दुर्दशा ?

आजन्मकल्पतरुकाननकामचारी
यत्कौतुकादुपगतः कुटजं मिलिन्दः ।
तत्कर्मणः सुसदृशं फलमेतदेव
यत्प्राप साम्यमधुना मधुमक्षिकाभिः ।।[1]

आजीवन कल्पवृक्ष के वन में स्वतंत्र विचरण करने वाला भ्रमर यदि कौतुक वश कुटज पर आ बैठा तो यह उसके लिये उचित ही है कि लोग उसे मधुमक्खी समझने लगें (अर्थात् मनुष्य की प्रतिष्ठा उचित स्थान या पद पर रहने से ही होती है)

नन्दनजन्मा मधुपः सुरतरुकुसुमेषु पीतमकरन्दः ।
दैवादवनिमुपेतः कुटजसुमेष्वपि तमीहते वृत्तिम् ।।[2]

उच्चपदासीन व्यक्ति दुर्भाग्यग्रस्त होने पर हीनवृत्ति से भी जीवनयापन करने के लिये विवश हो जाता है जैसे नन्दनवन में उत्पन्न भ्रमर पृथ्वीलोक में आ जाने पर कुटज के पुष्पों से ही सन्तोष कर लेता है ।

---

1. पण्डितराजकाव्यसंग्रहः (अवशिष्टान्योक्तयः) श्लोक 5
2. वही , श्लोक 16

पुरन्दरपुरे पुरा रूचिरकानने नन्दने
निपीय मधुरं मधु प्रकटितारवो योऽभवत् ।
प्रशुष्कगलतालुको गलितमंजुलालापकः
स एव मधुपोऽधुना बदरिकारसं कांक्षति ।।[1]

प्रस्तुत अन्योक्ति में भी अमरावती पुरी के नन्दनवन में मधुर मधुपान करने वाले भ्रमर की बेर के फलरस की आकांक्षा के बहाने उसकी दुर्दशा का चित्रण किया गया है । इसीप्रकार कल्पतरू की मदिरा के आस्वाद से मेदस्विनी मधुकरी का, पृथ्वीतल पर आते ही, गिरगिट की गुहा में समा जाने की बात कवि एक अन्य पद्य में करता है -

पूर्वं कल्पतरूप्रसूनमदिरास्वादेन मेदस्विनी
भ्राम्यन्ती कृकलासवक्त्रकुहरं हा हन्त संगाहते ।।[2]

चातक {पपीहा} के सन्दर्भ में इन्द्र की चर्चा प्रायः आती है । पपीहा आकस्मिक {स्वभावतः प्राप्त} जलकणों से ही सन्तोष कर लेता है । वह जल की याचना देवराज इन्द्र से भी नहीं करता । मात्र इसलिये कहीं उसकी याचना व्यर्थ न हो जाय ?

आकस्मिककणैः प्राणान् धारयत्येव चातकः ।
प्रार्थनाभंगभीतोऽसौ शक्रादपि न याचते ।।[3]

प्रस्तुत पद्य में दाता {शक्र} की वदान्यता में शंका व्यक्त की गई है । परन्तु कहीं-कहीं ठीक इसका उल्टा बताया गया है । पृथ्वी पर जल देने वाले बादलों की क्या कमी है ? नहीं । परन्तु पपीहा जाने किस कारण से देवराज इन्द्र से ही जल की याचना करता है, किसी और से नहीं ।

के वा न सन्ति भुवि वारिवहावतंसा
हंसावलीवलयिनो जलसन्निवेशाः ।
किं चातकः फलमपेक्ष्य सुवज्रपातां
पौरन्दरीं कलयते नववारिधाराम् ।।[4]

---

1. पण्डितराजकाव्यसंग्रहः {अवशिष्टान्योक्तयः} श्लोक 23
2. वही, श्लोक -24
3. वही, श्लोक -232
4. वही, श्लोक-235

सागर से सम्बद्ध अन्योक्तियों में भी पण्डितराज देवेन्द्र की चर्चा करते हैं । प्रायः सबका भाव यही है कि लाभ लेते समय तो सब अपने बन जाते हैं परन्तु संकटकाल में लाभान्वित व्यक्ति भी पास नहीं फटकता । समुद्र ने मन्थन की घोर व्यथा सही । मंथन से निकले रत्नों को सारे देवताओं ने बांट लिया । परन्तु जब महर्षि अगस्त्य उसी समुद्र को पीने को उद्यत हो गये तो उन्हें रोकने के लिये कोई आगे नहीं बढ़ा ।

चन्द्रार्धेन विभूषितः पशुपतिः कल्पद्रुमैर्वासवः ।[1]
शक्रः कल्परूहैः शशाङ्ककलया श्रीशंकरस्तोषितः ।[2]
मह्यं श्रीरिति शाङ्गभृत् त्रिदशराट् चिन्तामणिर्मह्यमिति[3]
लक्ष्म्या श्रीपुरुषोत्तमो हिमरूचा गौरीप्रियोऽलंकृतो
देवेन्द्रोऽपि विमानवारणहयस्त्रीरत्नकल्पद्रुमैः ।
पीयूषैरमितैस्त्वया दिविषदश्चान्ये कृतार्थीकृताः
श्रीमन् वारिनिधे ! त्वदीयमहिमा नूनं न वाग्गोचरः ।।[4]

रसगंगाधर के उदाहरण-पद्यों में भी पण्डितराज जगन्नाथ ने देवराज इन्द्र को विविध सन्दर्भों में स्मरण किया है । किसी राजा की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि सहस्त्रनेत्र इन्द्र भी आपके अद्भुत रूप को देख पाने में समर्थ नहीं हैं –

गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न ।
इन्द्रः सहस्त्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेतुम् ।।

एक अन्य पद्य में किसी नरेश की तुलना इन्द्र के साथ करते हुए कवि कहता है कि कहां यह त्रिलोकी का स्वामी और कहां आप , पृथ्वी मात्र के बालक ? कहां वह सहस्त्रनेत्र और कहां आप , द्विनेत्र ? (भला दोनो में क्या तुलना है ?)

जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य क्षमातलं केवलमेव रक्षन् ।
कथं समारोहसि हन्त राजन् सहस्त्रनेत्रस्य तुलां द्विनेत्रः ??

---

1. पण्डितराजकाव्यसंग्रहः (अवशिष्टान्योक्तयः) श्लोक 502
2. वही , श्लोक-503
3. वही , श्लोक-504
4. वही , श्लोक-506

नन्दनवन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि ईश्वर करे वैश्वानर (अग्नि) तुमसे दूर रहे । हे नन्दनवन ! तुम स्वर्ग की शिखामणि हो, कल्पवृक्षों के आगार हो तथा पौलोमी-पुरुहूत की पुण्यावलियों की परिणति हो । तुम अग्निदाह से बचे रहो ।[1]

भर्तृहरिप्रणीत नीतिशतक में देवराज इन्द्र के वज्रप्रहार से नगराज हिमाचल के पक्षच्छेद की चर्चा आई है । पिता के उस संकट में प्राण बचाकर भागने वाले मैनाक की कवि निन्दा करता है । वस्तुतः यह अन्यापदेश संकट में साथ छोड़ने वालों स्वजनों पर एक तीखा प्रहार है ।

> वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
> प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
> तुषाराद्रेः सूनोरहह ! पितरि क्लेशविवशे
> न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ।।[2] नीति० 26

देवराज इन्द्र को ही आधार बनाकर भर्तृहरिने एक पद्य में पौरुष की व्यर्थता तथा नियति की बलवत्ता को प्रदर्शित किया है । वृत्रासुर, तारकासुर, रावण, हिरण्यकशिपु तथा बलि आदि अनेक असुरों ने यथावसर इन्द्र को रणभूमि में परास्त किया, यह पौराणिक प्रसंगों से सर्वथा स्पष्ट है । उसी तथ्य को साहित्यिक शैली में उपन्यस्त करते हैं भर्तृहरि - देवगुरु बृहस्पति जिसका पुरोहित हो वज्र आयुध हो, देवता सैनिक हों, स्वर्गलोक दुर्ग हो, भगवान् विष्णु सहायक हों तथा ऐरावत वाहन हो । इतने सारे ऐश्वर्यों से युक्त होताहुआ भी यदि इन्द्र समरांगण में वैरियों द्वारा पराजित कर दिया गया तो फिर दैव (नियति) ही सर्वोपरि है । धिक्कार है पौरुष को ।

---

1. प्रास्ताविकविलासः, श्लोक 55
2. इसी भाव का एक पद्य शार्ङ्गधरपद्धति के अन्योक्ति-खण्ड में भी आया है -

> शक्रादरक्षि यदि पक्षयुगं तथापि मैनाक । सन्ति तव नेह गतागतानि ।
> निःसत्त्वता च निरपत्रपता च किन्तु पाथोनिधौ निपतता भवतार्जितानि ।।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः परैः संगरे
तद् व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम् ।।

–नीतिशतक श्लोक–88

सुभाषितरत्नकोष , सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्गधरपद्धति , सुभाषितावली, प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर तथा प्रस्तावरत्नाकर आदि सुभाषित संग्रहग्रंथों में भी इन्द्रविषयक प्रकीर्ण श्लोकों का विपुल संग्रह है । विस्तारभय से यहां सबकुछ प्रस्तुत करना अपेक्षित नहीं प्रतीत होता । फिर भी कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

शार्ङ्गधरपद्धति (14वीं शती ई0) के प्रहेलिकापह्नुतिकूटाख्यान शीर्षक में एक श्लोक इसप्रकार वर्णित है –

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ।।

यह श्लोक आचार्य दण्डिन् द्वारा विरचित बताया गया है । इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि "सूर्यातप से सन्तप्त व्यक्ति आकाश को मेघाच्छन्न देख प्रसन्न हो रहा है ।" परन्तु है यह कूटश्लोक जिसका अर्थ निकाल पाना कठिन है ।

अर्थ इसप्रकार है – वि=गरूड के द्वारा जित= जीते गए इन्द्र के आत्मभव = अर्जुन के द्वेषी = कर्ण के गुरू (पिता) =सूर्य के पाद = किरणों से हत= सन्तप्त जन हिमापह= अग्नि के अमित्र= जल को धारण करने वाले = बादलों से व्याप्त व्योम = आकाश का अभिनन्दन कर रहा है ।

नदी–सम्बन्धी एक अन्योक्ति में कवि गंगा को पुरन्दरतरूणीसंगतिसुखदायिनी निरूपित करता है –

यद्यपि दिशि दिशि सरितः परितः परिपूरिताम्भसः सन्ति ।
तदपि पुरन्दरतरूणीसंगतिसुखदायिनी गंगा ।।

संकीर्णान्योक्ति शीर्षक में संकलित एक श्लोक में इन्द्र के रम्भासम्भोगजन्य सुखानुभव की चर्चा की गई है –

जम्भारिरेव जानाति रम्भासम्भोगविभ्रमम् ।
घटचेटी विट: किंस्विज्जानात्यमरकामिनीम् ।।

अन्यान्य प्रसंगों में भी इन्द्र का उल्लेख मिलता है जिनमें उक्तिवैचित्र्य का पुट विद्यमान है । किसी भूपाल की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते हुए कवि कहता है - हे राजन् ! आपकी सेना के प्रयाण करने पर अश्वों के खुरों से उड़ी धूल के कारण, खुले नेत्रों वाला सुत्रामा इन्द्र पातालमूल में स्थित शेष को भाग्यशाली मानता है (क्योंकि शेष की आँखें धूल से सुरक्षित हैं जबकि इन्द्र के सहस्त्रनेत्र धूल से भर गये हैं) और गजसेना के असह्य भार से पीड़ित शेष इन्द्र को भाग्यशाली मानते हैं (क्योंकि वह भारमुक्त हैं)

सुत्रामा बहु मन्यते फणिपतिं पातालमूलस्थितं
सोऽप्युद्दामकरीन्द्र दुर्धरभरकलान्त: सहस्त्रेक्षणम् ।।
- शार्ङ्गधर० श्लोक 1245

काव्यादि में वर्णित इन्द्रचरित का मूल्याङ्कन

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में स्पष्टत: लिखा है कि काव्य "लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म" होता है । काव्य का एकमात्र उद्देश्य है लोक के समक्ष यह आदर्श प्रस्तुत करना कि "रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्" अर्थात् हमें रामादि महापुरूषों के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण आदि लोकपीडक आततायियों के समान । आचार्य मम्मट के इस मन्तव्य से काव्य का आदर्शवादी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

पौराणिक-वाङ्मय में जहां इन्द्रकथाओं को उनके यथार्थ रूप में उपन्यस्त किया गया है, काव्यादि अभिजात संस्कृत-वाङ्मय में उन्हें आदर्श के साँचे में ढालकर ही प्रस्तुत किया गया है । काव्यादि वाङ्मय में उपनिबद्ध इन्द्रचरित की जो प्रमुख विशेषताएं परिलक्षित होती हैं वे इसप्रकार हैं -

1. <u>कौटुम्बिक-परिवेश</u> वैदिक इन्द्र का अधिकांश चरित उसके अकेले व्यक्तित्व की सीमा में सीमित है । कहीं भी उसके कौटुम्बिक परिवेश का सांगोपांग चित्रण नहीं मिलता है एकाध अपवादों को छोड़कर (इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि संवाद-सूक्त, ऋग्वेद दशम मण्डल)

पुराणों में भी इन्द्र का चरित उसके विविध व्यापक शौर्य-पराक्रम भरे कार्यों में सीमित है । परन्तु काव्यादि में चित्रित इन्द्र पूर्णरूप से कौटुम्बिक परिवेश का अंग है । यही कारण है कि काव्यादि वाङ्मय में वर्णित इन्द्र चरित में एक आदर्श पिता , आदर्श मित्र , आदर्श स्वामी तथा आदर्श पति का रूप देखने को मिलता है ।

कालिदास के नाटकों (विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल) में इन्द्र को पुरूरवा तथा दुष्यन्त के मित्ररूप में प्रस्तुत किया गया है । मित्र एक-दूसरे के सुख-दुःख के साथी होते हैं । इन्द्र के मन में अपने प्रिय मित्र पुरूरवा के प्रति ऐसा ही प्रेमभाव है । उसे जब ज्ञात होता है कि देवांगना उर्वशी पुरूरवा से प्रेम करती है और इसी प्रेम के कारण वह अभिनय करते समय "पुरूषोत्तम" की बजाय "पुरूरवा" कह बैठी है - तो पुरूरवा के प्रति उसका प्रेम उमड़ पड़ता है और वह आचार्य भरत के शाप से शापित उर्वशी को सान्त्वना देते हुए कहता है कि "उर्वशी ! जिसके प्रति तुम्हारा प्रेम है वह मेरा समराङ्गणमित्र है और मुझे तो उसका प्रिय (कल्याण) करना ही है । इसलिये तुम प्रसन्नतापूर्वक पुरूरवा की सेवा के लिये जाओ और सन्तानोत्पत्ति तक उनके साथ रहो ।

पुरूरवा के प्रति इन्द्र की मित्रता की प्रगाढ़ता की परख तब होती है जब पुत्ररत्न आयु को जन्म देने के बाद उर्वशी पुरूरवा से विच्छिन्न होने को होती है । प्रगाढ़ प्रेम के बन्धन में बंधे , अतृप्त प्रेमियों -पुरूरवा तथा उर्वशी - के लिये यह विछोह मृत्यु से कम नहीं है । उर्वशी का वियोग उपस्थित होते ही पुरूरवा संसार से विरक्त हो उठते हैं तथा आयु को राज्याभिषिक्त कर वन जाने को उद्यत हो जाते हैं । परन्तु देवराज इन्द्र को अपने मित्र की यह व्यथा सह्य नहीं है । वह देवर्षि नारद से सन्देश भेज कर पुरूरवा तथा उर्वशी को यावज्जीवन एक साथ रहने की अनुमति प्रदान कर देते हैं ।"[1]

अभिज्ञान शाकुन्तल में भी दुष्यन्त के प्रति इन्द्र का असीम अनुराग प्रदर्शित किया गया है । दुर्जय राक्षसवंश का विनाश कर देने पर देवराज इन्द्र दुष्यन्त के अभिनन्दनार्थ अमरावती में स्वागतसमारोह का आयोजन करता है । वह एक सहृदय

---

1. द्रष्टव्य -विक्रमो० अंक-5

मित्र की तरह प्रेम से सराबोर होकर वीर दुष्यन्त को अपने अर्धासन पर बैठाता है तथा अपने ही हाथों उसके गले में मन्दारमाला पहनाता है ।[1]

इसप्रकार लौकिक संस्कृत-वाङ्मय में वर्णित इन्द्र पौराणिक इन्द्र की तरह न तो मर्त्य राजाओं का अकारणवैरी है , न ही उन्हें अपनी अपेक्षा "अवर" मानने वाला । वस्तुतः वह गुणग्राही है । कुमार रघु पर जब उसका वज्रप्रहार निरर्थक सिद्ध हो जाता है तब रघु की वीरता से मुग्ध होकर देवराज इन्द्र स्वयं प्रकट हो जाता है और महाराज दिलीप को बिना सौवां यज्ञ सम्पन्न किये ही , शतक्रतुत्व का फल प्रदान करता है । वह कुमार रघु की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है ।

भासप्रणीत कर्णभारम् एकांकी में भी देवराज इन्द्र को पुत्रमोह से संग्रस्त एक सांसारिक पिता के रूप में प्रदर्शित किया गया है । जैसे एक सांसारिक पिता अपने पुत्र के हित के लिये सबकुछ करने को उद्यत रहता है और पुत्रमोहवश ही कभी-कभी विवेक को भी ताख पर रख देता है ठीक उसीप्रकार इन्द्र अपने पुत्र अर्जुन की हितकामना से प्रेरित होकर उसे अप्रतिम धनुर्धर बनाने में कोई कोर-कसर नहीं रखता । अर्जुन को सर्वाधिक भय सूर्यपुत्र कर्ण से ही है उसके दिव्य कवच-कुण्डल के कारण । फलतः वत्सल पिता के रूप में इन्द्र कर्ण से कवचकुण्डल प्राप्त करने में छल-वञ्चना का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करता क्योंकि उसे ज्ञात है कि कर्ण स्वतः तो सद्गुण-सम्पन्न है परन्तु दुर्योधन के प्रेम में वह अन्धा है और उसकी प्रसन्नता मात्र के लिये कोई भी नृशंस कृत्य करने में वह संकोच नहीं करेगा । फलतः उसे दिव्य कवचकुण्डल से हीन करके सामान्य मर्त्यकोटि का योद्धा बना देना ही उचित है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से इन्द्र की मित्रवत्सलता तथा पुत्रप्रेम का सुस्पष्ट प्रमाण मिलता है । इसीप्रकार अन्यापदेशों में आये पद्यों से उसकी दानशीलता तथा शरणागतरक्षा का भी बोध होता है । इस सन्दर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ का यह श्लोक उद्धरण देने योग्य है -

---

1. द्रष्टव्य - अभिज्ञान० 7-2

एक एव खगो मानी वने वसति चातकः ।
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम् ।।

2. सद्गुणाश्रयता: पुराणों में जहां पदे-पदे इन्द्र की कामलिप्सा तथा द्वेष-मत्सर भाव को विविध कथाओं के माध्यम से उजागर किया गया है काव्यादि वाङ्मय में प्रायः उसके व्यक्तित्व के गुणात्मक पक्ष को ही प्रकाशित किया गया है । उसके व्यक्तित्व में तिरोहित कल्याणात्मक मानवीय संवेदनाओं को ही कवियों ने अधिक वर्णित किया है । इन काव्यों में देवराज इन्द्र के दाम्पत्य को आदर्श निरूपित किया गया है । वह पौराणिक वाङ्मय का इन्द्र नहीं है जो कि सर्वगुण-सम्पन्न , पतिव्रता-शिरोमणि शची के रहते हुए भी निरन्तर व्यभिचार में डूबा रहता है । लौकिक संस्कृत वाङ्मय का इन्द्र अपनी भार्या में सर्वथा अनुरक्त एक आदर्श गृहपति है । इसका प्रमाण हम कालिदास-प्रणीत शाकुन्तल नाटक में पाते हैं जहां महर्षि मारीच राजर्षि एवं शकुन्तला को आशीष देते हुए कहते हैं -

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव. ।। शाकु0 7-28

इन्द्र में कृतज्ञता तथा प्रत्युपकार का भाव कूट-कूट कर भरा है । कर्ण से कवचकुण्डल लेने के बाद वह प्रत्युपकार की भावना से भर जाता है और स्वयमेव उसे एक शत्रुसंहारक अमोघ शक्ति देने का प्रस्ताव रखता है । कर्ण के निषेध करने के बावजूद भी वह उसे शक्ति प्रदान करता है ।[1]

इन्द्र में स्वामी के समस्त गुण विद्यमान हैं । देवताओं पर विपत्ति पड़ते ही वह उद्विग्न हो उठता है । वह असुरों से जूझने के लिये निरन्तर उद्यत रहता है । यदि उसका शौर्य-पराक्रम काम नहीं कर पाता तो वह समुचित समाधान के लिये भगवान् प्रजापति (ब्रह्मा) विष्णु अथवा देवाधिदेव शिव की शरण में जाता है । कालिदासप्रणीत कुमारसम्भव में इन्द्र के , देवमण्डलीसहित ब्रह्मा की शरण में जाने का वर्णन प्राप्त होता है । असुर विनाश के लिये वह पुरूरवा, दुष्यन्त तथा अर्जुन जैसे भूलोकीय वीरों की सहायता भी लेता है ।

---

1. द्रष्टव्य कर्णभारम् (भासप्रणीत)

3. <u>दिव्यादिव्य संस्कृतियों का समन्वय</u>. वैदिक-वाङ्मय का इन्द्र पूर्णतः अन्तरिक्षलोक का देवता है । पौराणिक वाङ्मय का इन्द्र भी अमरावतीश्वर है जो कि स्वार्थवश ही (यज्ञों में सोमपानार्थ, कामपिपासा के शमनार्थ) कभी-कभी धराधाम पर आता है । परन्तु लौकिक संस्कृत वाङ्मय में चित्रित इन्द्र स्वर्ग एवं मृत्युलोक की समन्वित संस्कृति का प्रतीक है । उसे जितनी चिन्ता देवों के योग-क्षेम की है उससे कम मानवों की नहीं । वस्तुतः पार्थिव नरेशों से उसका पारस्परिक योग-क्षेम का सम्बन्ध है । पार्थिव नरेशों द्वारा विशाल यज्ञों के माध्यम से उसे परितुष्ट किया जाता है और इस उपकार के बदले इन्द्र के द्वारा भी प्रभूत जलवृष्टि करके पृथ्वी शस्यश्यामला बना दी जाती है ।[1]

इन्द्र समृद्धि एवं ऐश्वर्य का प्रतीक है । इसीकारण पृथ्वीपालक नरेश को भी "राजेन्द्र" के रूप में सम्बोधित किया गया है जिसका स्पष्ट तात्पर्य है - राजाओं में इन्द्र (श्रेष्ठ)

इसप्रकार हम देखते हैं कि लौकिक संस्कृत-वाङ्मय के रचनाकार पौराणिक तथा वैदिक इन्द्रकथाओं को जैसा का तैसा नहीं ग्रहण करते । वे उन कथाओं का अन्धानुकरण नहीं करते । बल्कि लोकमंगल की सिद्धि के उद्देश्य से इन्द्रचरित का आदर्श रूप ही ग्रहण करते हैं जो सत्य, शिव तथा सुन्दर की सिद्धि में सहायक हो सकें । लौकिक संस्कृत-वाङ्मय का इन्द्र पूर्णरूप से एक पार्थिव प्राणी बन जाता है । उसके चरित्र में देवत्व की अपेक्षा मानवीय सहृदयता अधिक दृष्टिगोचर होती है ।

---

1. द्रष्टव्य अभिज्ञान0 7-34

"पञ्चम अध्याय"

इन्द्रसन्दर्भों की व्यापकता तथा भारतीय संस्कृति के निर्माण में उनका योगदान

-0-0-0-

इन्द्रसन्दर्भों की व्यापकता तथा भारतीय-संस्कृति के निर्माण में उनका योगदान

इन्द्र-सन्दर्भों की व्यापकता का अत्यन्त संक्षिप्त तथा आंशिक उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है । ये सन्दर्भ मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त हैं -

1. एशिया माइनर क्षेत्र [वर्तमान तुर्किस्तान]
2. ईरान क्षेत्र
3. बृहत्तर भारत क्षेत्र [दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्र]

इन क्षेत्रों की विशेषता यह है कि इनमें सर्वत्र "इन्द्र" नाम से ही इन्द्र की चर्चाएं उपलब्ध होती हैं । अतएव स्पष्ट है कि ये समस्त क्षेत्र कभी वैदिक सभ्यता, संस्कृति एवं देवोपासना के क्षेत्र रहे होंगे । मयसंस्कृति [मेक्सिको] असुरसंस्कृति [असीरिया] सुमेरू-संस्कृति तथा बेबिलोन-संस्कृति [ईराक] अथवा ग्रीक-संस्कृति में भी वर्षा के देवता का कोई न कोई रूप विद्यमान अवश्य है । परन्तु उसे हम आर्यसंस्कृति के इन्द्र से प्रत्यक्षतः नहीं जोड़ सकते ।

एशियामाइनर क्षेत्र में इन्द्र का उल्लेख "इ-न्द-र" के रूप में मिलता है । बोगाज़कोई के उत्खनन से प्राप्त शिलापट्ट पर इन्द्रादि चार वैदिक देवताओं के कीलाक्षर नामोल्लेख से जहां विद्वानों की यह धारणा दृढ़ हुई कि कभी एशिया माइनर क्षेत्र में वैदिक संस्कृति का सर्वस्व विद्यमान था वहीं कुछ संकीर्ण विचारधारा के विद्वानों ने यह सिद्धान्त भी स्थापित करना चाहा कि आर्य-संस्कृति का मूलस्थान मध्य-एशिया ही था और भारत में आने वाले आर्य मूलतः आक्रान्ता ही थे जिन्होंने कि यहां के मूलनिवासियों - द्रविड़ों को पराजित कर दक्षिण-भारत की ओर खदेड़ दिया तथा अपनी सत्ता स्थापित कर ली ।[1]

वस्तुतः आर्यों को विदेशी मानना तथा आर्यसंस्कृति को आयातित स्वीकार करना तथा वेदोल्लिखित इन्द्र के दासों के साथ हुए संघर्ष को "आर्य-द्रविड-संघर्ष" का

---

1. बोगाज़कोई उत्खनन के सन्दर्भ में अपेक्षित सामग्री प्रथम अध्याय में प्रस्तुत की जा चुकी है ।

रंग देना , भारतविरोधी पाश्चात्य विद्वानों का एक षड्यंत्र मात्र था । वेबर , विण्डिश तथा स्टीन जैसे अनेक ऐसे पाश्चात्य विद्वान् थे जो भारतीय साहित्य को ग्रीक-साहित्य का अनुवर्ती ही मानते थे । वे किसी भी भारतीय कला , विद्या अथवा वस्तु को अत्यन्त प्राचीन मानकर , उसे गौरव देने के पक्ष में नहीं थे । लार्ड मैकाले स्वयं ऐसे विद्वानों का प्रशंसक था जो भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य का अवमूल्यन करने में समर्थ थे । अपने एक पत्र में उसने प्रो० मैक्समूलर को भी धन्यवाद लिख भेजा था वेदों को ईसा से मात्र 1200 वर्ष प्राचीन मानने के लिये । मैकाले के पत्रों से भारतीय-संस्कृति एवं साहित्य के अवमूल्यन के पीछे स्थापित एवं सक्रिय सुनियोजित तथा शासनसमर्थित षड्यंत्र का पता लग जाता है । दुर्भाग्य तो यह है कि भारतीय इतिहासकार ऐसे षड्यंत्रों के समर्थन में विदेशी विद्वानों से भी दो कदम आगे हैं ।

परन्तु ऐसे संकीर्ण तथा दुराग्रही विचारों का खण्डन दूसरे विदेशी विद्वानों ने स्वयं किया है । एशियामाइनर में प्राप्त इन्द्रोल्लेख तथा वैदिक संस्कृति के पल्लवन के सन्दर्भ में प्रो० ह्राज्नी , प्रो० जैक्सन , स्टेनकोनो , विण्टरनित्ज तथा हिलब्राण्ट महोदय ने पर्याप्त लिखा है जिसका विवरण प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है । विण्टरनित्ज़ तथा हिलब्राण्ट ने भारतीय आर्यसंस्कृति के पश्चिमी एशिया में क्रमिक प्रचार-प्रसार को अनेक अकाट्य प्रमाणों के आधार पर निरूपित किया है जिनमें कि उत्खनन से प्राप्त मृत्फलक प्रमुख हैं ।

ईरान में मुस्लिमों के आक्रमण से पूर्व अग्निपूजक पारसीकों की सभ्यता एवं संस्कृति विद्यमान थी । इनका धर्मग्रन्थ अवेस्ता है जिसकी भाषा वेदमंत्रों के अत्यन्त समीप है । वेद तथा अवेस्ता की भाषा में उतना ही साम्य है जितना कि संस्कृत एवं महाराष्ट्री शौरसेनी आदि प्राकृत भाषाओं में ।

वेदों की ही तरह अवेस्ता का भी अपना देवशास्त्र है । अधिकांश देवता भी वही हैं जो ऋग्वेद में उल्लिखित हैं । परन्तु दोनो धर्मग्रंथों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहां ऋग्वेद में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं , सर्वाधिक चर्चित एवं उपस्तुत है - अवेस्ता में इस

नाम से समान अर्थ में उसका उल्लेख भी नहीं है । अवेस्ता में इन्द्र का स्थान अग्नि ने ले लिया है । यह और भी आश्चर्यजनक तथ्य है कि वृत्रहन् जोकि ऋग्वेद में इन्द्र के एक विशेषण मात्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है , अवेस्ता में एक स्वतंत्र देवता के रूप में वर्णित हुआ है।यद्यपि मैकडानेल इन दोनों को सर्वथा पृथक् मानते हैं , परन्तु अधिसंख्य विद्वानों की दृष्टि में अवेस्ता का वैरेथ्रेग्न् ﴾=वृत्रहन्﴿ तथा वेदों का वृत्रहन् इन्द्र ही है । परवर्ती फारसी में यही शब्द "बहराम" के रूप में प्रयुक्त हुआ है । आर्मीनियन भाषा में भी यही शब्द "वहग्न" के रूप में विद्यमान है ।

अवेस्ता का वैरेथ्रेग्न् ही ऋग्वेद का वृत्रहन् इन्द्र है" - इस तथ्य की सिद्धि वैरेथ्रेग्न् सम्बन्धी विवरणों से भी हो जाती है । डॉ0 गयाचरण त्रिपाठी जी ने इन विवरणों की विस्तृत-समीक्षा अपने शोधप्रबन्ध में की है जिसका एक संक्षिप्त सारांश यहां साभार प्रस्तुत किया जा रहा है । डॉ0 त्रिपाठी स्पष्टतः अपना विचार व्यक्त करते हैं । इन्द्र तथा वैरेथ्रेग्न् की एकता के सन्दर्भ में - "मैकडानेल, ओल्डेनवर्ग तथा श्लीगल का यह मत भी अप्रमाणित एवं अयुक्त है कि भारोपीय-काल में "आकाश में गरजने वाले देवता" के अतिरिक्त "तडिद्गर्जन" का भी एक स्वतंत्र एवं पृथक् देवता था । प्रथम देवता से मैकडानेल का क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है । इसप्रकार के दो पृथक् देवता कभी नहीं रहे । इन्द्र एवं वृत्रहन् की धारणाएं सदा एक ही रही हैं । इन्द्र मुख्यतः वृष्टि का देवता है और वृत्र वृष्टि का अवरोध करता है । उसे मारे बिना वृष्टि नहीं हो सकती । वृत्रहन् को तडित् के देव से कोई सम्बन्ध नहीं है ।"[1]

---

1. द्रष्टव्य वैदिकदेवता , उद्भव और विकास , पृ0-23। डॉ. गयाचरण त्रिपाठी ।

फादर ए0 जिमरमैन ने भी स्पष्ट शब्दों में इन्द्र को वर्षा का देवता स्वीकार किया है ।[1] और यदि इन्द्र वर्षा का ही देवता है तो वही वृत्रघ्न भी है क्योंकि समूचे ऋग्वेद में वृत्र को वर्षाविरोधक असुर के ही रूप में कल्पित किया गया है । वृत्र का वध करके ही इन्द्र जल की सात धाराओं को पृथ्वी पर प्रवाहित करता है ।

इस प्रकार ए0 जिमरमैन वृत्रघ्न तथा इन्द्र को एक ही मानते हैं । ऐसी स्थिति में अवेस्ता का वैरेथ्रेग्न भी वैदिक इन्द्र ही स्वीकारणीयहै । परन्तु इस स्वीकृति के बाद भी यह प्रश्न पहेली ही बना रह जाता है कि अवेस्ता में उल्लिखित (मात्र दो बार) इन्द्र , जो कि अंग्रामइन्यु नामक दानव के ही समान है , दानव-कोटि में क्यों और कैसे आ गया ? अवेस्ता का इन्द्र "दएव" (दैव = दानव) है ।

फिर भी यह एक स्थापित तथ्य है कि वैरेथ्रग्न के रूप में वृत्रहन्ता इन्द्र अवेस्ता के देवशास्त्र में विद्यमान है । वैदिक इन्द्र की ही तरह वैरेथ्रेग्न भी युद्ध का देवता है जिसका वर्णन अवेस्ता के 14वें यश्त में किया गया है । यह वर्णन अत्यन्त ओजस्वी, उत्साह का संचार करने वाला तथा जनभाषा में "जुझारू" किस्म का है जिसे पढ़ते ही पढ़ते रक्त में ऊष्मा आ जाती है । वैरेथ्रेग्न के शौर्य-पराक्रम का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह विजय तथा साफल्य का देवता है । फलतः युद्ध में एक दूसरे पर विजय पाने के लिये दोनों ही युयुत्सु-पक्ष उसका आवाहन करते हैं ।वैरेथ्रेग्न का यह वर्णन एकदम वैदिक इन्द्र की उस प्रशस्ति के अनुकूल है जिसमें यह कहा गया है कि "क्रन्दन करती हुई दोनो ही पक्षों की जुझारू सेनाएं इन्द्र को सहायता के लिये पुकारती हैं ।"[2]

---

1. All the commentators are agreed that Indra is connected with the release of waters Whether he is the god of the thunderstorm and monsoon rain, or the god who broke the fetters of frost and winter and melting the snow on the mountains, sent down the rivers into the plains, depends upon the nature of his opponent Vrtra. Vrtra's removal is Indra's greatest deed because he is वृत्रहन्, the ritual recognizes him as महेन्द्र.
A. Zimmermann (Vedic Mythology)
Peterson's II Selection of Hymns from Rgveda Appendix II

2. ऋग्वेद 2-12-8

ऋग्वेद में बताया गया है कि महाबली इन्द्र ने सर्प के रूप में विद्यमान "अहि" को मारा तथा अवरुद्ध जलधाराओं को मुक्त कर दिया -

> यो हत्वाऽऽहिमरिणात्सप्त सिन्धून्
> यो गा उदाजदपधा वलस्य ।।
> - ऋग्वेद0 2-12-3

ठीक ऐसा ही वर्णन अवेस्ता में भी उपलब्ध होता है । अवेस्ता के साक्ष्यानुसार वैरेथ्रेग्न ने "अझिदहाक" पर विजय प्राप्त की । अवेस्ता का 'अझि' निश्चित रूप से वैदिक अहि शब्द का ही रूपान्तर है । वैरेथ्रेग्न अझिदहाक के अतिरिक्त विशाय को भी परास्त करता है तथा उसे दमावन्द पर्वत पर किसी कन्दरा में बन्दी बना देता है ।

वैदिक इन्द्र के विषय में अनेकधा यह बात कही गई है कि वह मायानिपुण असुरों के विनाशार्थ माया का प्रयोग करता है ।[1] वह रणभूमि में देखते ही देखते गायब हो जाता है और लोग पूछने लगते हैं कि इन्द्र कहाँ है ? वह है भी या नहीं ?[2] अपनी मायाशक्ति से ही इन्द्र नानाप्रकार के रूप धारण कर लेता है ।[3] उसकी माया का कोई अन्त नहीं है ।

अवेस्ता के 14वें यश्त में यस्न 19 से 21 तक वैरेथ्रेग्न के भी इसी वैशिष्ट्य का उल्लेख मिलता है । वह नानाप्रकार के रूपों को धारण करने में समर्थ है । प्राप्त विवरण के अनुसार वह वात्याचक्र, पीतकर्ण तथा सुवर्णशृङ्ग वृषभ, श्वेत अश्व, तीक्ष्णदन्त उष्ट्र आदि के रूप में क्रमशः आता है । अवेस्ता में वैरेथ्रेग्न के ऐसे दस रूपों का वर्णन है । सबसे अन्त में वह एक सुदर्शन युवक के रूप में आता है ।

---

1. द्रष्टव्य : यद्ध त्यं मायिनं मृगं
   तमु त्वं माययाऽवधीः ।। ऋग्वेद 1-80-7
2. द्रष्टव्य : यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्
   उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।। ऋग्वेद 2-12-5
3. द्रष्टव्य : रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
   इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ।।
   - ऋग्वेद 6-47-18

डॉ0 गयाचरण त्रिपाठी के शब्दों में "उसे शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली, विजय से भी अधिक विजयी , यश से भी अधिक यशस्वी एवं कृपा से भी अधिक कृपालु बताया गया है । वारेग्न नामक एक मांसाशी पक्षी उसका दूत है । वह स्वयं भी प्रायः इस पक्षी का रूप धारण किया करता है ।[1]

वैरेथ्रेग्न के सन्दर्भ में प्रस्तुत बार्थोलोमे के मत की समीक्षा अनपेक्षित होने के कारण छोड़ी जा रही है ।[2]

इन्द्रसन्दर्भों की व्यापकता का तीसरा प्रमुख क्षेत्र है दक्षिणपूर्व एशिया जिसे इतिहासकार "बृहत्तर भारत" (The Greater India) कहते हैं । इस क्षेत्र में एशिया महाद्वीप के अनेक राष्ट्र आते हैं । सुदूरपूर्व से पश्चिम के क्रम में वर्तमान वियतनाम (प्राचीन चम्पा) कम्बोडिया (प्राचीन कम्बुज) थाईलैण्ड (प्राचीन सुखोदय, द्वारावती तथा अयोध्या साम्राज्य) मलेशिया (प्राचीन कटाहद्वीप अथवा शैलेन्द्र-साम्राज्य) म्यान्मार अथवा बर्मा (प्राचीन सुवर्णभूमि) बृहत्तर-भारत के अन्तर्गत आते हैं । इन समस्त भूखण्डों में थोड़े बहुत कालविपर्यय के साथ भारतीय-साम्राज्य , ईसा की प्रथम शती से प्रायः 15वीं शती ई0 तक विद्यमान रहा ।

इन भूखण्डों के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर की अतल जलराशि में स्थित अनेक द्वीप भी बृहत्तर भारत के अंग रहे जिनमें उपर्युक्त अवधि में भारतीय-साम्राज्य स्थापित रहे । ये सभी द्वीप समय-समय पर स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अथवा विशाल यव-साम्राज्य के रूप में पल्लवित-पुष्पित होते रहे । आज ये समस्त द्वीप विशाल इण्डोनेशिया राष्ट्र

---

1. द्रष्टव्य : वैदिक देवता : उद्भव और विकास, पृ0-129
   वारेग्न पक्षी के सन्दर्भ में डॉ0 त्रिपाठी , ईरानियन माइथालोजी के लेखक कारनाय का मत उद्धृत करते हुए बताते हैं कि विद्युल्लेखा ही वारेग्न पक्षी के रूप में कल्पित की गई है ।

2. द्रष्टव्य : वही पृ0-130

के रूप में पहचाने जाते हैं , परन्तु प्राचीनकाल में इन्हें श्रीविजय {सुमात्राद्वीप} यवद्वीप {जावा} बालीद्वीप तथा तुञ्जुंगपुर {बोर्नियो अथवा वर्तमान कालीमन्तान} आदि के रूप में जाना जाता था । ये समस्त द्वीप प्रायः स्वतंत्र राजसत्ता वाले थे , परन्तु मजपहितवंशी सम्राट् हयम् वुरूक् के शासन-काल में ये सब विशाल यव-साम्राज्य के अंग थे ।

आज एकमात्र बालीद्वीप को छोड़कर शेष समस्त भूखण्ड इस्लामी राजसत्ता के अधीन हैं । थाईलैण्ड तथा म्यान्मार {बर्मा} में बौद्धधर्म की प्रबलता है । परन्तु यह समूचा बृहत्तर भारत क्षेत्र , अपनी प्राचीन संस्कृति एवं इतिहास के रूप में आज भी अपनी पुरानी पहचान को सुरक्षित रखे हुए हैं - हिन्दू मन्दिरों के सुरक्षित अथवा भग्नप्राय अवशेषों , तीर्थों , पवित्र क्षेत्रों , पर्वतों तथा धराशायी नगरों के खण्डहरों के रूप में ।

बाली-द्वीप के अमरावती-क्षेत्र {पेतानू तथा पकेरिसान नामक नदियों की अन्तर्वेदी} की विस्तृत चर्चा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है । मयदानव के साथ देवराज इन्द्र के भयावह संघर्ष तथा अन्ततः बातुर पर्वत-शिखर पर इन्द्र द्वारा मय के बध का भी विस्तृत-विवरण भी प्रस्तुत किया जा चुका है । "उशना-बाली" नामक पुराकथात्मक ग्रंथ में वर्णित इस कथा का ऋग्वेद वर्णित वृत्र-इन्द्र संघर्ष से शत-प्रतिशत साम्य है - यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है । इससे भी बड़ा आश्चर्य तो यह है कि मयदानव की राजधानी {बेदौलु नगर} मय तथा इन्द्र का प्रथम युद्धस्थल {केन्द्रान गांव} मयद्वारा देवसेना को विषाक्त जल पिलाकर मार डालने का स्थल {मनुकाया गांव} इन्द्र द्वारा वज्र से पृथ्वी विदारित कर अमृततोया गंगा {पकेरिसान नदी} को प्रकट करने का स्थान {तीर्त-एम्पुल मन्दिर} तथा इन्द्र द्वारा मय के विनाश का स्थान {बातुर-पर्वत} - ये सब के सब बालीद्वीप में आज भी यथावत् सुरक्षित हैं । बाली के आस्थावान् हिन्दुओं को यह विश्वास करा पाना भी कठिन है कि वृत्र एवं इन्द्र के संघर्ष का स्थल बाली में नहीं पवित्र भारतभूमि में रहा है ।

बालीद्वीप के तीन प्रमुख आदिवासी क्षेत्रों - तेगंनान् , त्रुन्यान् तथा बेडुगुल सरोवर के तटवर्ती गांव ब्रातन्} - के निवासी आज भी अनेक दृष्टियों से अलग-थलग हैं ।

तेगंनान के निवासी जो स्वयं को "बाली-अगा" कहते हैं, बालीवासियों की तरह विष्णु, शिव अथवा बुद्ध की पूजा न करके, देवराज इन्द्र की उपासना करते हैं। तेगंनानवासियों की सारी आचार-संहिता, शादी-विवाह, कर्मकाण्ड तथा कोर्ट-कचहरी अपने गांव में ही सीमित है। किसी भी प्रकार का नियमोल्लंघन करने वाला व्यक्ति गांव से निर्वासित कर दिया जाता है। तेगंनान गांव की कोई भी कन्या गांव से बाहर नहीं व्याही जाती। ये लोग स्वयं को ही बाली-द्वीप का वास्तविक निवासी (बाली-अगा) मानते हैं जो कि बाली द्वीप के मजपहित-साम्राज्य के अधीन होने पर, भागकर पर्वत-श्रेणियों में आ बसे। यह घटना सन् 1348 ई० में घटी जब जावी-साम्राज्य के महापतीह (सेनापति) गजहमद ने भीषण आक्रमण कर बालीनरेश भूमिरत्न बण्टेन् को उच्छिन्न कर दिया तथा बालीद्वीप को विशाल यवसाम्राज्य का अंग बना लिया।

इस आक्रमण के बाद ही बाली की प्रभुसत्ता समाप्त होगई। बड़ी संख्या में जावा के हिन्दू इस सुरम्य-द्वीप में आ बसे जोकि वैष्णव, शैव अथवा बौद्ध थे। इन्द्रपूजक बालीवासी या तो इन्हीं में विलीन हो गये अथवा भागकर पर्वतों मे जा छिपे। जो लोग पर्वतों में जा छिपे वे आज भी अपनी प्राचीन आस्था को यथाकथंचित् संजोये हुए हैं। वे स्वयं को बाली-अगा तथा शेष द्वीपवासियों को "मजपहित"[1] कहकर सम्बोधित करते हैं।

इसप्रकार देवराज इन्द्र की पूजा का प्रचार यथाकथंचित् आज भी बाली-द्वीप के आदिवासी क्षेत्रों में प्रचलित है।[2]

---

1. मजा = बिल्वफल, पहित-तीता। यवद्वीपीय संस्कृत शिलालेखों में तिक्तबिल्व के रूप में उद्धृत यह नगर पूर्वी जावा में स्थित था तथा विशाल यव-साम्राज्य की राजधानी था। इसके भग्नावशेष आज भी मलंग नामक नगर के पास विद्यमान हैं।

2. यह सम्पूर्ण प्रमाणिक विवरण पूज्य गुरूवर्य डॉ० राजेन्द्र मिश्र द्वारा लिखित ग्रंथ "बालीद्वीपे भारतीया संस्कृति" (संस्कृतश्रीः में धारावाही प्रकाशित, श्रीरंगम १९८९) के आधार पर प्रस्तुत है।

महाराज श्रीमार ने अमरावती नामक साम्राज्य की स्थापना चम्पा (वियतनाम) में की थी । अमरावती की राजधानी का नाम था - इन्द्रपुर । कालान्तर में चीनियों के सतत आक्रमणों के कारण इन्द्रपुर का ऐश्वर्य-वैभव नष्ट हो गया तथा श्रीमार के वंशजों ने विजयपुर (वर्तमान विन्हडिन्ह) को राजधानी बनाया । यह नगर मध्य वियतनाम में स्थित था । इस नगर के भी ध्वस्त हो जाने के बाद चम्पा के शासकों ने अपनी तीसरी राजधानी देश के सुर दक्षिण में स्थापित की जिसे पाण्डुरंग (वर्तमान फनरंग) कहा गया ।

इन्द्रपुर के भग्नावशेष आज भी "डुओ-डुआंग" के रूप में उत्तरी वियतनाम में विद्यमान हैं जो इस बात के साक्षी हैं कि ईसा की तीसरी-चौथी शती में यह क्षेत्र देवराज इन्द्र का साम्राज्य माना जाता था । साम्राज्य का नाम अमरावती तथा राजधानी का नाम इन्द्रपुर ! यह एक ऐसा श्रद्धेय ऐतिहासिक तथ्य है जिससे इस क्षेत्र का देवराज इन्द्र के प्रति असीम भक्तिभाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।[1]

प्रमाण के अभाव में, इन्द्रचरित की व्यापकता का यह सन्दर्भ अब यहीं समाप्त किया जा रहा है । परन्तु इतना तो निश्चित है कि वैदिक-धर्म का प्रचार-प्रसार विश्व के जिस किसी भी भूभाग में हुआ है, इन्द्र किसी न किसी रूप में वहाँ अवश्य ही चर्चा का विषय रहा है ।

कर्मकाण्डीय व्यवस्था एवं इन्द्र

इन्द्रतीर्थों का बृहद् विवेचन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है । परन्तु इन्द्र केवल तीर्थों का ही निर्माता नहीं है बल्कि वह तांत्रिक विधियों एवं मंत्रात्मक पुरश्चरणों का मूलाधार भी रहा है । यद्यपि इस सन्दर्भ में न तो शोधकर्ता का गहन अध्ययन है और न ही कर्मकाण्डीय जटिलताओं को समझने की पात्रता ही है, तथापि शोधविषय की सांगोपांगता को दृष्टि में रखकर, उपलब्ध विवरणों का संग्रह मात्र किया जा रहा है ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - सुवर्णद्वीप भाग-1, डॉ० आर० सी० मजूमदार । 'चम्पा' शीर्षक अध्याय ।

1. इन्द्रमंत्र के पुरश्चरण से आर्थिककष्टमुक्ति

श्री के0 ए0 दुबे पद्मेश ने आर्थिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिये इन्द्रमंत्र के पुरश्चरण का विधान बताया है जो इसप्रकार है ।[1]

ॐ भूरिदा भूरिदेहिनो मादभ्रं भूर्याभर
भूरिधेदिन्द्र दित्ससि ।
भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर
वृत्रहन् आ नो भजस्व राधसि ।।

2. ऐश्वर्यप्राप्त्यर्थ महाविद्या-प्रयोग

मार्कण्डेय पुराणोल्लिखित दुर्गासप्तशती में शची (इन्द्र की पत्नी) को साक्षात् नारायणी (लक्ष्मी) कहा गया है । देवराज इन्द्र की शक्तिभूता शची भी महाविद्या का ही एक रूप-विशेष है जिसके शास्त्रसम्मत समर्चन से मनोवांछित कामनाओं की सिद्धि होनी सम्भव है । इस महाविद्या के प्रयोग में "इन्द्रदेहिनी स्वाहा" शीर्षक मंत्रव्याहृति से हवन करने का विधान है साथ ही साथ निम्नलिखित मंत्र (श्लोकात्मक) का विधिसम्मत पुरश्चरण अपेक्षित है -

ॐ किरीटिनि महावज्रे सहस्त्रनयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ।।[2]

- दुर्गासप्तशती ।

3. पूर्वदिशा का दिग्बन्ध

पुरश्चरण में लीन साधक को पद-पद पर अनिष्टकारी विघ्नबाधाओं का भय बना रहता है । अतः समस्त दिशाओं को सुरक्षित तथा निर्विघ्न बनाने का विधान तंत्रग्रंथों में बताया गया है । चूंकि पूर्व दिशा का स्वामी पुरन्दर है अतएव पौरस्त्य दिग्बन्ध के लिये इन्द्र के ही मंत्र का विधान है , जो इसप्रकार है -

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य - चमत्कारी मंत्र-तंत्र तथा टोटके । लेखक के0 ए0 पद्मेश ।वर्ल्ड बुक कम्पनी दिल्ली से प्रकाशित ।
2. देव्यथर्वशीर्ष में भी भगवती स्वयं को इन्द्ररूपा बताती है - सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः अर्थात् वह शक्ति ही ब्रह्मा, इन्द्र तथा मनु है । वाक्-सूक्त में पुनः कहा गया है - अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ अर्थात् मैं ही इन्द्र तथा अग्नि हूँ । मैं ही दोनों अश्विनीकुमार हूँ ।

ॐ नमो भगवते महेन्द्रदिशायामैरावतारूढं वज्रहस्तं परिवारसहितं दिग्देवताधिपतिमैन्द्रमण्डलं बध्नामि स्वाहा । ॐ ऐन्द्रमण्डलं बन्धय बन्धय रक्ष रक्ष माचल माचल माक्राम्य माक्राम्य स्वाहा । इति दिग्बन्धे ।

4. यज्ञोपवीत में इन्द्रन्यास

उपनयन के अवसर पर समस्त कर्मकाण्ड के सम्पन्न हो जाने पर आचार्य वटु को यज्ञोपवीत धारण कराता है – यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् आदि मंत्रश्लोक का उच्चारण करते हुए । यज्ञोपवीत में तीन धागे होते हैं और प्रत्येक धागा पुनः त्रिवृत होता है । इसप्रकार यज्ञोपवीत में कुल नौ गुण (तन्तु) होते हैं जिनमें प्रत्येक तन्तु में एक देवता का न्यास(अधिष्ठान) होता है ।

एक तन्तु में देवराज इन्द्र का भी न्यास होता है । अतः वटु की ओर से आचार्य , यज्ञोपवीत धारण कराते समय , यह भी कहता है – "इन्द्रं न्यस्यामि ।"

5. शत्रुविनाशक इन्द्रमंत्र

अनेक गोपनीय तंत्रग्रंथों में विपत्तिनिवारण तथा शत्रुविनाश के लिये इन्द्र के निम्नलिखित मंत्र का जप विहित बताया गया है –

ॐ सजोषा इन्द्रः सगणो मरुद्भिः
सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ।
जहि शत्रूनरपमृधोनुदस्वा-
थाऽभयं कृणुहि विश्वतो नः ।।

6. रक्षापरक इन्द्रमंत्र

विवाहपद्धति के कुशकण्डिका-प्रकरण में कलशजल से यजमान का अभिषेचन करते हुए , निम्नलिखित इन्द्रपरक मंत्र द्वारा रक्षाविधान का उल्लेख किया गया है –

इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः । स माऽवत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ।

7. पञ्चमहाव्याहृति में प्रथमः इन्द्र

किसी भी यज्ञ में विशेष आहुति प्रदान करने से पूर्व पञ्च महाव्याहृतियों का

विधान बताया गया है । इन पांचों में भी सर्वप्रथम आहुति देवराज इन्द्र को ही प्रदान की जाती है इस मंत्रोच्चारण के साथ -

"ओम् इन्द्राय स्वाहा । इदमिन्द्राय न मम ।"

8. <u>पवित्रीकरण इन्द्रमंत्र</u>

प्रत्येक कर्मकाण्डीय विधान में कलशजल से यजमान का अभिषेक करते हुए आचार्य यह मंत्र पढ़ता है - "अश्विनो भैषज्येन......इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रिये यशसे ऽभिषिञ्चामि ।" अर्थात् बल , ऐश्वर्य तथा कीर्ति के लिये मैं इन्द्र की इन्द्रिय से तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ।

9. <u>इन्द्रमंत्र से मूलशान्ति</u>

ज्योतिषशास्त्र में अश्विनी , रेवती , मघा , आश्लेषा , ज्येष्ठा तथा मूल नक्षत्रों को "गण्डान्त" की संज्ञा दी गई है । इन नक्षत्रों में उत्पन्न जातक किसी न किसी के लिये (माता, पिता, भाई, धन आदि) अनिष्टकारी होते हैं । अतः इनके मूल की शान्ति करना अनिवार्य हो जाता है ।

इनमें भी ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी इन्द्र है । अतएव ज्येष्ठा के गण्डान्त की मूलशान्ति इन्द्रमंत्र द्वारा ही कराई जाती है जो इसप्रकार है -

ॐ त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं
हवे-हवे सुहवे शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं
स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ।।

ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न बालक के ही समान बालिका भी अपने जेठ के लिये अनिष्टकारिणी होती है । अतः उपर्युक्त इन्द्रमंत्र द्वारा ही उसकी भी मूलशान्ति करानी आवश्यक होती है । इस सन्दर्भ में दैवज्ञों ने कहा है -

ज्येष्ठजा स्वपतिज्येष्ठं देवरं तु द्विदैवजा ।
मूलजा श्वशुरं हन्ति सार्पजा श्वशुराङ्गनाम् ।।

ज्येष्ठा नक्षत्र में बीमार पड़ने वाले रोगी जल्दी स्वस्थ नहीं हो पाते हैं । कहा तो यहाँ तक गया है कि "स्वातीन्द्रपूर्वाशिवसार्पके मृतिः अर्थात् स्वाति , इन्द्रनक्षत्र {ज्येष्ठा} पूर्वात्रय {पूर्वाषाढ , पूर्वाभाद्रपद तथा पूर्वाफाल्गुनी} शिवनक्षत्र {आर्द्रा} तथा सार्पनक्षत्र {आश्लेषा } में बीमार रोगी की मृत्यु अवश्यम्भावी होती है और यदि इन नक्षत्रों के साथ , बीमार पड़ने के दिन शनि , मंगल तथा रविवार का एवं प्रतिपदा , चतुर्थी , नवमी , चतुर्दशी तिथियों का भी योग हो जाय तो फिर क्या कहना ? ऐसे रोगी को तो देवता भी नहीं बचा सकते ।

ऐसी स्थिति में बस एक ही समाधान है – नक्षत्रविशेष के स्वामी की सर्वविध आराधना । इसीलिये ज्येष्ठा नक्षत्र में बीमार रोगी के लिये उपर्युक्त इन्द्र मंत्र का विधिवत् जप करवाया जाता है ताकि अनिष्ट का निवारण हो सके ।

इसप्रकार सामान्यकोटि के दैनन्दिन सामाजिक कर्मानुष्ठानों में हम इन्द्रमंत्रों का विविधार्थक विनियोग पाते हैं । दर्श , पौर्णमास , वाजपेय , सोमयाग , गवामयन अश्वमेध आदि महायज्ञों में तो इन्द्र-मंत्रों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान है जो कि यागयज्ञ-सम्बन्धी ग्रंथों से ही जाना जा सकता है ।

पारलौकिक श्रेय एवं इन्द्र

भारतीय जन-जीवन में लोक तथा परलोक का अत्यधिक महत्त्व है । भारतीय दर्शनों ने जन-जीवन को लोक तथा परलोक के सन्तुलन में व्यवस्थित करने का भरपूर प्रयत्न किया है । लोक का तात्पर्य है दृश्यमान जगत् जिसमें मनुष्य जीवन-यापन करता है । परलोक का तात्पर्य है मृत्यु के अनन्तर जीव को प्राप्त होने वाले लोक । प्रायः समस्त दर्शनों ने संसार की असारता , क्षणभंगुरता तथा महत्त्वहीनता का प्रतिपादन करते हुए , मुक्ति {अपवर्ग, कैवल्य , मोक्ष अथवा निर्वाण} प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का मार्ग प्रशस्त किया है । लोक को ही इह, इहलोक अथवा संसार भी कहते हैं जबकि परलोक को परत्र ,पराभौतिक जगत् , अतिभौतिक जगत् या आमुष्मिक लोक कहते हैं ।

भारतीय दर्शन पुनर्जन्म में दृढ़ आस्था रखता है । जीवन की अक्षीण वासनाओं तथा जन्म-जन्मान्तर के कर्मबन्धनों के कारण जीव को बार-बार पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है तथा नानाप्रकार के दुःखों, कष्टों तथा विपत्तियों को झेलना पड़ता है । अतएव मनुष्य के जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है इन दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना । सांसारिक सुखोपभोग इन्द्रियों को तृप्त करने के कारण प्रिय अवश्य लगते हैं परन्तु हैं वे सभी दुःखपर्यवसायी ।[1] इसके विपरीत पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि कष्टकर भले हो परन्तु वास्तविक कल्याण (श्रेय) उसी में निहित है । श्रेयोमार्ग के सन्दर्भ में योगिराज भर्तृहरि कहते हैं -

> प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
> काले शक्त्या प्रदाने युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
> तृष्णास्त्रोतोविभंगो गुरुषु च विभवः सर्वभूतानुकम्पा
> सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ।।
>
> - नीतिशतक (भर्तृहरि) श्लोक 26

परलोक की सिद्धि के लिये कठोपनिषद् में इष्ट तथा पूर्त कर्मों का विधान किया गया है । यज्ञ-यागादि को इष्टकर्म तथा लोकोपकारकारक कर्मों को पूर्त कहा जाता है । ऐसे ही उत्तम कार्यों से पारलौकिक श्रेय की प्राप्ति संभव है ।[2]

1. <u>गोदान</u>

पौराणिक सन्दर्भों में देवराज इन्द्र के माध्यम से ऐसे ही पारलौकिक अभ्युदयों की रोचक चर्चा की गई है । गोदान-महिमा का एक ऐसा ही प्रसंग महाभारत के अनुशासनपर्व (अध्याय 72, 73) में युधिष्ठिर तथा भीष्म के संवादरूप में वर्णित किया गया है ।[3]

---

1. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । श्रीमद्भागवद्गीता ।
2. द्रष्टव्य कठोपनिषद् 1-1-8
   इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तम् आरामादिक्रियाजं फलम् (शाङ्करभाष्य)
3. अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
   यथाऽपृच्छद् पद्मयोनिमेतदेव शतक्रतुः ।। अनु० पर्व० 72-5

एक बार इन्द्र ने प्रजापति ब्रह्मा से पूछा कि प्रभो ! गोलोकवासी पुण्यवान् स्वर्गनिवासियों को भी हतप्रभ बनाते हुए, उन्हें लांघकर चले जाते हैं । गोदान करने वाले ये पुण्यवान् जिस लोक में जाते हैं वह कैसा है ? वहां क्या फल प्राप्त होता है ?

इन्द्र की उत्सुकता देखकर ब्रह्मा ने कहा - इन्द्र ! अनेक ऐसे लोक हैं जिन्हें तुम नहीं जानते । उन्हें या तो मैं जानता हूँ या फिर पतिव्रता स्त्रियाँ । उन्हीं लोकों में एक प्रमुख लोक है - गोलोक, जिसमें समाधिस्थ अवस्था में शरीर से अलग हुए महात्मा पहुंचते हैं । वहां किसी का अमंगल नहीं होता । वहां सर्वसहिष्णु, क्षमाशील, दयालु गुरू-आज्ञापालक तथा निरहंकारी मनुष्य ही रहते हैं । विरूद्ध आचरण वाले मानवों को यह लोक नहीं ही प्राप्त होता ।

गाय सर्वदेवमय है । उसके अंग-प्रत्यंग में देवताओं का निवास है । यहां तक कि उसका मूत्र-पुरीष भी तेजोमय है । परन्तु गोदान करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है सत्पात्र ब्राह्मण को गोदान करना । गाय का अपमान तथा हत्या करने वाले नृशंस लोग, गाय की शरीर में उगे रोम की संख्या वाले वर्षों तक नरक में वास करते हैं । दान दी जाने वाली गायें भी स्वस्थ एवं क्षीरदा होनी चाहिए ।[1] माता-पिता और गुरू की सेवा में तत्पर, गायों तथा ब्राह्मणों पर क्रोध न करने वाले, धर्मानुरक्त, भगवच्चिन्तनानुरक्त, मांसाशन से विरत, सत्यव्रत, मृदुल, देवाराधक तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही गोलोकधाम को प्राप्त कर पाता है । इसके विपरीत परस्त्रीगामी, गुरू की हत्या करने वाला, असत्यवादी, अनर्गलप्रलापी, द्विजद्रोही, विश्वासघाती, अतिन्धानपरायण, प्रवञ्चक तथा दुरात्मा व्यक्ति गोलोक का दर्शन भी नहीं पा सकता ।[2]

---

1. कठोपनिषद् में बालक नचिकेता अपने पिता महर्षि उद्दालक को बूढ़ी, ठाँठ तथा निरर्थक गायों का दान करते देख उद्विग्न हो उठता है और पिता से हठ करता है कि "तात ! मुझे किसको अर्पित कर रहे हैं ?"
2. सविस्तर द्रष्टव्य - महाभारत अनु0 पर्व अ0 72 से 83 तक ।

2. भूमिदान

युधिष्ठिर तथा भीष्म के संवाद-रूप में ही , भूमिदान की भी महिमा का वर्णन महाभारत के अनुशासन पर्व (अध्याय 62) में आया है ।

महान् दक्षिणाओं से युक्त सौ यज्ञों की पूर्ति के बाद देवराज इन्द्र ने देवगुरू बृहस्पति से पूछा - हे वक्तृश्रेष्ठ ! आप मुझे उस दान के बारे में बतायें जो अक्षयफल प्रदान करने वाला हो । बृहस्पति ने इन्द्र को उत्तर दिया -

> सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं च वृत्रहन् ।
> (विद्यादानं च कन्यादानं पापहरं परम्)
> ददद्देतान् महाप्राज्ञः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।55
>
> - महा० अनु० अ०-62

बृहस्पति ने पुनः कहा - देवराज ! जो ब्राह्मणों तथा गायों की रक्षा के लिये , राष्ट्रविनाश तथा कुलांगनाओं के अपमान के अवसर पर, प्राण दे देता है वह भूमिदान के ही बराबर पुण्य का भागीदार होता है । भूमिदान से अलंकृत व्यक्ति अपनी 5 पूर्व-पीढ़ियों तथा 6 वंशजपीढ़ियों को तार देता है । गोचर्म के बराबर बिस्तार वाली भूमि का भी दान देकर मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ।

श्राद्धकर्म में भोजन करने वाले वेदवेदांगज्ञानसम्पन्न , आचरणशील ब्राह्मण को भूमि का दान अवश्य करना चाहिये तथा इस भूमिदान-महिमा का श्रवण करना चाहिए अन्यथा राक्षस श्राद्ध में अर्पित पितृभाग का हरण कर लेते हैं ।

भूमिदान के इस माहात्म्य को सुनकर शतक्रतु ने भी देवगुरू बृहस्पति को भूमि का दान दिया ।[1.]

---

1. एतदांगिरसात् श्रुत्वा वासवो वसुधामिमाम् ।
   वसुरत्नसमाकीर्णां ददावांगिरसे तदा ।। अनु० 62-93

3. ब्राह्मणपूजा

महाभारत (अनुशासनपर्व अ0 36) के एक सन्दर्भ के अनुसार एक बार देवराज इन्द्र, शम्बरासुर के अभ्युदय का रहस्य जानने के उद्देश्य से, जटाधारी तपस्वी का रूप धारण करके, एक बेडौल रथ पर बैठकर उसके पास गया, तथा उसके प्रजानुशासन के सद् व्यवहार के विषय में प्रश्न किया।

शम्बरासुर ने कहा - हे तपोधन! मैं ब्राह्मणों के दोषों को कभी नहीं देखता। उनके मन्तव्यों को अपना मत मानता हूँ। मैं सदैव उनका सम्मान करता हूँ तथा उनके वचनों का उल्लंघन नहीं करता। मैं नित्य उनकी पूजा करके उनका कुशल-क्षेम पूछता हूँ। बुद्धिमान् ब्राह्मणों का चरणस्पर्श करता हूँ। फलतः ब्राह्मण मेरे प्रति भी अत्यन्त विश्वस्त तथा कल्याणपरायण रहते हैं।

ब्राह्मणों के असावधान रहने पर भी मैं सावधान रहता हूँ। वे सोते हैं तब भी मैं उनकी रक्षा में जागता रहता हूँ। इसीलिये मुझे शास्त्रीय-मार्ग पर चलने वाला ब्राह्मण-भक्त जानकर, वे तेजस्वी ब्राह्मण भी मुझे अपने अमृतवचनों से सींचते रहते हैं। उनके बताये मार्ग पर चलकर ही मैं अपनी जाति पर उसीप्रकार शासन करता हूँ जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों पर। हे तपोधन! जो व्यक्ति इहलोक तथा परलोक सुधारना चाहता है उसे लौकिक कर्मविदों विद्वान् ब्राह्मणों की समर्चना करनी चाहिए।

शम्बरासुर के मुंह से ब्राह्मणपूजा की इस महनीय गाथा को सुनकर देवराज इन्द्र की भी आस्था-भक्ति ब्राह्मणों में दृढ़तर हो उठी। उन्होंने ब्राह्मणों की यथेष्ट अर्चना की तथा उसी के प्रभाव से "महेन्द्रपद" प्राप्त किया।[1]

---

1. श्रुत्वैतद् वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम्।
   द्विजान् सम्पूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ।। अनु0 36-19

4. धर्माचरणयोग्य कर्म

महाभारत {अनुशासनपर्व अ०-125} में बृहस्पति एवं इन्द्र का एक रोचक संवाद[1] मिलता है जिसमें धर्मप्राप्तियोग्य कर्मों की व्याख्या की गई है । देवगुरू बृहस्पति कहते हैं -

हे शचीपते ! जो लोग सूर्य की ओर मुंह करके मूत्रत्याग करते हैं , वायु के सम्मुख मूत्रत्याग करते हैं , प्रज्ज्वलित अग्नि में समिधा की आहुति नहीं देते तथा दूध के लोभवश , छोटे बछड़े वाली गायों को भी पूर्ण रूप से दुह लेते हैं , उनके पापों का वर्णन मैं कर रहा हूँ । हे वासव ! प्रजापति ने स्वयं सूर्य, वायु , अग्नि तथा लोकजननी गौ की सृष्टि की है । ये सबके सब मर्त्यलोक के देवता हैं तथा सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने की सामर्थ्य भी रखते हैं ।

हे इन्द्र ! जो दुराचारी स्त्री अथवा पुरूष सूर्य, वायु, अग्नि की दिशा में , जान-बूझकर मलमूत्र का त्याग करते हैं उनकी गर्भस्थ सन्ततियां 86 वर्षों तक नष्ट होती रहती हैं । जो लोग प्रज्ज्वलित अग्नि में समिधा की आहुति नहीं देते उनके अग्निहोत्रों में अग्निदेव हविष्य नहीं ग्रहण करते हैं । जो लोग अल्पायु बछड़ों वाली गायों को निश्शेष दुह लेते हैं , एक बूंद भी दूध नहीं छोड़ते हैं , उनके वंश में दुग्धपायी तथा कुलवृद्धि करने वाले बालक जन्म ही नहीं लेते तथा उत्पन्न हुई सन्ततियां नष्ट हो जाती हैं ।

5. यज्ञकर्म से परलोकसिद्धि

मीमांसाशास्त्र के अनुसार यज्ञों के सम्पादन से 'अपूर्व' की सिद्धि होती है । यही अपूर्व सामान्यतः पुण्य कहा जाता है जिसके अर्जन से स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है । महाभारत के अश्वमेधपर्व में , अयोध्यानरेश मरूत्त के यज्ञ-सन्दर्भ से इस तथ्य को सुस्पष्ट किया गया है ।

---

1. मध्ये त्रिदशवर्गस्य देवराजः शतक्रतुः ।
   उवाच मधुरं वाक्यं बृहस्पतिमनुत्तमम् ।। अनु० 125-58

राजा मरूत्त देवगुरू बृहस्पति को पुरोहित बनाकर अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करना चाहते थे । बृहस्पति ने उनकी प्रार्थना स्वीकार भी कर ली थी । परन्तु देवराज इन्द्र को यह सह्य नहीं था । उन्होंने बृहस्पति से प्रार्थना की कि "आप तो देवताओं के गुरू हैं । देवराज इन्द्र के पुरोहित हैं।अतः पुरोहित का कर्तव्य है कि वह यजमान के मित्र-अमित्र का भी ध्यान रखे । मरूत्त केवल मेरी प्रतिस्पर्धावश अश्वमेध करना चाहते हैं । अतएव आप किसी पृथ्वीपति का आमंत्रण न स्वीकारें ।"

देवगुरू ने इन्द्र की बात मान ली । वचनबद्ध होने के बावजूद भी उन्होंने मरूत्त का यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया । मरूत्त सन्तप्त एवं व्यथित हो उठे । तब उन्होंने देवर्षि नारद की प्रेरणा से बृहस्पति के ही भाई महर्षि संवर्त को पुरोहित बनाने का निश्चय किया । संवर्त ने पहले तो अस्वीकार कर दिया क्योंकि अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान से उन्हें देवराज इन्द्र तथा बृहस्पति के विरोध का भय था । परन्तु मरूत्त द्वारा सम्पूर्ण वृत्त बता देने पर उन्हें सहानुभूति हुई और वह अश्वमेध यज्ञ कराने के लिए तत्पर हो गए ।

देवाधिदेव शिव की आराधना एवं कृपा से मरूत्त को प्रभूत सुवर्ण की प्राप्ति हुई और उन्होंने अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ कर दिया । मरूत्त का दृढ निश्चय देख इन्द्र ने विघ्न उत्पन्न करने का यत्न किया परन्तु महर्षि संवर्त के तपः प्रभाव तथा मरूत्त के पराक्रम के कारण यज्ञ भंग नहीं हुआ । संवर्त ने मंत्रशक्ति से इन्द्र की विनाशक शक्तियों का स्तंभन करके उन्हें सौम्य बना दिया ।

अन्ततः इन्द्र ने मरूत्त के साथ मैत्रीभाव स्वीकार कर लिया तथा समस्त देवताओं के साथ पधारकर उन्होंने यज्ञ में अपना अंश ग्रहण किया । प्रस्तुत उपाख्यान द्वारा पितामह भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को अश्वमेध-यज्ञ सम्पन्न करने की प्रेरणा प्रदान की है । स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति के लिये विविध यज्ञों का विधान ब्राह्मण ग्रंथों में बताया गया है । ऋग्वेदोल्लिखित पुरूषसूक्त में तो समूची सृष्टिप्रक्रिया को ही विराट्पुरूष के यज्ञ का प्रतिफल स्वीकार किया गया है - यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा आदि ।[1]

---

1. द्रष्टव्य : ऋग्वेद 10-90-6 से 10 तक ।

यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि इन्द्र भी यज्ञ करता है । वह पृथ्वी रूपी यज्ञकुण्ड में वर्षाजलरूपी आहुति डालकर शस्य एवं वनस्पतिरूपी फल प्राप्त करता है । सूर्य सागरजलरूपी यज्ञकुण्ड में आतपरूपी आहुति डालकर मेघरूपी 'अपूर्व'की प्राप्ति करता है । चन्द्रमा ओषधिरूपी कुण्ड में अमृतांशुरूपी आहुति देकर औषधरूपी 'अपूर्व'की प्राप्ति करता है । कृषक क्षेत्ररूपी कुण्ड में अन्नरूपी आहुति डालकर शस्यरूपी 'अपूर्व'की प्राप्ति करता है । पति पत्नीरूपी यज्ञकुण्ड में वीर्यरूपी आहुति का आधान कर सन्ततिरूपी 'अपूर्व'की प्राप्ति करता है । वस्तुतः सारी प्रकृति ही यज्ञ के सम्पादन में लगी हुई है ।

ऐहलौकिक श्रेय एवं इन्द्र

जैसे पारलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिये सम्पादनीय कृत्यों का विधान इन्द्रकथाओं के माध्यम से किया गया है ठीक उसीप्रकार इहलोक अथवा पृथ्वीलोक में भी मान-यश एवं प्रतिष्ठा के लिये अनेक सदाचरणों का विधान मिलता है । ये विधान भी या तो देवराज इन्द्र द्वारा उपदिष्ट हैं अथवा किसी अन्य देवता अथवा ऋषि-महर्षि द्वारा स्वयं देवराज को उपदिष्ट हैं । एक ऐसा ही सन्दर्भ महाभारत में वर्णित है ।

1. प्रणाम

वृत्रासुरवध के अनन्तर जब देवता , ऋषि एवं सिद्ध-चारण-अप्सरा-गन्धर्व-किन्नर तथा यक्षादि विजयी देवराज काअभिनन्दन कर रहे थे तभी उनके सारथि मातलि ने पूछा - "हे प्रभो ! आप स्वयं किन लोगों को मस्तक झुका कर प्रणाम करते हैं ? कृपया मुझे अपने प्रणम्यों के बारे में बतायें ।"

इन्द्र ने कहा - मातले ! धर्म , अर्थ , काम का चिन्तन करते हुए भी जिनकी बुद्धि कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होती मैं प्रतिदिन उन्हीं को प्रणाम करता हूँ । जो रूपगुण से सम्पन्न हैं तथा युवतियों के हृदयमन्दिर में हठात् प्रवेश कर जाते हैं , फिर भी जो कामोपभोग-प्रसंगों से विरत रहते हैं , मैं उनके चरणों में प्रणाम अर्पित करता हूँ ।

जो यथेच्छाप्राप्त भोगों में ही सन्तुष्ट हैं, दूसरों से अधिक पाने की इच्छा नहीं रखते। जो सुन्दरवाणी बोलते हैं, प्रवचन-पटु हैं। जिनमें अहंकार तथा अनियंत्रित कामना का सर्वथा अभाव है तथा जो अर्घ्य पाने के योग्य हैं - उनकी मैं नित्य पूजा करता हूँ। जो पत्नीसंयुक्त हैं, पवित्र आचार-विचार रखते हैं, नित्य अग्निहोत्र करते हैं तथा जिनके कुटुम्ब में चतुष्पदों (पशुओं) का भी पालन होता है, वे मेरे प्रणम्य हैं।

जिनका अर्थ धर्ममूलक बनकर वृद्धि को प्राप्त हुआ है तथा जिनके धर्म एवं अर्थ नियत हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। मातले! मैं धर्मानुमोदित अर्थ की कामना रखने वाले ब्राह्मणों तथा गायों-पतिव्रता नारियों को प्रणाम करता हूँ। जो जीवन की पूर्व अवस्था (यौवन) में मानवीय भोगों का उपभोग करके तपोबल से स्वर्ग में आते हैं, उनका मैं सदैव पूजन करता हूँ। जो भोगों से दूर रहते हैं, अनासक्त हैं, धर्मतत्पर हैं, इन्द्रियनिग्रही हैं, सच्चे अर्थों में संन्यस्त हैं तथा पर्वतों के समान अविचल हैं, वे मेरे लिये वन्दनीय हैं। जिनकी विद्या ज्ञान के कारण निर्मल है, जो प्रख्यात धर्मानुपालन की इच्छा रखते हैं तथा जिनके शुद्धाचार की प्रशंसा पराए लोग भी करते हैं, मातले! मैं उन लोगों को प्रणाम करता हूँ।

मातलि तथा इन्द्र के इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि प्रणाम करने योग्य व्यक्ति कौन होते हैं? ऐसे प्रणमनीय, वन्दनीय तथा पूजनीय व्यक्तियों के सत्कार से मनुष्य ऐहलौकिक श्रेय प्राप्त करता है। उसे अपने जीवनकाल में सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। मनुस्मृतिकार ने बड़ी स्पष्टता से कहा है -

> अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
> चत्वारस्तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ।।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य : महा० अनुशासनपर्व अ० 96

2. इन्द्रियनिग्रह

ऐहलौकिक श्रेय की प्राप्ति का दूसरा स्त्रोत है इन्द्रियों अथवा विषयों का निग्रह । नेत्र , श्रवण , नासिका , त्वचा तथा जिह्वा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं , जिनके विषय हैं क्रमशः रूप , शब्द , गन्ध , स्पर्श तथा स्वाद । विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ जाने से ही मनुष्य का पतन होता है । कामनाओं की पूर्ति से कामनाएं शान्त नहीं होती हैं , बल्कि उनकी भूख और बढ़ती जाती है ।[1] अतएव इन्द्रियों का निग्रह होना अत्यन्त आवश्यक है ।

महाभारत के अश्वमेधपर्व {अ०-11} में इन्द्र द्वारा इन्द्रियनिग्रह करने का एक रोचक प्रतीकात्मक सन्दर्भ वर्णित किया गया है । इन्द्र द्वारा अधर्मपरायण पुरोहित विश्वरूप का शीर्षच्छेद कर देने पर जब उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र के विनाशार्थ वृत्रासुर को उत्पन्न किया तो उसने सम्पूर्ण पृथ्वी को आच्छन्न कर लिया तथा पृथ्वी के गुण "गन्ध" को निगल गया । गन्ध के निगलते ही समूची पृथ्वी दुर्गन्ध से भर उठी । तब इन्द्र ने क्रुद्ध होकर वृत्र पर वज्रप्रहार किया ।

भयभीत वृत्र पृथ्वी को छोड़ जल में समा गया तथा जल के गुण "रस" को विनष्ट कर दिया । इन्द्र ने पुनः वज्रप्रहार किया तो वृत्र जल को छोड़ अग्नि में समा गया तथा अग्नि के गुण "तेजस्" को निगल गया । अग्नि की दाहकता ही समाप्त हो गई ।

क्रोधाविष्ट इन्द्र ने पुनः वज्रप्रहार किया । भयभीत वृत्र अग्नि को भी छोड़कर वायु में समा गया तथा वायु के गुण "स्पर्श" का भोग करने लगा । अन्ततः वहां पर भी इन्द्र के वज्रप्रहार करने पर वृत्र आकाश में चला गया तथा आकाश के गुण "शब्द" को ग्रहण करने लगा ।

---

1. श्रीमद्भागवत में विरक्त ययाति का यही अनुभव था -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

जब क्रोधाविष्ट इन्द्र ने आकाश पर भी वज्रप्रहार किया तब वृत्र आकाश को छोड़ इन्द्र के ही शरीर में प्रविष्ट हो गया । उसके इन्द्रशरीर में प्रवेश करते ही देवराज इन्द्र के मन पर महान् मोह का आवरण छा गया ।

इन्द्र की यह दुर्दशा देखकर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने "रथन्तर-साममंत्रों" द्वारा उन्हें चैतन्य बनाया , तब वृत्र को अपने ही शरीर में प्रविष्ट जानकर , महाबली इन्द्र ने उस अदृश्य असुर को शरीर के भीतर ही मार डाला ।

> ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ।
> शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ।।
>
> – महा० अश्व० अ०-19

प्रस्तुत इन्द्रोपाख्यान का सांकेतिक निर्गलितार्थ यही है कि पंचेन्द्रियजनित दोष की छाया , वृत्र की ही तरह शरीर , मन तथा आत्मा को अभिभूत कर लेती है । उस स्थिति में मनुष्य विषयों का दासमात्र बनकर रह जाता है । अतः मुक्तिकामी साधक का यह कर्तव्य है कि वह नियम-संयम रूपी वज्र से इस विषयरूपी वृत्र का शरीर के भीतर ही संहार कर डाले ।

3. नैष्ठिक प्रेम एवं बन्धुत्व

स्वर्गलोक पहुंचते ही धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा कि दुर्योधन आदि पापी तो अपनी मित्रमण्डली के साथ वहां आनन्दोपभोग कर रहे हैं परन्तु उनके अपने बन्धुओं- भीम , अर्जुन , नकुल , सहदेव , कर्ण तथा प्रिया द्रौपदी का कहीं पता नहीं । वह व्यथा तथा अवसाद से भर उठे तथा इन्द्रसेवक देवदूतों से बोले -

> किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
> यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ।।
>
> – महा० स्वर्गा० 2-12

देवदूत उन्हें भीमादि के पास ले गये । वे सभी नरक का कष्ट भोग रहे थे , जहां घोर अन्धकार , रक्त-मज्जा -मांस-अस्थि तथा पीव के संयोग से उत्पन्न असह्य

दुर्गन्ध विद्यमान थी । बन्धुओं की यह दुर्गति देखकर धर्मराज खिन्न हो उठे । वह लौटना ही चाहते थे कि उन्हें कर्ण, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी का आर्तनाद सुनाई पड़ा । जब युधिष्ठिर ने अपने स्वजनों को वहाँ उस नारकीय स्थिति में देखा तब उन्होंने देवदूतों से कहा - "बस, मेरा स्वर्ग यही है । मैं यहीं रहूँगा । मेरा यह निर्णय आप लोग जाकर स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को बता दीजिए ।"

धर्मराज युधिष्ठिर की इस अविचल बन्धुनिष्ठा को देखकर अकस्मात् ही देवराज इन्द्र समस्त देवों के साथ प्रकट हो गये तथा बन्धुजनों सहित युधिष्ठिर को अक्षयलोक प्रदान किया। इस कथानक से यह संकेत मिलता है कि यद्यपि स्वर्ग तथा नरक की प्राप्ति मनुष्य को अपने व्यक्तिगत पुण्य तथा पाप से होती है परन्तु अविचल बन्धुता भी स्वर्गफल देने वाला एक विलक्षण गुण है । धर्मराज युधिष्ठिर को बन्धुओं से युक्त नरक भी स्वर्गलोक ही प्रतीत हुआ परन्तु भ्रातृविहीन स्वर्ग भी उन्हें "नरक" जैसा लगा । अतएव हमें बन्धुत्व की शिक्षा लेनी चाहिए । पूर्वजन्मार्जित समान संस्कारों के ही कारण एक ही माँ के गर्भ से कई भाई जन्म लेते हैं । अतएव उन सबका पाप-पुण्य भी विभक्त नहीं होता है । वे सब एक दूसरे के पूरक होते हैं । यदि एक भाई समृद्धि में पले तथा दूसरा भिक्षाटन करे - तो इससे बड़ा अधर्म और पाप कुछ भी नहीं । पाण्डवबन्धुओं का वृत्त इसी अविचल बन्धुत्व की शिक्षा देता है ।

4. शरणागतवत्सलता एवं आचारसंहिता

ऐहलौकिक अभ्युदय की सिद्धि के लिये शरणागत-वत्सलता तथा सदाचार भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं । महर्षि गौतम तथा धृतराष्ट्ररूपधारी इन्द्र के एक संवाद से इस तथ्य की अद्भुत सिद्धि होती है ।[1] यह संवाद पितामह भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को सुनाया था ।

एक बार महामुनि गौतम ने मातृ-विहीन एक हाथी के बच्चे को वन में अत्यन्त कष्ट पाते देखा । करुणहृदय ऋषि ने उस करिशावक को जीवन प्रदान किया तथा उसे पाल-पोसकर बड़ा किया । दीर्घकाल के पश्चात् जब वह युवा हो गया तो उसकी कनपटी से मदजल झरने लगा मानो किसी पर्वत से झरना फूट चला हो ।

---

1. द्रष्टव्य : महाभारत अनु0 अ0 102

एक दिन देवराज इन्द्र ने धृतराष्ट्र नामक राजा का रूप धारण कर उस हाथी का अपहरण कर लिया ।[1] तब कठोर व्रतधारी गौतम ने, गजशावक का क्रन्दन सुनकर, दयार्द्र होकर इन्द्र से कहा – "कृतज्ञताशून्य ! राजा धृतराष्ट्र !, मेरे पालित गज को मत ले जाओ । यह मेरा {कृतक} पुत्र है । मैंने बड़े दुःख से इसका पालन पोषण किया है ।"

सत्पुरूषों में तो सात डग साथ चलने से ही {सप्तपदी} मैत्री हो जाती है । इस दृष्टि से भी हम-तुम परस्पर मित्र हैं । मेरे इस पालित गज को अपहृत करने से तुम्हें मित्रद्रोह का पाप लगेगा । ऐसी चेष्टा करो कि तुम्हें इस पाप का भागी न होना पड़े।

हे राजन् ! यह गज मुझे समिधा तथा जल लाकर देता है । मेरे आश्रम की, किसी के न रहने पर, यही रक्षा करता है । आचार्यकुल में रहकर इसने विनय की शिक्षा प्राप्त की है । गुरूसेवा के कार्य में यह निरन्तर संलग्न रहता है । यह शिष्ट, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ तथा मुझे अत्यन्त प्रिय है । अतः मैं चिल्ला-चिल्ला कर कहता हूँ कि मेरे इस गज को छीनकर मत ले जाओ ।"

इन्द्र महामुनि गौतम की इस शरणागतवत्सलता से प्रभावित तो हुआ, परन्तु पूर्णतः परितुष्ट नहीं । गौतम की परीक्षा अभी भी शेष थी । अतएव इन्द्र ने कहा –

महर्षे ! मैं आपको एक सहस्त्र गायें, सौ दासियां तथा पांच सौ सुवर्ण मुद्राएं प्रदान करूंगा और भी नानाप्रकार के धन दूंगा । वैसे भी एक तपस्वी ब्राह्मण के यहां हाथी का क्या काम है ?

गौतम ने कहा-राजन् ! ये सारी वस्तुएं आप अपने ही पास रखें । ब्राह्मण को धन-सम्पत्ति से क्या लेना-देना ? मुझे तो बस मेरा पुत्रकल्प गजराज चाहिए ।

इन्द्र ने कहा-विप्रवर ! ब्राह्मणों को हाथियों से कोई प्रयोजन नहीं है । गजसमूह तो बस राजाओं के काम आते हैं । गज मेरा वाहन भी है । अतः इस श्रेष्ठ हाथी को ले जाने में कुछ भी अधर्म या पाप नहीं है । आप इसकी ओर से अपनी तृष्णा हटा लीजिए । यह कह कर धृतराष्ट्र रूपधारी इन्द्र गौतम के गज को लेकर चल पड़े ।

---

1. संभवतः इन्द्र ने महामुनि गौतम की शरणागतवत्सलता की परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा किया ।

तब महामुनि गौतम ने रोष-अमर्षपूर्वक राजा से कहा - राजन् ! जहां जाकर पुण्यकर्मा आनन्दित तथा पापकर्मा शोकसन्तप्त होते हैं , उस यमलोक से भी मैं अपना गज तुमसे वापस ले लूंगा ।

इन्द्र [धृतराष्ट्र] ने कहा - महामुने ! निष्क्रिय , नास्तिक , श्रद्धाहीन , पापात्मा तथा इन्द्रियविषयासक्त ही यमयातना को प्राप्त होते हैं । परन्तु यह धृतराष्ट्र उस यमलोक में नहीं जायेगा ।

गौतम ने कहा-जहां कोई झूठ नहीं बोलता , जहां सदैव सत्य ही बोला जाता है , जहां निर्बल व्यक्ति भी बलवानों से अपने प्रति किये गये अन्यायों का बदला लेते हैं , मनुष्यों को संयम में रखने वाली धर्मराज की उस संयमनीपुरी में मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूंगा ।

इन्द्र [धृतराष्ट्र] ने कहा - महर्षे ! जो मदोन्मत्त दुर्जन बड़ी बहन तथा माता-पिता के साथ शत्रुवत् व्यवहार करते हैं , संयमनीपुरी उन्हीं के लिये है । परन्तु धृतराष्ट्र वहां जाने वाला नहीं ।

गौतम - जिस राजा कुबेर के नगर में सौभाग्यशालिनी मन्दाकिनी विराजमा है , जहां केवल नागों का प्रवेश संभव है । गन्धर्व , यक्ष तथा अप्सराओं से सेवित उस यक्षलोक में मैं तुमसे अपना गज वापस लूंगा ।

इन्द्र [धृतराष्ट्र] जो अतिथियों की सेवा में रहकर उत्तम व्रत का पालन करते हैं , जो ब्राह्मणों को आश्रमदान करते हैं तथा आश्रितों को वितरित करके , बचे हुए अन्न का भक्षण करते हैं , वही लोग मन्दाकिनी-तट की शोभा बढ़ाते हैं । महामुने , मुझे तो वहां भी नहीं जाना है ।

गौतम पुनः बोले - मेरूपर्वत के समक्ष जो कानन सुशोभित है , जहां रम्य पुष्पों की छटा छाई रहती है , किन्नरियों के मधुर गीत गूंजते रहते हैं । सुन्दर तथा विशाल जम्बू वृक्ष जहां शोभा पाता है , वहां पहुंचकर मैं तुमसे अपना गज वापस लूंगा ।

इन्द्र [धृतराष्ट्र] ने कहा - महामुने ! जो ब्राह्मण कोमल-स्वभाव , सत्यशील अनेकशास्त्रपारंगत , सभी जीवों को प्यार करने वाले , इतिहास-पुराण के अध्येता तथ अतिथि द्विजों को मधुर भोजन कराने वाले होते हैं - उपर्युक्त लोक उन्हीं के लिये है ।

परन्तु धृतराष्ट्र वहां भी जाने को नहीं । आपको जो-जो लोक ज्ञात हों उन्हें बता डालिए, परन्तु मैं कहीं भी जाने को नहीं ।

गौतम बोले - रम्य पुरूषों से शोभित, किन्नरों से सेवित, देवर्षि नारद तथा गन्धर्वों-अप्सराओं को अतिशय प्रिय नन्दन नामक देववन है । वहां जाकर भी मैं तुमसे अपना गज वापस लूंगा ।

इन्द्र (धृतराष्ट्र) ने कहा - महर्षे ! जो नृत्यगीतनिपुण हैं, कभी किसी से कुछ भी याचना नहीं करते, सदैव सत्पुरूषों की संगति में रहते हैं - नन्दन वन उन्हीं के लिए है । परन्तु मैं वहां जाने को नहीं ।

गौतम - राजन् ! रमणीय आकृति वाले, देवताओं के साथ रहकर आनन्दोपभोग करने वाले, अग्नि, जल तथा पर्वत से उत्पन्न दिव्य मानव जिस उत्तर-कुरु में निवास करते हैं, जहां इन्द्र समस्त कामनाओं की नित्य वर्षा करता है, जहां की स्त्रियां स्वेच्छया विचरण करने वाली हैं तथा जहां स्त्रियों-पुरूषों में ईर्ष्या का सर्वथा अभाव है - उस लोक में जाकर भी मैं अपना गज तुमसे वसूल लूंगा ।

इन्द्र (धृतराष्ट्र) ने कहा - महर्षे ! जो सर्वथा निष्काम हैं, जो मांसाहार नहीं करते, किसी भी प्राणी को दण्डित नहीं करते, स्थावर - जगंम प्राणियों की हिंसा नहीं करते, समस्त प्राणियों को जो आत्मतुल्य समझते हैं, जो कामना, ममता तथा आसक्ति से रहित हैं, जो लाभ-हानि, निन्दा-प्रशंसा तथा जय-पराजय में समभाव रखते हैं "उत्तरकुरु" नामक लोक ऐसे ही लोगों के लिये हैं । धृतराष्ट्र वहां भी नहीं जायेगा ।

इसीप्रकार महामुनि गौतम ने चन्द्रलोक, सूर्यलोक, वरूणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, गोलोक तथा ब्रह्मलोक आदि में भी पहुंचकर धृतराष्ट्र से अपना हाथी वापस ले लेने की धौंस दिखाई । परन्तु छद्मवेषधारी इन्द्र ने सभी लोकों के प्रति अपनी अपात्रता प्रकट कर गौतम को निरूतर कर दिया तथा व्यङ्ग्य-पूर्वक मुस्कराने लगे ।

धृतराष्ट्र की कुटिल मुस्कान देख, महर्षि गौतम ने योगबल से जान लिया कि यह कोई सामान्य नरेश नहीं बल्कि स्वयं देवराज इन्द्र ही हैं । उन्होंने स्पष्टतः कहा - राजन । आप तो साक्षात् वृत्रारि हैं, धृतराष्ट्र नहीं ।

तब इन्द्र स्वरूप में प्रकट हो गये और बोले - महामुने ! मैं आपकी विलक्षण शरणागत-वत्सलता की परीक्षा लेना चाहता था । आप परीक्षा में खरे उतरे । महर्षे ! इस पालित पशु के लिये आपके मन में इतनी बड़ी निष्ठा है कि अगम्य लोकों में भी इसकी प्राप्ति के लिये जाने को उद्यत हैं ? धन्य हैं आप ! महर्षे ! इस गज के अपहरण से मैं मानव-प्रजा के बीच घोर निन्दा का पात्र बन गया हूँ । परन्तु अब मैं आपके चरणों में नत हूँ । अब आप मुझे कर्तव्य का उपदेश दें ।

मघवाऽहं लोकपथं प्रजानामन्वागमं परिवादे गजस्य ।
तस्माद्भवान् प्रणतं माऽनुशास्तु ब्रवीषि यत्तत् करवाणि सर्वम् ।।
- मह0 अनु0 102-56

महर्षि गौतम ने पुनः अपने पुत्रकल्प गज की याचना की और इन्द्र ने उसे तत्काल ही प्रसन्नतापूर्वक लौटा दिया तथा गौतम से बोले - महामुने ! अपनी शरणागतनिष्ठा के कारण आप चिरकाल तक के लिये, कल्याणमय लोकों की प्राप्ति के अधिकारी बन गये हैं, अतः इस गज के साथ ही मेरे साथ चलें ।

पुत्रकल्प गज के साथ महर्षि गौतम को आगे कर, वज्रधारी देवराज इन्द्र दुर्गम देवलोक की ओर चल पड़े ।

इस दीर्घकथा में आद्यन्त रोचकता तथा रहस्योद्भेद है । अपने किन-किन आचरणों से मनुष्य किन-किन दिव्य लोकों को प्राप्त करता है, इसका अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन इस उपाख्यान में प्राप्त होता है । साथ ही साथ यह निष्कर्ष भी निकलता है कि शरणागतवत्सल व्यक्ति ऐहलौकिक प्रतिष्ठा तो प्राप्त ही करता है, कल्याणमय लोकों का अधिकारी भी बन जाता है ।

राजधर्म एवं इन्द्र

राजधर्म-सम्बन्धी उपदेश भी पुराणों तथा रामायण-महाभारत में देवराज इन्द्र को माध्यम बनाकर व्यक्त किये गये हैं । इन्द्र स्वयं राजराज, राजेन्द्र अथवा त्रैलोक्य का, अधिपति है अतएव राजधर्म का उससे अधिक श्रेष्ठ ज्ञाता तथा उपदेष्टा और

कौन होगा ? पुराणों में यह प्रसंग आया है कि इन्द्र ने बृहस्पतिपुत्र कच को दैत्यगुरू शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा । इससे इन्द्र की राजनैतिक प्रतिभा का प्रमाण मिलता है । इसीप्रकार वह वेष बदलकर शम्बर तथा बलि आदि अपने वैरियों की सफलता का रहस्य भी पूछ लेता है । वह राजधर्म की तात्त्विक मीमांसा में समर्थ है तथा उसका सर्वश्रेष्ट प्रयोक्ता भी है । प्रस्तुत स्थल पर कुछ ऐसे ही सन्दर्भों की व्याख्या की जा रही है ।

1. संवत्सरकर्म

पुराणों में उपलब्ध राजधर्मानुशासन के अनुसार सिंहासन पर बैठते ही राजा को दिग्विजय करना आवश्यक होता था - प्रताप एवं ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये । इसी प्रकार "संवत्सरकर्म" भी उसके प्रमुख कर्तव्यों में से एक था ।

राजा को अपने जन्मनक्षत्र में नक्षत्र-देवता का पूजन करना चाहिए । वह प्रत्येक मास में संक्रान्ति के समय सूर्य और चन्द्रमा आदि देवताओं की अर्चना करे । अगस्त्य तारा का उदय होने पर अगस्त्य की एवं चातुर्मास्य में श्रीहरि का भजन करे । श्रीहरि के शयन और उत्थापन काल में, अर्थात् हरिशयनी एकादशी और हरिप्रबोधिनी एकादशी के अवसर पर पांच दिन तक उत्सव करे । भाद्रपद के शुक्लपक्ष में प्रतिपदा तिथि को शिविर के पूर्वदिग्भाग में इन्द्र-पूजा के लिए भवन निर्माण कराये । उस भवन में इन्द्रध्वज (पताका) की स्थापना करके वहाँ प्रतिपदा से लेकर अष्टमी तक शची और इन्द्र की पूजा करे । अष्टमी को वाद्यघोष के साथ उस पताका में ध्वजदण्ड का प्रवेश कराये फिर एकादशी को उपवास रखकर द्वादशी को ध्वज-उत्तोलन करे । फिर एक कलश पर वस्त्रादि से युक्त देवराज इन्द्र एवं शची की स्थापना करके, उनको पूजन करे । पूजा की विधि इसप्रकार है ।

हे शत्रुविजयी वृत्रनाशन पाकशासन ! महाभाग देवदेव ! आपका अभ्युदय हो । आप कृपापूर्वक इस भूतल पर पधारे हैं । आप सनातन प्रभु, सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहने वाले, अनन्त तेज से सम्पन्न, विराट् पुरूष तथा यश एवं विजय की वृद्धि

करने वाले हैं । आप उत्तम वृष्टि करने वाले इन्द्र हैं । समस्त देवता आपका तेज बढ़ायें । ब्रह्मा विष्णु , शिव , कार्तिकेय , विनायक, आदित्यगण , वसुगण , रुद्रगण , साध्यगण , भृगुकुलोत्पन्न महर्षि , दिशाएं मरूद्गण ,लोकपाल , नवग्रह , यक्ष , पर्वत , नदियां समुद्र , श्रीदेवी , भूदेवी , गौरी , चण्डी एवं सरस्वती - ये सभी देवता एवं देवियां आपके तेज को बढ़ायें । हे शचीपते इन्द्र ! आपकी जय हो । आपकी विजय से मेरा भी सदा शुभ हो । आप नरेशों , ब्राह्मणों एवं सम्पूर्ण प्रजाओं पर प्रसन्न होइये । आपके कृपा-प्रसाद से यह पृथ्वी सदा सस्यसम्पन्न हो । सबका विघ्नरहित कल्याण हो तथा ईतियां पूर्णतया शान्त हों । इस अभिप्राय वाले मन्त्र से इन्द्र की अर्चना करने वाला भूपाल पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त होता है ।[1]

इसप्रकार यशस्काम नरपतियों के लिये राजराजेश्वर इन्द्र की समर्चना तथा उसकी कृपाप्राप्ति का विधान पुराणों में बताया गया है । ऐसा करने से पार्थिव नरेश इन्द्र के ही समान तेजस्वी होता था ।

2. शत्रुवशीकरण

शरशय्या पर पड़े भीष्म से युधिष्ठिर ने शत्रु-वशीकरण के उपाय पूछे तब उन्होंने उसकी व्याख्या के लिये इन्द्र तथा बृहस्पति का एक संवाद सुनाया ।[2] इन्द्र ने ऐसा ही प्रश्न देवगुरू बृहस्पति से पूछा था -'ब्रह्मन् !मैं आलस्यरहित होकर शत्रुओं के प्रति कैसा आचरण करूं कि उनका समूलोच्छेद किये बिना ही उन्हें वश में कर सकूं ? दो सेनाओं के संघर्ष में विजय दोनो पक्षों के लिये साधारण हो जाती है । "अमुक पक्ष की ही जीत होगी" यह नियम नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए जिससे कि शत्रुसन्तापिनी यह उज्ज्वल राजलक्ष्मी मेरा साथ कभी न छोड़े ।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य , विष्णुपुराण , पृ0-445
2. महाभारत शान्तिपर्व {राजधर्मानुशासन पर्व} अ0-103

इन्द्र के उपर्युक्त प्रश्नों को सुनकर राजधर्म के तत्त्ववेत्ता बृहस्पति ने कहा - राजन् ! किसी भी राजा को कलह अथवा युद्ध से शत्रुओं को वश में रखने की इच्छा नहीं करनी चाहिए । असहिष्णुता तथा क्षमा का परित्याग करना मूर्खों तथा बालकों द्वारा सेवित मार्ग है । शत्रुविनाश की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिये कि वह क्रोध , भय तथा हर्ष को अपने मन में ही संयत कर ले तथा शत्रु को सावधान न करे । भीतर से शत्रु का अविश्वास करते हुए भी , बाहर से विश्वस्त मित्र की भांति सद्भाव प्रदर्शित करते हुए , शत्रु की सेवा करे । सदैव उससे प्रिय वचन ही बोले । अप्रिय व्यवहार कभी न करे । शुष्क वैरभाव से सदा पृथक् रहे तथा कण्ठ को पीड़ित करने वाले वाद-विवाद को भी त्याग दे ।

जैसे बहेलिया पक्षियों को फंसाने के लिये उन्हीं के समान बोली बोलता है और मौका पाकर उन्हें जाल में फांस लेता है उसीप्रकार चतुर उद्योगशील राजा को भी धीरे-धीरे शत्रुओं को वश में कर लेना चाहिए तथा बाद में उन्हें विनष्ट कर देना चाहिये ।

देवराज ! जो राजा निरन्तर शत्रुओं का तिरस्कार करता है वह स्वयं भी कभी सुख से सो नहीं पाता । उसका शत्रु बांस तथा घास-फूस में लगी , चटचटाती अग्नि के समान सदैव जागता ही रहता है तथा मुखर रहता है । इसलिये अपनी शत्रुता का प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशन तो करना ही नहीं चाहिए ।

हे मघवन् ! जब दो विजयाभिलाषी नरेश एक-दूसरे के समक्ष आ खड़े होते हैं समरांगण में, तो दोनो के मन में समानरूप से अपनी विजय का विश्वास होता है । कोई यह मानकर युद्ध करने नहीं जाता कि पराजय उसी की होगी । ऐसी स्थिति में , जब हमको भलीभांति यह बात ज्ञात है कि विजय एक सामान्य वस्तु है (किसी को भी वह मिल सकती है) तब उसके लिए पहले ही युद्ध नहीं करना चाहिए अपितु शत्रु को अच्छी तरह विश्वास दिलाकर वश में कर लेने के पश्चात् ,अवसर देखकर उसके सारे मनसूबे नष्ट कर देना चाहिए । शत्रु द्वारा उपेक्षा अथवा अवहेलना की जाने पर भी राजा अपने मन में हिम्मत न हारे । वह मन्त्रियों सहित मन्त्रवेत्ता महापुरुषों के साथ कर्तव्य का निश्चय करके , समय आने पर , जब शत्रु की स्थिति कुछ डांवाडोल हो जाय , तब उसपर प्रहार करे और विश्वासपात्र पुरुषों को भेजकर उनके द्वारा शत्रु की सेना में फूट डलवा दे ।

राजा शत्रु के राज्य की आदि, मध्य और अन्तिम सीमा को जानकर, गुप्तरूप से मन्त्रियों के साथ बैठकर, अपने कर्तव्य का निश्चय कर तथा शत्रु की सेना की संख्या कितनी है, इसको अच्छी तरह जानते हुए ही उसमें फूट डालने वाले की चेष्टा करे। राजा को चाहिए कि वह दूर रहकर गुप्तचरों द्वारा शत्रु की सेना में मतभेद पैदा करे। घूस देकर लोगों को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करें। अथवा उनके ऊपर विभिन्न औषधों का प्रयोग करें, परन्तु किसी तरह भी शत्रुओं के साथ प्रकटरूप से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा न करे अनुकूल अवसर पाने के लिए कालक्षेप ही करता रहे। उसके लिए दीर्घ काल तक भी प्रतीक्षा करनी पड़े तो करे, जिससे शत्रुओं को भली भांति विश्वास हो जाय। तदनन्तर मौका पाकर उन्हें मार ही डाले। राजा शत्रुओं पर तत्काल आक्रमण न करे अवश्यम्भावी विजय के उपाय पर विचार करे, न तो उस पर विष का प्रयोग करे और न उसे कठोर वचनों द्वारा ही घायल करे। देवेन्द्र! जो शत्रु को मारना चाहता है, उस पुरुष के लिए बारंबार मौका हाथ में नहीं लगता, अतः जबकभी अवसर मिल जाय, उस पर अवश्य प्रहार करे। समय की प्रतीक्षा करने वाले पुरूष के लिए जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य करने की इच्छा वाले उस पुरूष के लिए फिर दुर्लभ हो जाता है। श्रेष्ठ पुरूषों की सम्मति लेकर अपने बल को सदा बढ़ाता रहे। जबतक अनुकूल अवसर न आये तब तक अपने मित्रों की संख्या बढ़ावे और शत्रु को भी पीड़ा न दे, परन्तु अवसर आ जाय तो शत्रु पर प्रहार करने से न चूके। काम, क्रोध तथा अहंकार को त्यागकर सावधानी के साथ बारम्बार शत्रुओं के छिद्रों को देखता रहे। सुरश्रेष्ठ इन्द्र! कोमलता, दण्ड, आलस्य, असावधानी और शत्रुओं द्वारा अच्छी तरह प्रयोग की हुई माया-ये अनभिज्ञ राजा को बड़े कष्ट में डाल देते हैं।[1] कोमलता, दण्ड आलस्य और प्रमाद - इन चारों को नष्ट करके शत्रु की माया का भी प्रतीकार करे। तत्पश्चात् वह बिना विचारे शत्रुओं पर प्रहार कर सकता है। राजा अकेला ही जिस गुप्त-कार्य को कर सके उसे अवश्य कर

---

1. मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम !
   मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्य विचक्षणम् ।। 24
   - महा० शान्ति० अ०-103

डाले , क्योंकि - मन्त्रीलोग कभी-कभी गुप्तविषय को प्रकाशित कर देते हैं और नहीं तो आपस में ही एक-दूसरे को सुना देते हैं ।

जो कार्य अकेले करना असम्भव हो जाय उसी के लिए, दूसरों के साथ बैठकर विचारविमर्श करें । यदि शत्रु दूरस्थ होने के कारण दृष्टिगोचर न हो तो उसपर ब्रह्मदण्ड का प्रयोग करे और यदि शत्रु निकटवर्ती होने के कारण दृष्टिगोचर हो तो उसपर चतुरङ्गिणी सेना भेजकर आक्रमण करे । राजा शत्रु के प्रति पहले भेदनीति का प्रयोग करे । तत्पश्चात् वह उपयुक्त अवसर आने पर भिन्न-भिन्न शत्रु के प्रति भिन्न-भिन्न समय में चुपचाप दण्डनीति का प्रयोग करे । यदि बलवान् शत्रु से पाला पड़ जाय और समय-सुकाल उसी के अनुकूल हो तो राजा उसके सामने नतमस्तक हो जाय और जब वह शत्रु असावधान हो , तब स्वयं सावधान और उद्योगशील होकर उसके बध के उपाय का अन्वेषण करें । राजा को चाहिए कि वह मस्तक झुकाकर, दान देकर तथा मीठे बचन बोलकर शत्रु का भी मित्र के समान ही सेवन करे । उसके मन में कभी संदेह न उत्पन्न होने दे । जिन शत्रुओं के मन में संदेह उत्पन्न हो जाय उनके निकटवर्ती स्थानों में रहना या जाना-आना सदा के लिए त्याग देना चाहिए । राजा उन पर कभी भी विश्वास न करे क्योंकि इस जगत् में उनके द्वारा तिरस्कृत या क्षतिग्रस्त हुए शत्रुगण सदा बदला लेने के लिए सजग रहते हैं । देवेश्वर ! सुरश्रेष्ठ ! नानाप्रकार के व्यवहार-चतुर लोगों के ऐश्वर्य पर शासन करना जितना कठिन काम है उससे बढ़कर दुष्कर कर्म दूसरा कोई नहीं है। वैसे भिन्न-भिन्न-व्यवहार-चतुर लोगों के ऐश्वर्य पर शासन करना तभी सम्भव है जब कि राजा मनोयोग का आश्रय ले, सदा इसके लिए प्रयत्नशील रहे और कौन मित्र है कौन शत्रु , इसका विचार करता रहे । मनुष्य कोमल स्वभाव वाले राजा का अपमान करते हैं और अत्यन्त कठोर स्वभाव वाले से भी अत्यन्त उद्विग्न हो उठते हैं।अतः तुम न कठोर बनो और न ही कोमल! समय-समय पर कठोरता भी धारण करो, कोमलता भी ।

जैसे जल का प्रवाह बड़े वेग से बह रहा हो और सब ओर से जल हो जल फैलरहा हो उस समय नदी-तट के विदीर्ण होकर गिर जाने का सदा भय रहता है । उसी प्रकार यदि राजा सावधान न रहे तो उसके राज्य के नष्ट होने का खतरा बना रहता है । पुरन्दर! बहुत से शत्रुओं पर एक साथ आक्रमण नही करना चाहिए । साम, दान, भेद और और दण्ड द्वारा इन शत्रुओं में से एक-एक को बारी-बारी से कुचलकर, शेष बचे हुए शत्रु को

पीस डालने के लिए कुशलतापूर्वक प्रयत्न आरंभ करे । बुद्धिमान् राजा शक्तिशाली होने पर भी सब शत्रुओं को कुचलने का कार्य एक ही साथ न प्रारंभ न करे । जब हाथी, घोड़े और रथों से भरी हुई और बहुत से पैदलों तथा यन्त्रों से सम्पन्न छः अङ्गों वाली विशाल सेना स्वामी के प्रति अनुरक्त हो , जब शत्रु की अपेक्षा अपनी प्रकार से उन्नति होती जान पड़े उस समय राजा दूसरा कोई विचार मन में लाकर प्रकटरूप से डाकू और लुटेरों पर प्रहार आरम्भ करे ।

शत्रु के प्रति साम-नीति अच्छी नहीं मानी जाती बल्कि गुप्त-रूप से दण्ड नीति का प्रयोग ही उत्तम माना जाता है । शत्रुओं के ऊपर न तो कोमलता और नहीं सदैव आक्रमण ही अच्छा माना जाता है । उनकी खेती को चौपट कर देना तथा उनके पेय-जलों में जहर मिला देना भी अच्छा नहीं है। इसके सिवाय सात प्रकृतियों पर विचार करना भी उपयोगी नहीं है । राजा विश्वस्त मनुष्यों द्वारा शत्रु के नगर और राज्य में नानाप्रकार के छल और परस्पर वैर-विरोध की सृष्टि कर दे । इसी तरह छद्मवेश में वहां अपने गुप्तचर नियुक्त कर दें , परन्तु अपने यश की रक्षा के लिए वहां अपनी ओर से चोरी या गुप्त-हत्या आदि कोई पापकर्म न होने दे । बल और वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र ! पृथ्वी पालन करने वाले राजा लोग पहले इन शत्रुओं के नगरों में विधिपूर्वक व्यवहार में लायी जाने वाली नीति का प्रयोग करके दिखावें । इसप्रकार उनके अनुकूल व्यवहार करके वे उनकी राजधानी में सारे भोगों पर अधिकार प्राप्त कर लें ।[1]

देवराज ! चतुर नरेश अपने ही व्यक्तियों के बारे में यह प्रचार कर देते हैं कि "ये अमुक दोष से दूषित हैं अतः इन्हें राज्य से निर्वासित किया जा रहा है ।"

---

1. पुरापि चैषामनुसृत्य भूमिपाः
   पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति ।
   पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि
   प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ।। 42

   – महा० शान्ति० अ० 103

ऐसा करके वे शत्रुराज्यों में उन्हें नगरों का भेद लेने के कार्य में नियुक्त कर देते हैं । ऊपर से तो ऐसे दोषी लोगों की सारी सम्पत्ति राजा लोग छीन लेते हैं परन्तु गुप्त रूप से उन्हें प्रचुर धन-सम्पत्ति तथा पारितोषिक से लद्दू बना देते हैं । राजा को चाहिये, इसीप्रकार तंत्रादि शास्त्रों के वेत्ताओं को भी वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर , उनके द्वारा शत्रु राजाओं पर कृत्या का प्रयोग करायें ।

इसप्रकार देवगुरू बृहस्पति ने इन्द्र को शत्रुवशीकरण के समस्त उपाय विधिवत् बता दिये । तब इन्द्र ने एक और प्रश्न पूछा कि ब्रह्मन् ! दुष्टों को मैं कैसे पहचानूं ? उनके लक्षण क्या हैं ?

देवगुरू ने कहा - हे देवेश ! जो व्यक्ति परोक्ष में किसी व्यक्ति के दोष ही दोष बताता है , उसके सद्गुणों में भी दोषारोपण करता है । दूसरों द्वारा उस व्यक्ति की प्रशंसा करने पर मुंह फेर कर चुप बैठ जाता है उसे तुम दुष्ट ही समझो ।[1]

चुप बैठने के बाद भी उस व्यक्ति की दुष्टता के सूचक कुछ लक्षण होते हैं । जैसे निश्वास छोड़ने का कोई उचित कारण न होने पर भी, किसी के गुणानुकीर्तन के प्रसंग में लम्बी-लम्बी सांस छोड़ना तथा होंठ चबाना तथा सिर हिलाना ।

जो बार-बार आकर संसर्ग स्थापित करे , दूर जाने पर निन्दा करे , कार्य करने की प्रतिज्ञा करके भी आंख से ओझल होते ही उस कार्य से मुकर जाये तथा सामने आने पर भी मौन बैठा रहे - निश्चय ही उसके मन में दुष्टता होती है । जो कहीं से आकर साथ नहीं , अलग बैठ कर भोजन करे और यह कहे कि "आज जैसा भोजन चाहिये था , वैसा नहीं बना है" वह भी दुष्ट है ।

मित्र के दुःख में दुःखी तथा सुख में सुखी होना मित्र का लक्षण है तथा इसका विपरीत आचरण ही शत्रु का लक्षण है ।[2]

---

1. परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
   परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ।। 46
   - महा० शान्ति० अ० 103

2. आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
   विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ।।50
   - महा० शान्ति० अ०-103

3. राजकीय ऐश्वर्य का स्रोत : शील

दुर्योधन को युधिष्ठिर के ऐश्वर्य से सन्तप्त देखकर महाराज धृतराष्ट्र ने उसे "शील" का आचरण करने की सलाह दी और इसी सन्दर्भ में उसे बताया कि किस प्रकार देवराज इन्द्र ने दैत्यराज प्रह्लाद से उनकी शील माँगकर उन्हें लक्ष्मीच्युत कर दिया था ।[1]

एक बार देवराज इन्द्र ने देवगुरू बृहस्पति से अपने कल्याण का उपाय पूछा । बृहस्पति ने इन्द्र को यथोचित उपदेश दिया तथा इन्द्र के यह पूछने पर कि "प्रभो ! इससे भी विशेष वस्तु क्या है ?" उन्होंने कहा "आयुष्मन् ! इससे भी श्रेष्ठ ज्ञान दैत्यगुरू शुक्राचार्य के पास है । तुम उन्हीं के पास जाओ ।"

देवराज इन्द्र ने भगवान् शुक्राचार्य की शिष्यता ग्रहण की तथा उनसे अपने कल्याण के उपायों को जाना । फिर भी उन्हें परितोष नहीं हुआ और उन्होंने कहा- 'प्रभो ! इससे भी विशिष्ट श्रेय क्या है ? कृपया मुझे बतायें ।'

सर्वज्ञ शुक्राचार्य ने कहा - "भद्र ! इससे भी श्रेष्ठ श्रेय तुम्हें महात्मा प्रह्लाद ही बता सकते हैं । तुम उनके पास जाओ ।"

शुक्राचार्य का निर्देश प्राप्त कर इन्द्र ब्राह्मण रूप धारण कर अपने परमवैरी भगवद्भक्त प्रह्लाद के पास पहुँचे तथा बड़ी विनम्रता से श्रेयज्ञानोपदेश की प्रार्थना की । ब्राह्मण ने प्रह्लाद से बारंबार पूछा - धर्मज्ञ ! आपको यह त्रिलोकी का उत्तम राज्य कैसे प्राप्त हुआ ? इसका कारण मुझे बताइये न । तब प्रह्लाद भी ब्राह्मण से इसप्रकार बोले - विप्रवर ! मैं राजा हूँ, इस अभिमान में आकर मैं कभी ब्राह्मण की निन्दा नहीं करता, बल्कि जब वे मुझे शुक्रनीति का उपदेश करते हैं, तब मैं संयमपूर्वक उनकी बातें सुनता हूँ और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ । वे ब्राह्मण विश्वस्त होकर मुझे नीति का उपदेश देते और सदा संयम में रखते हैं । मैं सदा ही यथाशक्ति शुक्राचार्य के बताये हुए नीतिमार्ग पर चलता, ब्राह्मणों की सेवा करता, किसी के दोष

---

1. महा० शान्ति०, अ०-124

न देखता और धर्म में मन लगाता हूँ । क्रोध को जीतकर मन और इन्द्रियों को काबू में किये रहता हूँ । अतः जैसे - मधु की मक्खियां शहद के छत्ते को फूलों के रस से सींचती रहती हैं, उसीप्रकार उपदेश देने वाले ब्राह्मण मुझे शास्त्र के अमृतमय बचनों से सींचा करते हैं । मैं उनकी नीति-विधाओं के रस का आस्वादन करता हूँ और जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों पर शासन करते हैं, उसीप्रकार मैं भी अपनी जाति वालों पर राज्य करता हूँ ।

ब्राह्मण के मुख में जो शुक्राचार्य का नीतिवाक्य साकल्येन विद्यमान है, यही इस भूतल पर अमृत है, यही सर्वोत्तम नेत्रोत्सव-जन्य आत्मानन्द है । राजा इसे सुनकर इसी के अनुसार बर्ताव करें । हे द्विजश्रेष्ठ ! बस इतना ही श्रेय है। यह बात प्रह्लाद ने उस ब्राह्मण {वेषधारी देवराज इन्द्र} से कहा । इसके बाद भी उसके सेवा-शुश्रूषा करने तथा उत्कण्ठा अभिव्यक्त करने पर दैत्यराज ने उससे यह बात कही -

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे द्वारा की गई यथोचित सेवा-शुश्रूषा एवं गुरूभक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वरदान मांगो । मैं उसे दूँगा इसमें संशय नहीं है। तब उस ब्राह्मण ने सविनय दैत्यराज से कहा— आपने मेरी सारी अभिलाषा पूर्ण कर दी है । यह सुनकर प्रह्लाद और भी प्रसन्न हुए और बोले - कोई वरदान तुम अवश्य मांगो । इन्द्र बोले - राजन् यदि आप प्रसन्न हैं और सचमुच मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका ही शील सम्प्राप्त करने की इच्छा है, यही मेरा वर है । यह सुनकर दैत्याधिराज प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए, परन्तु उनके मन में बड़ा भारी भय समा गया । ब्राह्मण के वर मांगने पर वे सोचने लगे कि यह कोई साधारण तेज वाला पुरूष नहीं है, फिर भी "एवमस्तु" कहकर प्रह्लाद ने वर दे दिया । उस समय उन्हें बड़ा भारी विस्मय हो रहा था । ब्राह्मण को वह वर देकर वे उसीप्रकार दुःखी हो गये जैसे दशरथ कभी कैकेयी को वर देकर दुःखी हो गये थे । महाराज, वर देने के पश्चात् जब ब्राह्मण चला गया तब प्रह्लाद को बड़ी भारी चिन्ता हुई । वे सोचने लगे क्या करना चाहिए ? परन्तु किसी निश्चय पर पहुंच न सके । वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके शरीर से परमकांतिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ ।

उसने उनके शरीर को त्याग दिया था । प्रह्लाद ने उस विशालकाय पुरूष से पूछा - आप कौन हैं ? उसने उत्तर दिया - मैं शील हूँ । तुमने मुझे त्याग दिया है, अब मैं तुम्हें छोड़कर जा रहा हूँ । राजन् !/अब मैं उसी अनिन्दित ब्राह्मण-श्रेष्ठ के शरीर में प्रवेश करूंगा जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहां बड़ी सावधानी के साथ रहता था । ऐसा कहकर शील अदृश्य हो गया और इन्द्र के शरीर में समा गया । उस तेज के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ । प्रह्लाद ने पूछा आप कौन हैं ? उसने उत्तर दिया - प्रह्लाद ! मुझे धर्म समझो । जहां वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है मैं भी वहीं जाऊंगा, क्योंकि - दैत्यराज! जहां शील रहता है मैं भी वहीं रहता हूँ । तदनन्तर महात्मा प्रह्लाद के शरीर से एक और तीसरा पुरूष प्रकट हुआ जो अपने तेज से प्रज्वलित सा हो रहा था । प्रह्लाद ने उससे भी पूछा-आप कौन हैं ? उसने कहा - मैं सत्य हूँ । अब मैं धर्म के पीछे-पीछे ही चला जाऊंगा । सत्य के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से चौथा महापुरूष प्रकट हुआ और परिचय पूछने पर बोला-मैं सदाचार हूँ।अतः जहां सत्य जायेगा, मैं भी वहीं जाऊंगा । उसके चले जाने पर पांचवां पुरूष प्रकट हुआ । उसने अपने को "बल" बताया और कहा कि जहां सदाचार जायेगा मैं वही जाऊंगा । इसप्रकार सदाचार के चले जाने पर एक देवी प्रकट हुई । परिचय पूछने पर अपने को उसने 'लक्ष्मी' बताया और कहा कि - सत्यपराक्रमी वीर! मैं स्वयं ही आकर तेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई थी और अब जब तुम्हारे पास शील , धर्म , सत्य, सदाचार तथा बल नहीं है तो मैं भी नहीं रह सकती ।क्योंकि मैं बल की अनुगामिनी हूँ ।

इतना आश्चर्य होने पर प्रह्लाद ने शङ्कावश उस ब्राह्मण के बारे में पूछा।तब लक्ष्मी ने प्रह्लाद को बताया कि - वह ब्राह्मण रूप में साक्षात् इन्द्र थे और जो तुम्हारा त्रिलोकी में राज्य फैला था वह उन्होंने नीतिपूर्वक तुम्हारी सेवा करके, वर मांगकर हर लिया है । धर्मज्ञ! तुमने शील के द्वारा ही तीनों लोकों पर विजय पायी थी । प्रभो ! यह जानकर ही सुरेन्द्र ने तुम्हारे शील का अपहरण कर लिया । महाप्राज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार , बल और लक्ष्मी - ये सभी शीलरूपी सूर्य के प्रकाशमात्र हैं । जो शीलवान् होता है वहीं त्रिलोकी का अधिपति बन जाता है । इसप्रकार दैत्यराज प्रह्लाद को स्पष्टीकरण देकर साम्राज्यलक्ष्मी , उन्हें छोड़कर देवराज इन्द्र के पास चली गईं ।

इन्द्र तथा प्रह्लाद के इस उपाख्यान का मूल संकेत यही है कि राजैश्वर्य का मूलस्त्रोत बस- शील है । जहां शील रहता है वहीं पर धर्म, सत्य , सदाचार , बल आदि भी रहते हैं और इन्हीं के साथ रहती है साम्राज्यलक्ष्मी ।

५ चञ्चला साम्राज्यलक्ष्मी

राजसत्ता की भी एक दार्शनिक पृष्ठभूमि है और वह है साम्राज्यलक्ष्मी की अस्थिरता । राजसत्ता किसी भी नरेश के पास चिरकाल तक नहीं रहती है । कालपुरूष-प्रवर्तित चक्र सत्ता में निरन्तर परिवर्तन करता रहता है ।

महाभारत के शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) अ0-223 में बलि तथा इन्द्र के रोचक संवाद से कालचक्र की अपरिहार्यता तथा राजलक्ष्मी की चंचलता का बोध होता है । इस संवाद का सारांश इसप्रकार है -

भगवान् वामन की कृपा से असुरों पर विजय प्राप्त करके , एक बार देवराज इन्द्र भगवान् ब्रह्मा के पास पहुँचे और पूछा - "प्रभो ! सम्प्रति (पराजित एवं श्रीभ्रष्ट) बलि कहाँ रहता है ?"[1].

"जिसके दान देते समय उसके धन का भण्डार कभी खाली नहीं होता था । जो वायु बनकर बहता था , वरूण बनकर वर्षा करता था , सूर्य-चन्द्र बनकर प्रकाश करता था , अग्नि बनकर समस्त प्राणियों को ताप देता था तथा जल बनकर सबकी तृषा हरता था - उस राजा बलि को मैं कहीं नहीं पा रहा हूँ । ब्रह्मन्! आप मुझे बलि का पता बताइये ?"

इन्द्र के आग्रहपूर्ण वचन सुनकर प्रजापति ने कहा - मघवन् ! बलि का पता पूछकर तुम अच्छा नहीं कर रहे हो (क्योंकि तुम उसे अपमानित करना चाहते हो) फिर भी मैं सत्यवक्ता होने के कारण बता रहा हूँ । किसी शून्यगृह में विद्यमान ऊँट , गौ, गर्दभ तथा अश्वजातीय प्राणियों में जो तुम्हें सर्वश्रेष्ठ दीखे , उसी को बलि समझो । परन्तु पहचान लेने पर भी तुम बलि का वध मत करना । हाँ तुम उससे न्यायोचित व्यवहार के विषय में प्रश्न कर सकते हो ।

---

1. पितामहमुपागम्य प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ।।3 - महा0 शान्ति0(मोक्षधर्म उपपर्व)

अन्ततः इन्द्र ने, रातदिन अन्वेषण के बाद, एक सुनसान घर में बलि को ढूंढ ही लिया, जहां वह स्वयं को गर्दभ-वेष में छिपाये खड़ा था। इन्द्र ने बलि को नानाप्रकार के व्यङ्ग्यपूर्ण वचनों से पीड़ित करना प्रारंभ किया। दैत्यराज बलि के पूर्व अत्याचारों तथा देवमंत्रणाओं का स्मरण दिलाते हुए इन्द्र ने बलि का भरपूर उपहास किया और कहा कि बलि! आज तुम गर्दभयोनि में पड़े भूसी खा रहे हो? कहां गया तुम्हारा वह चक्रवर्तित्व?

देवराज इन्द्र द्वारा वाग्बाणों से आहत तथा अधिक्षिप्त दैत्यराज बलि ने राजलक्ष्मी की अनित्यता तथा राजैश्वर्य का दर्शन स्पष्ट करते हुए कहा -

देवेश्वर! जो मूर्खता तुम दिखा रहे हो, उसे देख मैं आश्चर्यचकित हूँ। आज जो तुम मुझे श्रीविहीन देख रहे हो, सब कालपुरूष की माया का परिणाम है। शुद्ध-बुद्धि तथा ज्ञानतृप्त क्षमाशील सत्पुरूष दुःख पड़ने पर शोक नहीं करते। तुम अपनी अशुद्ध-बुद्धि तथा अहंकार के कारण ही आत्मप्रशंसा कर रहे हो। अन्यथा इस संसार में कौन वस्तु आत्यन्तिक रूप से स्थायी है? जीवन तथा शरीर - दोनो ही जन्म के साथ बढ़ते हैं और मृत्यु के साथ विनष्ट हो जाते हैं। मैं इस गर्दभशरीर को पाकर भी विवश नहीं हूँ। क्योंकि मैं शरीर की अनित्यता तथा आत्मा की असंगता को भलीभांति जानता हूँ।

मघवन् महावन्! जो कोई किसी को मारकर या जीतकर अपने पौरूष पर गर्व करता है वह वास्तव में उस पुरूषार्थ का कर्ता ही नहीं है। क्योंकि जगत्कर्ता परमेश्वर ही उस पुरूषार्थ का भी कर्ता होता है। जो काल द्वारा दग्ध है उसी को अग्नि भी जलाता है। जो काल द्वारा हत है उसी को कोई और भी मार पाता है। मैं तो प्रयत्न करने के बाद भी काल का कहीं अन्त नहीं पाता हूँ।

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरूषम्॥

- शान्तिपर्व, 225-25

प्राचीनकाल में मेरे कुपित होने पर सारा जगद् व्यथित हो उठता था । इस लोक की कभी वृद्धि होती है कभी ह्रास । यह इसका सनातन स्वभाव है । शक्र ! तुम भी इसी दृष्टि से जगत् को देखो ।

प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं होते हैं । तुम्हारा मन अभी बालक के समान है । नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त करो । कल्याणमय विचार वाली सुलक्षणा रूपवती नारी इस संसार में विधवा देखी जाती है तथा कुलक्षणा , कुरूपा सौभाग्यवती । उच्चकुलोत्पन्न दर्शनीय प्रतापी पुरूष , मंत्रियों के साथ दुर्दशा भोगता दिखाई पड़ता है परन्तु नीचकुलोत्पन्न दुराचारी मूढ़ राजसुख भोगते हैं । यह सब काल की गति ही है । सबकुछ जगन्नियन्ता ईश्वर के वश में है , पुरूष के नहीं ।

समृद्धि एवं निर्धनता प्रारब्ध के अनुसार पर्याय से आती रहती है । यदि आज मैं काल के वशीभूत न होता तो वज्र धारण करने पर भी , तुम्हें केवल मुक्के से मारकर पृथ्वी पर गिरा देता । परन्तु काल मेरे विपरीत है । यह मेरे पराक्रम का अवसर नहीं है , शान्त रहने का समय है । भगवान् काल ही प्राणियों की दशा में उत्कट हेर-फेर करते हैं ।[1]

हे देवेश्वर ! जिस परमोत्तम साम्राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर तुम यह समझ रहे हो कि यह तुम्हारे पास स्थायी रूप से रहेगी , तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है । क्योंकि राजलक्ष्मी एक जगह बंध कर रहती ही नहीं ।

इन्द्र ! यह राजलक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ पुरूषों के पास रह चुकी है । प्रत्यक्ष ही देखो कि यह चंचला मुझे छोड़कर तुम्हारे पास चली गई है । शचीपते ! तुम जैसे हो , वैसे ही बल एवं पराक्रम से सम्पन्न अनेक सहस्त्र इन्द्र अब तक समाप्त हो चुके हैं । तुम स्वयं को जो अत्यन्त शक्तिशाली तथा उत्कटबल-सम्पन्न समझ रहे हो , समय आने पर महापराक्रमी काल तुम्हें पुनः शान्त कर देगा ।[2]

---

1. कालपुरूष के सन्दर्भ में सविस्तर द्रष्टव्य : शान्ति , 224-48 से 57 तक ।

2. द्रष्टव्य : महा० शान्ति० अ० 224-58 से 60 तक ।

इन्द्र तथा बलि का संवाद पूर्ण होते ही बलि की देह से एक ज्योतिष्मती नारी प्रकट हुई । उसने बताया कि वही लक्ष्मी है -

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव ।
त्वं मां शक्र न जानीषे सर्वे देवा न मां विदुः ।।

- शान्ति0 225-8

लक्ष्मी ने कहा - देवराज ! काल के ही आदेशवश मैं बलि का परित्याग कर तुम्हारे पास आई हूँ । तुम भी उस काल की कभी अवहेलना मत करना । मैं सत्य दान , व्रत , तपस्या , पराक्रम और धर्म में निवास करती हूँ । बलि इन सबसे विमुख हो चुका है अतः मैने इसे त्याग दिया है ।

दैत्यराज बलि पहले ब्राह्मणों का हितैषी , सत्यवादी , जितेन्द्रिय तथा देवयाजक था । परन्तु बाद में द्विजमत्सरी , असत्याश्रयी , लम्पट हो गया तथा अपना ही यज्ञ कराने लगा प्रजा से । वासव ! इसप्रकार बलि द्वारा तिरस्कृत मैं अब तुम्हारा वरण कर रही हूँ । तुम वेदविहित पद्धति से मुझे चतुर्धा विभक्त करके धारण करो ।

लक्ष्मी के आदेशानुसार देवराज इन्द्र ने उसे चतुर्धा विभक्त कर उसका एक भाग पृथ्वी पर , दूसरा भाग जल में , तीसरा अग्नि में तथा चौथा सत्पुरुषों में प्रतिष्ठित कर दिया ।[1]

बलि , इन्द्र तथा साम्राज्यलक्ष्मी के संवाद का यह रोचक प्रसंग अत्यन्त प्रेरणाप्रद तथा कटु यथार्थ से ओतप्रोत है । परवर्ती वाङ्मय में महाकवि बाणभट्ट (कादम्बरी , शुकनासोपदेश) विशाखदत्त (मुद्राराक्षसनाटक) तथा कल्हण (राजतरंगिणी) ने साम्राज्यलक्ष्मी के इसी दार्शनिक-पक्ष को स्पष्ट करने का यत्न किया है । देवराज इन्द्र के माध्यम से अभिव्यक्त यह राजकीय-ऐश्वर्य की व्याख्या आज भी पूर्णतः प्रासंगिक प्रतीत होती है विश्व के राजनैतिक घटनाचक्र के सन्दर्भ में ।

---

1. द्रष्टव्य : महा0 शान्ति0 अ0 225 श्लोक 21 से 28 तक ।

राजलक्ष्मी की अस्थिरता तथा काल की अवश्यंभवितव्यता के अनेक ऐसे ही प्रसंग और भी उपलब्ध हैं महाभारत में । इन्द्र तथा नमुचि का संवाद {शान्तिपर्व अ0-226} तथा इन्द्र एवं लक्ष्मी का संवाद {शान्तिपर्व अ0-228} इसीप्रकार के प्रेरणाप्रद स्थल हैं । इन सन्दर्भों में लक्ष्मी के स्वरूप , गुण, रूचि तथा अरूचि का अत्यन्त सूक्ष्म तथा तर्कसंगत व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है । राजसत्ता की इससे परतर व्याख्या होनी संभव नहीं है । लक्ष्मी इन्द्र के पास रहने को आयी है क्योंकि दैत्य अब उसके पात्र नहीं रह गये हैं । वे प्रातः देर तक सोये रहने वाले , कृतघ्न , कटुभाषी, कृपण , जिह्म , आलसी , अहंकारी , असहिष्णु , असत्यवादी , शत्रुता-परायण , अपवित्र, तपोविहीन तथा लम्पट हो चले हैं । ऐसे व्यक्तियों के पास लक्ष्मी नहीं रह सकती ।[1]

लोकधर्म एवं इन्द्र

ऐतरेय-ब्राह्मण में वर्णित हरिश्चन्द्रोपाख्यान में रोहित तथा इन्द्र का सन्दर्भ निरूपित हुआ है । पिता हरिश्चन्द्र को अपने कारण संकटग्रस्त देखकुमार रोहित जब भी घर लौटना चाहता है , इन्द्र उसे जैसे-तैसे समझाकर पुनः रोक लेते हैं क्योंकि वह नहीं चाहते कि रोहित की बलि देकर महाराज हरिश्चन्द्र अपना वरूणयाग सम्पन्न कर सकें ।

देवराज इन्द्र रोहित को "चरैवेति" की शिक्षा देते हुए कहते हैं - "इन्द्र इच्चरतः सखा" अर्थात् इन्द्र सञ्चरणशील {उद्यमी} व्यक्ति का ही साथी है , आलसी व्यक्ति का नहीं । वेद ,पुराण , आर्षकाव्यों तथा परवर्ती-वाङ्मय में भी इन्द्र के चरित का यह पक्ष बड़ी सूक्ष्मता के साथ उजागर हुआ है । इन्द्र असहायों तथा आर्तो का परम सहायक है । उसमें अपार करूणा , सहयोग एवं सहानुभूति की भावना तथा वत्सलता है । अतः लोकधर्म का पालन करने वाले अपने भक्तों का वह परम विश्वस्त सहायक है ।

1. जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ।।25
असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ।।27
तेष्वेवमादीनामाचारानाचरत्सु विपर्यये ।
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ।।80
तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ।
त्वयार्चितां मां देवेश । पुरो धास्यन्ति देवताः ।।81 -महा.शान्ति.अ. 228

लोकधर्म के साथ इन्द्र का कैसा सामञ्जस्य है ? इस तथ्य की समीक्षा कुछ ऐसे ही सन्दर्भों के माध्यम से प्रस्तुत है जिनके मूल में देवराज इन्द्र स्वयं है । या तो वह इस लोकधर्मों का उपदेष्टा है या फिर स्वयं उन्हें चरितार्थ करने वाला ।

1. अतिथिसत्कार

लोकधर्म के परिपालन की परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व अतिथिसत्कार का ही है । इस सन्दर्भ में देवर्षि नारद द्वारा देवराज इन्द्र को " उञ्छवृत्ति" से जीवन-निर्वाह करने वाले एक ब्राह्मण का वृत्तान्त बताया गया था , जिसे भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को सुनाया (महा० शान्तिपर्व अ०-229)

गंगातटवर्ती महापद्म नगर में रहने वाला एक ब्राह्मण , सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर माया-मोह से विरक्त होकर संसार त्यागने का विचार करने लगा । तभी उसके घर एक अतिथि आ गए । ब्राह्मण ने उस अतिथि से अपना मन्तव्य बताया तो उसने उस ब्राह्मण से कहा -

द्विजश्रेष्ठ ! गोमती नदी के तट पर , जहां कभी देवों ने यज्ञ किया था तथा महाराज मान्धाता जहां अश्वमेध यज्ञ कर देवराज इन्द्र को भी अतिक्रान्त कर गये थे , नागपुर नामक स्थान है । वहां पद्म नामक एक नागराज रहता है । तुम उसी के पास जाओ । वह अत्यन्त ज्ञानवान् है , तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा ।

अतिथि का निर्देश मान वह ब्राह्मण यथाकथंचित् नाग के घर पहुंचा । परन्तु नाग अपने घर पर था नहीं । वर्ष में एक बार सूर्य के रथ को खींचने का उसका पर्यायक्रम चल रहा था अतः वह सूर्य के पास गया था । नाग की पत्नी नें मधुर वाणी में ब्राह्मण का कुशल-क्षेम पूछा तथा आतिथ्य-ग्रहण करने का निवेदन किया ।

परन्तु चूंकि ब्राह्मण को पद्म से ही प्रयोजन था अतः वह उसकी प्रतीक्षा में 15 दिनों तक पार्श्ववर्ती वन में तप करता रहा । उसकी तपस्या से अतिथिपरायण नागपरिवार विह्वल हो उठा , परन्तु ब्राह्मण ने उन्हें सान्त्वना दी और पद्म की प्रतीक्षा करता रहा । अन्ततः नागराज पद्म सूर्यलोक से लौटे तथा पत्नी से सारा वृत्तान्त जानकर विनम्र भाव से तपोरत ब्राह्मण के पास गये तथा उसके आने का प्रयोजन पूछा ।

ब्राह्मण ने पद्म से अपना मन्तव्य बताया तो पद्म ने उसे सूर्य की सत्ता का रहस्य समझाया और कहा कि अतिथि - सत्कार ही सर्वोत्तम तप है । परोपकार से बड़ा और कोई तप नहीं और इसीलिये ब्रह्माण्ड में सबसे बड़े तपस्वी भगवान् सूर्य हैं ।क्योंकि वह अपनी किरणों के माध्यम से आठ महीने तक पृथ्वी का जल सोखते रहते हैं , चार महीने तक वही सोखा गया जल वर्षा के रूप में पृथ्वी को लौटाते रहते हैं ।

हे द्विजश्रेष्ठ ! सर्वोत्तम तपस्वी इस पृथ्वी पर वही है जो उञ्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करता हुआ , नियम-संयम तथा निष्ठा से, एकाग्रचित्त से मन को ईश्वर में लगाकर लोककल्याण करता रहता है । ऐसे सत्पुरूष अन्त में सूर्यलोक में परमगति प्राप्त करते हैं । सूर्य भी तो उञ्छवृत्ति से ही निर्वाह करते हैं । जैसे वह उपभोग के बाद पृथ्वी पर बचे-खुचे जल को सोखकर अपना निर्वाह करते हैं उसीप्रकार तपस्वी को भी किसानों द्वारा खेत की कटाई कर लेने के बाद , खेत में गिरे अन्नकणों को एकत्र कर जीवन-निर्वाह करना चाहिये । यह उञ्छवृत्ति सबसे बड़ा तप है ।

नागराज पद्म से यह उपदेश ग्रहण कर वह ब्राह्मण "उञ्छवृत्ति" का संकल्प लेकर महर्षि च्यवन के पास पहुंचा दीक्षा लेने । महर्षि च्यवन से दीक्षा लेकर उसने अतिथियों के सत्कार में ही अपने को अर्पित कर दिया ।

देवर्षि नारद से यह घटना सुनकर देवराज इन्द्र ने तथा भीष्म से सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने भी अतिथि-सत्कार का महत्त्व समझा । अतिथि-सत्कार की महिमा का विस्तृत वर्णन हम मनुस्मृति आदि स्मृतियों तथा विभिन्न धर्मसूत्रों में पाते हैं । परन्तु यहां यह प्रसंग इन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत किया गया है ।

2. अध्यात्मदृष्टि

संसार में वही व्यक्ति सुखी है जो जल में रहने वाले कमलपत्र के समान अनासक्त भाव से जीवन-यापन करता है । जो स्थितप्रज्ञ है । सुख तथा दुःख में , लाभ तथा हानि में , सम्पत्ति तथा विपत्ति में - समान भाव रखता है । संसार में रहते हुए भी हमारी दृष्टि आध्यात्मिक होनी चाहिये ।

इसी अध्यात्मदृष्टि का उपदेश, दैत्यराज महाभागवत प्रह्लाद ने देवराज इन्द्र को दिया है जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है। एक बार श्रीहरि के चिन्तन में लीन प्रह्लाद को, साम्राज्य एवं ऐश्वर्य से च्युत हुआ देखकर देवराज इन्द्र उनका विचार जानने की इच्छा से बोले[1] – दैत्यराज! संसार में जिन गुणों को पाकर कोई भी पुरुष सम्मानित हो सकता है उन सबको मैं आपके भीतर स्थिर-भाव से स्थित देखता हूँ। आपकी बुद्धि बालकों के समान राग-द्वेष से रहित दिखायी देती है। आप आत्मा का अनुभव करते हैं। इसीलिए आपकी ऐसी स्थिति है। अतः मैं पूछता हूँ कि इस जगत् में आप किसको आत्मज्ञान का श्रेष्ठ साधन मानते हैं? आप रस्सियों से बाँधे गये हैं, राज्य से भ्रष्ट हो चुके हैं और अपने ऊपर संकट आया हुआ जानकर भी निश्चिन्त हैं। हे दैत्यराज! यह आपकी स्थिति धैर्य के कारण है अथवा आत्मज्ञान के? इन्द्र के इसप्रकार तर्क-वितर्क करने पर प्रह्लाद उसीप्रकार बोले, जिसप्रकार बलि राजलक्ष्मी से हीन होने पर स्थिरबुद्धि होकर इन्द्र से बोले थे। देवराज! जो प्राणियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानता उसीको अतिविवेक के कारण स्तम्भ या जड़ता अथवा मोह होता है। जिसे आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, उसको कभी मोह नहीं होता। सब तरह के भाव, अभाव, स्वभाव से ही आते-जाते रहते हैं। उसके लिए पुरुष का कोई प्रयत्न नहीं होता। पुरुष का प्रयत्न न होने से कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता परन्तु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत् में कर्तापन का अभिमान हो जाता है। जो आत्मा को शुभ या अशुभ कर्मों का कर्ता मानता है उसकी बुद्धि दोष से युक्त और तत्त्वज्ञान से रहित है, ऐसी मेरी मान्यता है। इन्द्र! यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याण के लिए जो कुछ भी करता उसके सारे कार्य अवश्य सिद्ध होजाते। उसे अपने प्रयत्न में कभी पराभव नहीं प्राप्त होता। परन्तु देखा यह जाता है कि – इष्ट-सिद्धि के लिए प्रयत्न करने वालों को अनिष्ट की भी प्राप्ति होती है और इष्ट की सिद्धि से वे वञ्चित रह जाते हैं। अतः पुरुषार्थ की प्रधानता कहाँ रही? कितने ही प्राणियों को बिना किसी प्रयत्न के ही अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट का निवारण होते देखा है। यह बात स्वभाव से होती है।

---

1. शक्रः प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम्।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत्॥ महा० शान्ति० 222-8

कितने ही सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान पुरूष भी अल्प-बुद्धि और कुरूप मनुष्यों से धन पाने की आशा करते हैं । जब शुभ और अशुभ सभीप्रकार के गुण स्वभाव की ही प्रेरणा से प्राप्त होते हैं । तब किसी को भी उनपर अभिमान करने का क्या कारण है ? मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि स्वभाव से ही सबकुछ प्राप्त होता है । मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती । यहां पर जो शुभ और अशुभ फल की प्राप्ति होती है उसमें लोग कर्म को ही कारण मानते हैं , अतः मैं तुमसे कर्म के विषय का ही पूर्णतया वर्णन करता हूँ ।

जैसे कोई कौवा कहीं गिरे हुए भात को खाते समय काँव-काँव करके अन्य कार्कों को यह जता देता है कि यहां अन्न है , उसीप्रकार समस्त कर्म अपने स्वभाव को ही सूचित करने वाले है । जो विकारों को ही जानता है,उनकी परम प्रकूति स्वभाव'को नहीं जानता उसीको अविवेक के कारण मोह या अभिमान होता है।जो इस बात को ठीक-ठीक समझता है , उसे मोह नहीं होता । सभी भाव , स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। इस बात को जो निश्चित रूप से जान लेता है । उसका दर्प या अभिमान क्या बिगाड़ सकता है ? इन्द्र ! मैं धर्म की पूरी की पूरी विधि तथा सम्पूर्ण भूतों की अनित्यता को जानता हूँ । इसलिए'यह सब नाशवान् है'ऐसा समझकर किसी के लिए शोक नहीं करना चाहिए । ममता , अहंकार तथा कामनाओं से शून्य और सब प्रकार के बन्धनों से रहित हो आत्मनिष्ठ एवं असंग रहकर मैं प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश को देखता रहता हूँ । मैं शुद्ध-बुद्धि , मन तथा इन्द्रियों को अपने अधीन करके स्थित हूँ । मैं तृष्णा एवं कामना से रहित हूँ तथा सदैव अविनाशी आत्मा पर ही दुष्टि रखता हूँ । प्रकूतिके कर्मों के प्रति न तो मुझमें राग है , न ही द्वेष ! इसलिये मैं न तो किसी को अपना द्वेषी समझता हूँ , न ही आत्मीय ।

इन्द्र ! मुझे न तो उच्च {स्वर्ग} न नीच {पाताल} और न ही मध्यम {पृथ्वी} लोक की कभी कामना होती है । हे देवराज ! सरलता , सावधानी , बुद्धि की निर्मलता चित्त की स्थिरता तथा बड़े-बूढ़ों की सेवा करने से पुरूष महत्-पद को प्राप्त करता है ।

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया ।
वृद्धशुश्रूषया शक्र ! पुरूषो लभते महत् ।।34

– महा० शान्ति० अ० 222

इन्द्र तथा प्रह्लाद का उपर्युक्त संवाद अध्यात्म-दृष्टि का सारग्राही विवेचन करता है । प्राचीन काल से ही पवित्र भारतभूमि अपनी इसी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण विश्वगुरू कही जाती रही है । योगिराज भर्तृहरि इसी तथ्य को कविता में समझाते हैं -

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
समानमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।। नीतिशतकम् ।

3. दयालुता एवं कृतज्ञता

लोकधर्म का तीसरा प्रमुख सोपान है दयालुता तथा कृतज्ञता । जो व्यक्ति करूणहृदय नहीं है, परदुःखकातर नहीं है तथा जो व्यक्ति किये गये उपकार को नहीं मानता वह पशु से भी कहीं अधम प्राणी है । इस सन्दर्भ में यद्यपि विपुल-वाङ्मय उपलब्ध है, परन्तु यहां महाभारत के अनुशासन-पर्व {अध्याय 4} में वर्णित एक सन्दर्भ की समीक्षा प्रस्तुत है जिसमें एक तोते के साथ देवराज इन्द्र का मार्मिक संवाद विद्यमान है ।[1]

मनुष्य तो विवेक-परायण होता है । अतः उसके दयालु अथवा कृतज्ञ होने में कोई आश्चर्य नहीं है । परन्तु कभी-कभी पशुओं एवं पक्षियों में भी ये उदात्त भावनाएं, आश्चर्यजनक रूप से साकार दृष्टिगोचर होती है । वस्तुतः ऐसा संभव होता है पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के कारण । महाभारत में ही उपलब्ध व्याध एवं कपोत का उपाख्यान इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि पक्षीयोनि में उत्पन्न होने के बावजूद भी एक कपोत में शरणागतवत्सलता के भाव विद्यमान थे ।

---

1. देवराज इन्द्र तथा तपस्वी शुक का यह संवाद भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठर को तब बताया जब उन्होंने पितामह से दयालु तथा भक्त पुरूषों के गुणों को सुनने की आकांक्षा प्रकट की ।

पितामह भीष्म द्वारा, दयालुता तथा कृतज्ञता जैसे श्रेष्ठ लोकधर्मों की महत्ता बताने के उद्देश्य से धर्मराज युधिष्ठिर को सुनाया गया उपर्युक्त कथानक इसप्रकार है -

काशिराज के राज्य की बात है, एक व्याध विष-बुझा बाण लेकर गांव से निकला और शिकार के लिए किसी मृग को खोजने लगा। उस महान वन में थोड़ी ही दूर जाने पर मांसलोभी व्याध ने कुछ मृगों को देखा और उन पर बाण चला दिया। व्याध का वह बाण अमोघ था, परन्तु निशाना चूक जाने के कारण मृग को मारने की इच्छा से छोड़े गये उस बाण ने एक विशाल वृक्ष को बेध दिया। तीखे विष से बुझे बाण से आघात होने पर विष वृक्ष की शाखाओं में फैल गया और कुछ ही दिनों में वह फल-फूल तथा पत्तों से रहित हो गया। उसी वृक्ष के एक कोटर में एक तोता बहुत दिनों से निवास करता था। उस वृक्ष के प्रति उसे बड़ा प्रेम था, इसलिए वह उसके सूखने पर भी वहाँ का निवास छोड़ नहीं रहा था। वह धर्मात्मा कृतज्ञ तोता कहीं आता-जाता नहीं था। चारा चुगना भी छोड़ दिया था। वह इतना शिथिल हो गया था कि उससे बोला तक नहीं जाता था। इस प्रकार उस वृक्ष के साथ वह स्वयं भी सूखता चला जा रहा था। उसका धैर्य महान् था, उसकी चेष्टा अलौकिक दिखायी देती थी। दुःख और सुख में समान भाव रखने वाले उस उदार तोते को देखकर पाकशासन इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। इन्द्र यह सोचने लगे कि यह पक्षी कैसे ऐसी अलौकिक दया को अपनाये बैठा है, जो पक्षी की योनि में प्रायः असम्भव है? यह सोचकर वे ब्राह्मण-वेश में मनुष्य का रूप धारण कर स्वर्गलोक से पृथ्वी पर उतरे और उस तोते के पास जाकर बोले -

पक्षियों में श्रेष्ठ शुक। तुम्हें पाकर दक्ष की दौहित्री शुकी उत्तम सन्तानवाली हुई है। मैं पूछता हूँ कि अब इस वृक्ष को क्यों नहीं छोड़ देते?

हे शुक! आपकी क्या विवशता है जो इस शुष्क-वृक्ष पर जीवन व्यतीत कर रहे हो? यह ठूँठ हो चला है, फलतः वर्षा में जल से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।

प्रचण्ड ग्रीष्म में आतप से तुम्हारा निवारण नहीं कर सकता और न ही तुम्हें शीत से बचा सकता है । ईश्वर ने तुम्हें उड़ने की शक्ति दी है अतः एक स्थान पर बंधे रहने को भी तुम विवश नहीं हो । शुक की दयालुता तथा कृतज्ञता को देखकर विस्मित इन्द्र द्वारा इसप्रकार पूछने पर शुक ने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा - देवराज ! आपका स्वागत है । मैंने तपस्या के बल से ही आपको पहचान लिया है । यह सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र ने मन ही मन कहा - वाह ! वाह ! क्या अद्भुत विज्ञान है ? ऐसा कहकर उन्होंने मन से ही उसका आदर किया । वृक्ष के प्रति इस तोते का कितना प्रेम है ? इस बात को जानते हुए भी बलसूदन इन्द्र ने शुभकर्म करने वाले उस परम धर्मात्मा शुक से पूछा— शुक ! इस विशाल वृक्ष के पत्ते झड़ गये हैं, फल भी नहीं आ रहे हैं। यह सूख जाने के कारण पक्षियों के बसेरा लेने योग्य भी नहीं है । फिर तुम इस ठूंठ वृक्ष का क्यों सेवन कर रहे हो ? इस वन में तो और भी हरे-भरे वृक्ष हैं, जिनके कोटर अत्यन्त सुखद और रमणीय हैं। उनमें क्यों नहीं निवास करते ? इन्द्र के द्वारा अनेकशः उस शरणागत-वत्सल वृक्ष की कमियां बताने पर प्रत्युत्पन्नमति तोते ने कहा - शचीवल्लभ ! दैव का अतिक्रमण कथमपि नहीं किया जा सकता । देवराज ! जिसके विषय में आपने प्रश्न मुझसे किया है उसकी बात सुनिये कि मैं उसे क्यों नहीं छोड़ रहा हूँ ?

मैंने इसी वृक्ष पर जन्म प्राप्त किया और यहीं रहकर अच्छे-अच्छे गुण सीखे हैं । इस वृक्ष ने अपने सगे बालक की तरह मुझे सुरक्षित रखा और मेरे ऊपर शत्रुओं का कभी आक्रमण नहीं होने दिया ।

निष्पाप देवेन्द्र ! इन्हीं सब कारणों से मेरी इस वृक्ष से प्रगाढ़ मैत्री और भक्ति है । प्रभो ! मैं दयारूपी व्रत के पालन में लगा हुआ हूँ आप कृपापूर्वक इस मेरी सद्भावना को व्यर्थ बनाने की चेष्टा न करें ।

सहस्राक्ष ! आप इस वृक्ष को मुझसे छुड़ाने का यत्न मत करिये । जब यह समर्थ (हरा-भरा) था, तब दीर्घकाल तक इसीके आश्रय में रहकर मैंने जीवनधारण किया । और अब जबकि यह शक्तिहीन (शुष्क) हो चला है, तब मैं इसे छोड़कर चल दूँ ? यह भला कैसे हो सकता है ? यह तो नृशंसता तथा कृतघ्नता होगी देवराज !

तोते की इस कोमल मर्मभरी वाणी से पाकशासन को बड़ी प्रसन्नता हुई । धर्मात्मा देवेन्द्र ने शुक की दयालुता तथा कृतज्ञता से परितुष्ट होकर , उसे वर मांगने को कहा । तब तोते ने उस शुष्क वृक्ष को पुनः हरा-भरा बना देने का वर मांगा । देवराज ने तत्काल ही अमृत के अभिषेक से उस वृक्ष को पूर्ववत् जीवित कर दिया और वह लहलहाने लगा । वह दयालु , कृतज्ञ शुक भी अपने उसी पुण्य के कारण , आयु की समाप्ति के अनन्तर इन्द्रलोक को प्राप्त हुआ ।

5. गार्हस्थ्य-वृत्ति की सर्वश्रेष्ठता

एक समय की बात है । कुछ मन्दबुद्धि ब्राह्मण-बालक घर को छोड़कर तपस्या के निमित्त वन में चले । अभी उन्हें दाढ़ी-मूंछ तक नहीं आयी थी । उसी अवस्था में उन्होंने घर का त्याग किया था।यद्यपि वे सब के सब धनी थे , तथापि भाई-बन्धु और माता-पिता को छोड़कर इसको धर्म मानते हुए वन में आकर ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे । एक दिन इन्द्र देव ने उनपर कृपा की।भगवान् इन्द्र सुवर्णमय पक्षी का रूप धारण करके वहां आये और उनसे इसप्रकार कहने लगे - यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों ने जो कर्म किया है , वह दूसरों से होना अत्यन्त कठिन है । उनका यह कर्म बड़ा पवित्र और जीवन बहुत उत्तम है । वे धर्मपरायण पुरुष सफल मनोरथ ही श्रेष्ठ-गति को प्राप्त हुए।ऋषिबालक बोले-आहा ! यह पक्षी तो विघसाशी (यज्ञशेष अन्न का भोजन करने वाले) पुरुषों की प्रशंसा करता है । निश्चय ही हम लोगों की बड़ाई करता है , क्योंकि यहां हम लोग ही 'विघसाशी' हैं । तब पक्षी बोला - अरे ! देह में कीचड़ लपेटे और धूल पीते हुए जूठन खाने वाले तुम जैसे मूर्खों की मैं प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ । विघसाशी तो दूसरे ही होते हैं । ऋषि बोले - पक्षी ! यही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी साधन है , ऐसा समझकर ही हम इस मार्ग पर चल रहे हैं । तुम्हारी दृष्टि में जो श्रेष्ठ धर्म है , उसे तुम्हीं बताओ । हम तुम्हारी बात पर अधिक श्रद्धा करते हैं । पक्षी बोला - यदि आप लोग मुझपर सन्देह न करें तो मैं हितकारी और मनोहर वचन बोलूं क्योंकि ऐसा वचन दुर्लभ होता है । ऋषि बालक बोले - तात ! हम तुम्हारी बात सुनेंगे । तुम्हें सब मार्ग विदित है । धर्मात्मन् हम तुम्हारी आज्ञा के अधीन रहना चाहते हैं । तुम हमें उपदेश दो । पक्षी बोला - चौपायों में गाय , धातुओं में सोना , शब्दों में मन्त्र तथा मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ और उत्तम है।ब्राह्मणों के लिए मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कार

का विधान है । वह जब तक जीवित रहे , समय-समय पर उसके आवश्यक संस्कार होते रहने चाहिए । मरने पर भी यथा समय शमशान-भूमी में अत्येष्टि-संस्कार तथा घर पर श्राद्ध आदि वैदिक-विधि के अनुसार सम्पन्न होने चाहिए।वैदिक-कर्म ही ब्राह्मण के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाले उत्तम मार्ग हैं । इसके सिवा मुनियों ने समस्त कर्मो को वैदिक-मन्त्रों द्वारा ही सिद्ध होने वाला बताया है । वेद में इन कर्मों का प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है , इसलिए उन कर्मों के अनुष्ठान से ही यहाँ अभीष्ट सिद्धि होती है।मास, पक्ष, ऋतु, सूर्य , चन्द्रमा और तारों से उपलक्षित जो यज्ञ होते हैं उन्हें यथासम्भव सम्पन्न करने की चेष्टा प्रायः समस्त प्राणी करते हैं । यज्ञों का सम्पादन ही कर्म कहलाता है और जहाँ ये कर्म किये जाते हैं वह "गृहस्थ-आश्रम" ही सिद्धि का पुण्यमय क्षेत्र है । यही सबसे बड़ा आश्रम है । जो मनुष्य कर्म की निन्दा करते हुए कुमार्ग का आश्रय लेते हैं, उन पुरूषार्थहीन पुरूषों को पाप लगता है । पक्षीरूपधारी इन्द्र ने पुनः उन मूढ़ ऋषिपुत्रों को समझाया – ऋषिपुत्रों ! तुम्हारी यह अवस्था वानप्रस्थ या संन्यास की नहीं है । तुम्हें जानना चाहिये कि देवसमूह और पितृसमूहों का भजन तथा ब्रह्मवंश ॥वेदशास्त्र आदि के स्वाध्याय द्वारा ऋषि-मुनियों॥ की तृप्ति – ये तीन ही सनातन मार्ग हैं । जो मूर्ख इनका परित्याग करके और किसी मार्ग से चलते हैं , वे वेदविरूद्ध पथ का आश्रय लेते हैं । मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने एक मन्त्र में कहा है कि यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानों द्वारा सम्पादित हो।परन्तु यह होना चाहिए तपस्या से युक्त ! तुम इसका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवाञ्छित फल प्रदान करूंगा । अतः उन वैदिक कर्मों में पूर्णतः संलग्न हो जाना ही तपस्वी का "तप" कहलाता है । हवन-कर्म के द्वारा देवताओं को, स्वाध्याय द्वारा ब्रह्मर्षियों को तथा श्राद्ध द्वारा सनातन पितरों को उनका भाग समर्पित करके गुरू की परिचर्या करना दुष्कर-व्रत कहलाता है । इस दुष्कर-व्रत का अनुष्ठान करके देवताओं ने उत्तम वैभव प्राप्त किया है । यह गृहस्थधर्म का पालन ही दुष्कर-व्रत है।मैं तुम लोगों से इसी दुष्कर-व्रत का भार उठाने के लिए कह रहा हूँ।तपस्या श्रेष्ठकर्म है । इसमें संदेह नहीं कियही प्रजावर्ग का मूल कारण है । परन्तु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्र के अनुसार इस गार्हस्थ्य-धर्म में ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है । जिनके मन में किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं है , जो सब प्रकार के

द्वन्द्वों से रहित हैं वे ब्राह्मण इसी को तप मानते हैं। यद्यपि लोक में व्रत को भी तप कहा जाता है, किंतु वह पञ्चयज्ञ के अनुष्ठान की अपेक्षा मध्यम श्रेणी का है। क्योंकि – विघसाशी पुरूष प्रातःकाल, सायंकाल विधिविधान-पूर्वक अपने कुटुम्ब में अन्न का विभाग करके दुर्जय अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं, पितरों, अतिथियों तथा अपने परिवार के अन्य सब लोगों को अन्न देकर जो सबसे पीछे अवशिष्ट अन्न खाते हैं, उन्हें 'विघसाशी' कहा गया है। ऋषिपुत्रो! इसलिए अपने धर्म पर आरूढ़ हो, उत्तम व्रत का पालन और सत्यभाषण करते हुए जगद्गुरू होकर सर्वथा संदेह रहित हो जाते हैं। वे ईर्ष्यारहित दुष्कर व्रत का पालन करने वाले पुण्यात्मा पुरूष इन्द्र के स्वर्गलोक में पहुंचकर अनन्त वर्षों तक वहां निवास करते हैं। तब वे ऋषिगण पक्षीरूपधारी इन्द्र की बातें सुनकर और समझकर कि 'हम लोग जिस मार्ग पर चले हैं उपयुक्त और उचित नहीं है' अपने घर को लौट गये और गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए वहां रहने लगे।

पक्षीरूपधारी इन्द्र द्वारा पथभ्रष्ट ऋषिपुत्रों को दिया गया यह गार्हस्थ्य-धर्मोपदेश महाभारत के शान्तिपर्व (अ0 11) में वर्णित है। माता कुन्ती द्वारा कर्ण के जन्म-रहस्य को छिपाने के कारण, स्वयं को भ्रातृवध से कलंकित मानकर जब धर्मराज युधिष्ठिर वानप्रस्थ बनने को उद्यत हो उठे तब अर्जुन ने उन्हें इन्द्रप्रोक्त गृहस्थाश्रम का यह माहात्म्य सुनाकर वनगमन से विरत किया।

5. <u>मधुरवचन</u>

एक बार देवराज इन्द्र ने अपने पुरोहित महामति देवगुरू बृहस्पति से पूछा – प्रभो! कौन सी ऐसी एक वस्तु है, जिसका नाम ही एक पद का है और जिसका भली-भांति आचरण करने वाला पुरूष समस्त प्राणियों का प्रिय होकर महान् यश पाता है? तब बृहस्पति बोले – महेन्द्र! जिसका नाम एक ही पद का है, वह एकमात्र वस्तु है मधुर-वचन (बोलना) उसका भलीभांति आचरण करने वाला पुरूष समस्त प्राणियों का प्रिय होकर महान् यश को प्राप्त करता है। शक्र! यही एक वस्तु सम्पूर्ण जगत् के लिए सुखदायक है। इसको आचरण में लाने वाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियों का प्रिय होता

है ।[1] जो मनुष्य सदा भौंहे टेढ़ी किये रहता है , किसी से कुछ बातचीत नहीं करता वह शान्त-स्वभाव न अपनाने के कारण सब लोगों के द्वेष का पात्र हो जाता है ।[2] जो सभी को देखकर पहले ही बात करता है और सबसे मुस्कराकर ही बोलता है । उसपर सब लोग प्रसन्न रहते हैं । जैसे बिना व्यञ्जन {साग-दाल आदि} का भोजन मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता उसीप्रकार मधुर-वचन बोले बिना दिया हुआ दान भी प्राणियों को प्रसन्न नहीं कर पाता है । शक्र! मधुर वचन बोलने वाला मनुष्य लोगों की कोई वस्तु लेकर भी अपनी मधुर वाणी द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् को वश में कर लेता है । अतः किसी को दण्ड देने की इच्छा से राजा को भी उससे सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोलना चाहिए । ऐसा करके वह अपना प्रयोजन तो सि करता है । और उससे कोई भी मनुष्य उद्विग्न नहीं होता । यदि अच्छी तरह से सान्त्वनापूर्ण मधुर एवं स्नेह-युक्त वचन बोला जाय और सदा सब प्रकार से उसीका सेवन किया जाए तो उसके समान वशीकरण-साधन इस जगत् में निःसन्देह दूसरा कोई नहीं है । अपने पुरोहित बृहस्पति के ऐसा कहने पर इन्द्र ने सबकुछ उसी तरह किया । यह कथा अथवा प्रसंग भीष्म ने पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिर को उस आशय से सुनाया कि तुम भी एक राजा हो अतः मैं जो बृहस्पति की तरह तुझ इन्द्र जैसे राजा को बता रहा हूँ उसे करो और प्रजा का स्नेहपात्र बनो । इस प्रसंग का यही तात्पर्य है ।

o

---

1. एतदेक-पदं शक्र! सर्वलोकसुखावहम् ।
   आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ।।

2. यो हि नाभाषते किंचित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः ।
   द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन् ।।

विषयोपसंहार

कर्मकाण्ड , परलोक , इहलोक , राजधर्म तथा लोकधर्म के सन्दर्भ में देवराज इन्द्र के योगदान की यह समीक्षा मुख्यतः महाभारत-संहिता के आधार पर प्रस्तुत की गई है जोकि पंचम वेद माना जाता है । यह समीक्षा यह सिद्ध करती है कि इन्द्र केवल असुर-संहारक महापराक्रम-सम्पन्न वीरपुरूष ही नहीं है , वह अपनी काम-तृप्ति के लिये निरन्तर रूप-रसमाधुरी में आसक्त एक रागी पुरूष ही नहीं है - बल्कि इन सबसे हट कर भी उसका एक साधक-व्यक्तित्व है ।

इन्द्र के प्रथम वैयाकरण होने तथा ऐन्द्र व्याकरण-सम्प्रदाय की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है । प्रस्तुत अध्याय में संकलित सामग्री से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दैनन्दिन सामाजिक कर्मानुष्ठानों , पुरश्चरणों तथा तंत्र-मंत्र-प्रक्रियाओं में भी इन्द्र का पूर्ण समावेश है । इन्द्र-मंत्रों के प्रयोग से नानाप्रकार के अनिष्ट-निवारणों तथा अभीष्ट-सिद्धियों की संभावना है ।

पारलौकिक तथा ऐहलौकिक श्रेय के प्रमुख स्त्रोतों का भी उपदेष्टा , नैष्ठिक पालनकर्ता अथवा निदर्शन देवराज इन्द्र ही सिद्ध होता है । अन्य किसी भी देवता के व्यक्तित्व में यह विशेषता परिलक्षित नहीं होती है । ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का राजधर्म या लोकधर्म से क्या सामंजस्य होगा ? क्योंकि वे सब तो उपास्य-मात्र हैं ।

परन्तु इन्द्र का व्यक्तित्व विलक्षण है । वह देवताओं के साथ ऐश्वर्य का स्वामी-देवराज है , राजाओं में राजेन्द्र है तथा मनुष्यों के बीच मानव भी है । वस्तुतः वह मर्त्य-अमर्त्य लोकों की संस्कृतियों के बीच सुदृढ़-सेतु के समान है । यही कारण है कि उसके चरित्र में देवता , भूपति तथा सामान्य जन-समुदाय के सारे वैशिष्ट्य समाहित हैं ।

संस्कृत का पौराणिक-वाङ्मय विशाल है । इन्द्रोपाख्यानों की संख्या भी कम नहीं है । यह कहना उचित नहीं कि शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत समीक्षा ही अन्तिम सीमा है इन्द्रचरित के विश्लेषण की । उसके चरित के अन्यान्य वैशिष्ट्य भी संभव हैं । परन्तु इस सीमित-प्रयास में इन्द्रचरित का दिङ्मात्र व्याख्यान ही प्रस्तुत किया गया है । शोधकर्ता की दृष्टि मात्र उन्हीं सन्दर्भों पर केन्द्रित रही है जो यथाकथंचित् इन्द्रमूलक रहे हैं । इस सन्दर्भ में अभी बहुत कुछ लिखे जाने की संभावना शेष है ।

-0-0-0-

ग्रन्थसूची

(क) संस्कृतग्रंथ

1. ऋग्वेदः (चार खण्ड) स्वाध्यायमण्डल, पारडी बलसाड (गुजरात) तथा अन्य वेद) 6 खण्ड) भाष्यकार पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ।
2. वाल्मीकिरामायणम्, गीताप्रेस गोरखपुर-संस्करण । संवत् 2024 वि०
3. महाभारतम् (चार खण्ड) वही ।
4. अध्यात्मरामायणम्, गीताप्रेस गोरखपुर, 12वाँ संस्करण संवत् 2016 वि०
5. आनन्दरामायणम्, पण्डित पुस्तकालय वाराणसी सन् 1977 ई०।
6. श्रीमद्भागवतम् (2 खण्ड) गीताप्रेस गोरखपुर । संवत् 2022 वि०
7. विष्णुपुराणम् (हिन्दी अनुवादसहित) वही । संवत् 2018 वि०
8. निरुक्तशास्त्रम् (यास्कप्रणीतम्) आचार्य दुर्गकृत टीका । कलकत्ता 1952 ई०
9. बृहद्देवता (शौनकप्रणीता) वाराणसी 1963 ई०
10. रघुवंशमहाकाव्यम् (कालिदासप्रणीतम्) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वारा० 1979 ई०
11. किरातार्जुनीयम् (भारविप्रणीतम्) चौखम्बा-संस्करण, वाराणसी ।
12. ऋक्सूक्तसंग्रहः (डॉ० हरिदत्तशास्त्री) साहित्यभण्डार, मेरठ 1980 ई०
13. न्यू वैदिक सेलेक्शन्स (डॉ० बी० बी० चौबे) भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी 1972 ई०
14. शतपथब्राह्मणम् (भाग 1 तथा 2) वाराणसी । संवत् 1987 वि०
15. दशोपनिषदः, गीताप्रेस गोरखपुर (हिन्दी-रूपान्तर सहित)
16. हरिवंशपुराणम्, वही
17. अमरकोषः (माहेश्वरी-टीका) निर्णयसागर संस्करण 1969 ई०
18. हलायुधकोषः हिन्दीसमिति, लखनऊ संस्करण, 1967 ई०
19. निर्णयसिन्धुः कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी-संस्करण ।
20. मेदिनीकोषः चौखम्बा-संस्करण, वाराणसी 1968 ई०
21. व्याकरणमहाभाष्यम् (पतञ्जलिप्रणीतम्) मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली । संवत् 2025 वि०

5. वैदिक देवता : उद्भव और विकास - डॉ0 गयाचरण त्रिपाठी
भारतीय विद्या-प्रकाशन, दिल्ली । प्रथम संस्करण 1982 ई0 ।

6. भारतीय मिथक कोष : डॉ0 उषापुरी विद्यावाचस्पति । नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली । प्रथम संस्करण, 86 ई0

7. चरित-कोष : श्रीनारायण चतुर्वेदी । नेशनल प्रेस, दिल्ली ।

8. पुराण-सन्दर्भ कोष : पद्मिनी मेनन । ग्रंथम , रामबाग कानपूर 1969 ई0

9. वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य बलदेव उपाध्याय । चौखम्बा
प्रकाशन वाराणसी, 67 ई0

10. वैदिक माईथालोजी (डॉ0 रामकुमार रॉय कृत हिन्दी-रूपान्तर)
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1961 ई0

11. भारतीय-अनुशीलन - डॉ0 मणिलाल पटेल । हिन्दी सा0 सम्मेलन, प्रयाग ।

12. पौराणिक-कोश : राणाप्रसाद शर्मा । ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।

13. वैदिक-कोश : डॉ0 सूर्यकान्त । लक्ष्मीदास काशी हि0 वि0 वि0 प्रेस,
वाराणसी ।

14. प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश : डॉ0 हरदेव बाहरी । विद्यामन्दिर प्रकाशन ।
दरियागंज , दिल्ली ।

15. दयानन्द वैदिक-कोश : राजबीर शास्त्री । आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।

16. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कृष्णकुमार शास्त्रीकृत । भारतीभवन पटना-
संस्करण ।

17. वैदिक-इण्डेक्स (डॉ0 रॉयकृत हिन्दीरूपान्तर) वाराणसी 1962 ई0

18. तीर्थाटनप्रदीपिका , अब्दुर्रशीद-प्रणीत । अवध-~~रुहेलखण्ड~~ रेलवे मंत्रालय
लखनऊ से प्रकाशित । सन् 1909 ई0

(ग) अंग्रेजी ग्रंथ

1. The Vedic Gods as a Figures of Biology - V. G Rele - ?

2. The Telizon of Regveda - Oxford - ?